# प्रवचन-पीयूष-कलश

(बधन-मुक्ति/शाश्वत सुख-विषयक ३८ प्रवचनो का सकलन)

प्रथम कलश


●

प्रवचनकार

उपाध्याय, पडित-रत्न श्री लालचन्द जी महाराज 'श्रमण-लाल'

●

सकलनकार

मुनि श्री नूतनचद्र जी महाराज 'नवरत्न'

●

सम्पादक

डॉ० पुरुषोत्तमचद्र जैन

एम० ए०, एम० ओ० एल०, पी-एच० डी०



●

प्रकाशक

जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास

● जयध्वज प्रकाशन समिति ग्रंथमाला : पुष्प-१०

| | |
|---|---|
| ० ग्रन्थ | प्रवचन-पीयूष-कलश |
| ० विषय | बन्धन-मुक्ति/शाश्वत सुख |
| ० प्रवचनकार | उपाध्याय, पंडित-रत्न श्री लालचन्द जी महाराज |
| ० संकलनकार | मुनि श्री नूतनचंद्र जी महाराज |
| ० संपादक | डॉ० पुरुषोत्तमचन्द्र जैन |
| ० संस्करण | प्रथम (वि० सं०, २०३७, सन् १९८०)<br>वीर संवत् २५०६ |
| ० प्रतियाँ | ११०० |
| ० प्रकाशक | जयध्वज प्रकाशन समिति,<br>१५१, ट्रिप्लीकेन हाइ रोड,<br>मद्रास-६००००५ |
| ० मूल्य | २१ ०० |
| ० मुद्रक | शान्ति मुद्रणालय, दिल्ली-११००३२ |
| ० प्राप्ति-स्थल | (१) पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भंडार<br>पीपाड शहर (जोधपुर-राजस्थान)<br>(२) अम्बालाल नाबरिया<br>जवाजा (अजमेर-राजस्थान) |

## समप्पण—समर्पण

पढमे दसणे दोण्णि,
समप्पेइ परुप्पर ।
गुरु-सीसो महाभागो,
लोगे लोगुत्तरा ग्रहो ! ॥

गुरु ग्रौर शिष्य—दोनो महाभाग प्रथम दर्शन मे ही एक दूसरे के लिए समर्पित हो जाते हैं । कितनी अद्भुतता है कि लोक मे रहते हुए भी ये दोनो लोकोत्तर है ।

दाणाऽऽदाणेसु नाणस्स,
गुरुसीसाऽहिगारिणो ।
गिराएऽहिवई पुव्वो,
बीग्रो ग्रन्नाणहिसग्रो ॥

ज्ञान को प्रदान व ग्रहण करने मे क्रमश गुरु ग्रौर शिष्य ही ग्रधिकारी है । कारण यह है कि गुरु वाणी के ग्रधिपति होते है एव शिष्य ग्रज्ञान का हिसक / नाशक होता है ।

गुरुणा पप्पए नाण,
सीसेणारक्खए पुणो ।
सुव्वए मण्णए ज च,
लोए मज्भत्थभावग्रो ॥

गुरु से ज्ञान प्राप्त किया जाता है एव शिष्य उस ज्ञान को सुरक्षित करता है । लोक मे ज्ञान वही है जिसका मध्यस्थ-भाव से श्रवण एव मनन किया जाए ।

सहेउमरिहतो जो,
सिद्धो सेवाइ साधणे ।
धम्मे आयरिओ मज्झ,
उवज्झाओ वि सो मम ।।
धन्नो तिवग्गससाहू,
गुरु एगो वि पचहा ।
वदणिज्जो नमेयव्वो
न मेयव्वो वि केण वि ।। (जुम्म)

उपसर्गों को सहन करने मे जो अरिहत थे, सेवा की साधना मे जो सिद्ध थे, धर्म-पथ पर चलने-चलाने में जो मेरे आचार्य थे एव सिद्धान्तो का अध्ययन कराने मे जो उपाध्याय थे, त्रिवर्ग की सम्यक् साधना करने वाले ऐसे मेरे गुरु वास्तव में धन्य थे जो एक होकर भी पाँचो प्रकार के थे । वे वदनीय एव नमनीय है । किसी भी वस्तु से उनको मापा नही जा सकता ।

सो बरतावरमल्लक्खो,
सव्वो सव्वगुणोदही ।
किं समप्पेमि ह तस्स,
ह जेणाकिंचणीकओ ।।

'बरतावरमल्ल' नाम के वे मेरे गुरु सर्वज्ञो के प्रतिनिधि एव सर्वगुणो के समुद्र थे । मैं उनके लिए क्या समर्पण करूँ, जिन्होने कि मुझे प्रथमत ही अकिंचन बना दिया है ।

पूरिओ ऽ नप्पसोहाहि,
सज्जिओ सम्मईहि य ।
पुणोऽह हत्थकजेसु,
गथरूवे समप्पिओ ।।

हाँ ! उन्ही के द्वारा अनेक शोभाओ से परिपूरित एव सन्मति (महावीर) के सिद्धातो से सुसज्जित मै स्वय पुन उनके हस्तकमलो मे इस ग्रथ के रूप मे समर्पित हूँ ।

# भूमिका

महामहनीय महर्षियो के, सम्यग्दष्टि साधु-सन्तो के, ज्ञान-विज्ञान की गरिमा के धनी महान् चिन्तको के, गुरु-चरण कमल-चचरीक चारित्र-चूडामणियो के, मनीषा के महान् महारथियो के, धर्म के धुरन्धर धनियो के, आध्यात्मिक-ज्ञान के समर्थको के, ससार की नि सारता के कदथको के, कर्मो की करुणापूर्ण कहानी के कोविदो के, युग के प्रवर्तको के, योग के समर्थको के, साधनापथ के उपाध्यायो के, सदाचार-सहिता के आचार्यो के अतीत मे असख्य प्रवचन, व्याख्यान और भाषण भरी सभाओ मे मुखरित हुए, होते आ रहे हैं और हो रहे है। जिनको शिष्यो ने, प्रशिष्यो ने, समर्थको ने और जिज्ञासुओ ने लेखबद्ध कर लिया वे अवशिष्ट रह गए, बच गए काल की कराल-कालिमा से, भावी पीढियो की तमसावृत-पगडडी पर प्रकाश की रश्मियो की ज्योति जगाने के लिए और जो मानव-सस्कृति के दुर्भाग्य से लिपिवद्ध नही किये जा सके वे विश्व की तमसाकुल तामसी के तमस के परमाणुओ मे समा गये, एकाकार हो गये और तिरोहित हो गये किसी अज्ञात दिशा के वातावरण की तरगो मे। जो खो गये, वे आज अज्ञात है। जिस सस्कृति के मानवो को उन अमृत के कणो के पान का सौभाग्य प्राप्त हुआ वे पुण्यवान् थे, जो वचित रह गए सो रह गए, अतीत की पीढी के भी और वर्तमान के भी।

ज्ञान जीवन का सारभूत उपादेय तत्त्व है। वह प्रचार की, विस्तार की और प्रसार की अपेक्षा रखता है। किसी भी मानव-सस्कृति का प्रवुद्ध मानव एव जागरूक जिज्ञासु अपने युग की चिन्तनधारा को और उस चिन्तनधारा से प्रभावित जनमानस की प्रवृत्ति को उपेक्षा की दृष्टि से नही देख सकता। उपेक्षा की भावना न उसके लिए हितकर होती है और न ही उसके भावी जगत् के लिए। अपने युग की मानवीय एव आध्यात्मिक प्रवृत्तियो को स्थायित्व प्रदान करना ही जागृत चेतना का लक्षण है। पूणरूपेण सुसभ्य, सुसस्कृत एव सुप्रतिष्ठित व्यक्ति तो वही होता है जो अपने पूर्वावतारो, महामानवो, पूर्वाचार्यो, सर्वज्ञो एव युगप्रवर्तको के चरणचिह्नो पर चलता है। उन चरण-

चिह्नो की निर्देश-प्रक्रिया उनकी पावन वाणी मे निहित होती है । उत्तराधिकारियो द्वारा उनकी वाणी को ग्रन्थो के रूप में सुरक्षित रखना अपेक्षित होता है । कही भी कभी भी किसी विद्वान् सन्त-महात्मा की, महर्षि की या तत्त्ववेत्ता की वाणी से प्रसूत मूल्यवान् ज्ञान-निधि कही अमुक युग की अमुक सभा के श्रोताओ तक ही सीमित न रह जाये, उसका लाभ भावी पीढियो को भी निरन्तर उपलब्ध होता रहे इस बात का ध्यान युग की जागृत पीढी के जागरूक विद्वानो को होना चाहिए । उक्त प्रेरणा के परिणामस्वरूप, हम 'प्रवचन-पीयूष कलश' शीर्षक ग्रन्थ को परिष्कृत-मस्तिष्क-पटल के पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहे है ।

इस ग्रन्थरूपी कलश को अपने प्रवचन रूपी पीयूष से पूरित करने वाले हैं—वर्तमान युग की आध्यात्मिक एव धार्मिक चेतना के प्रबुद्ध सन्तरत्न, उपाध्याय प्रवर, मुनि श्री लालचन्द जी महाराज । आपका जैन-जैनेतर आगमो पर, धर्म-शास्त्रो पर एव दर्शनो पर असाधारण अधिकार है । व्याख्यान कला मे तो आप बहुत ही लब्धप्रतिष्ठ है । आपका बौद्धिक-ज्ञान तर्क की कसौटी पर सदा खरा उतरा करता है और आपके प्रवचन आपके शास्त्रीय ज्ञान की गहनता की गरिमा के प्रतीक होते है । श्रीमज्जैनाचार्य, पूज्य श्री जयमल जी महाराज के नवम पट्टधर, आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज सा० की निश्रा के आप मनीषी सन्त है । ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध दोनो शब्द आप पर चरितार्थ होते है । अब तक आपने अनेक बडे-बडे नगरो (बम्बई, बेंगलौर, अमरावती नागपुर, मद्रास, जयपुर, जोधपुर आदि) मे अनेक प्रवचन दिये किन्तु श्रावको या जिज्ञासुओ की असावधानी से वे लिपिबद्ध नही हो पाये । तात्कालिक लाभ, स्थायित्व का रूप धारण नही कर पाया । इस उपेक्षा की ओर मेरा और उन्ही के प्रतिभा-सम्पन्न सन्त श्री नूतनमुनि जी महाराज का ध्यान आकर्षित हुआ । आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज की प्रेरणा के जल से सिंचित होकर, हमारी भावना का अकुर इस ग्रन्थ के रूप मे पल्लवित, पुष्पित एव फलित हुआ है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे जिन प्रवचनो का सग्रह है, वह मुनि श्री जी के ग्राम 'डेह' (जि० नागौर) मे किये गये सन् १९७९ के चातुर्मासिक अवस्थान का है । इन प्रवचनो का अकन कर्मठ अध्यवसायी मुनि श्री नूतन जी महाराज ने बडी ही लगन एव एकाग्रता से करके मुझे सौप दिया था । सम्पादन मे यत्र तत्र कही भी कोई भूल हो गयी हो तो उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है । विद्वान् पाठक यदि किसी त्रुटि की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे तो मैं उनका बडा कृतज्ञ रहूँगा ।

इस ग्रन्थ मे अडतीस प्रवचनो का सकलन है । सभी प्रवचनो के सारभूत तत्त्वो पर तो यहा विस्तार-भय से प्रकाश डालना सम्भव नही है किन्तु इतना

अवश्य निर्देश किया जा सकता है कि सबका सम्बन्ध शाश्वत-सुख या बन्धन-मुक्ति से है। प्राय प्रत्येक प्रवचन का आरम्भ शाश्वत सुख से होता है और समग्र प्रवचन का अन्त कर्मबन्धन की मुक्ति से होता है। शाश्वत सुख या बन्धन मुक्ति – ये दोनों आगम शास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विषय है। उपाध्याय-प्रवर, मुनि श्री लालचन्द जी महाराज को आगमशास्त्र एव दर्शनशास्त्र— दोनो का गभीर अध्ययन और चिन्तन-मनन होने के कारण, विवेचनीय विषय का कोई भी पहलू उपेक्षित नहीं रहने पाया है। बहुत-से प्रवचनों मे तो वे चिन्तन के क्षेत्र मे इतने गहरे उतर गये है जहाँ सामान्य श्रावकों की बुद्धि नहीं पहुंच सकती। उनके प्रवचनों की यह विशेषता है कि जब ऐसे कठिन शास्त्रीय प्रकरण आ जाते हैं तो वे तुरन्त समझ जाते है कि उपस्थित श्रोता उन्हे समझ नही पा रहे है। ऐसी स्थिति मे वे प्रकरण को और सरल बनाकर श्रोताओ के लिए बुद्धिगम्य बना देते है। शास्त्रज्ञान सभी के लिए तो रुचिकर नहीं होता, कभी-कभी श्रावकों की बुद्धि की अपेक्षा से नीरस प्रकरण भी आ जाते है। उनको रोचक बनाने के लिए वे किसी ऐसी सरल एव कौतूहलपूर्ण कहानी को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करते है जिससे नीरस लगने वाला विषय भी सरस बन जाता है। आपके प्रवचनों की शैली अत्यन्त सरल, सजीव, रोचक एव प्रसाद गुण-युक्त है। प्रवचनो के सग्रह तो पाठको ने अनेक पढे होगे किंतु उपाध्याय मुनि श्री लालचन्द जी महाराज की शैली अपनी विशिष्ट मौलिकता लिये हुए है। आपके अधिकतर प्रवचन, आलोचना-शास्त्र के अनुसार व्यास शैली के है।

इस पीयूष-कलश को पावन वेदी पर प्रतिष्ठित करने में अनेक सज्जनात्माओ का उत्साह एव उत्कठापूर्ण योगदान रहा है। आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज सा० की परम पावन प्रेरणा, सौजन्यमूर्ति श्री शुभचन्द्र मुनि जी महाराज की एतदर्थ शुभकामना, पारसमणिसम मगलकारी मुनि श्री पार्श्वचन्द्र जी महाराज का कलश-प्रतिष्ठान मे अपूर्व योगदान, प्रतिभाशाली मुनि नूतनचन्द्र जी महाराज की कलश के कलामय कलन मे कमनीय कर्मठता, परम अध्यवसायी कर्म-मर्मज्ञ मुनि श्री गुणवन्त जी महाराज द्वारा कलश की गुण-ग्राहकता और स्वाध्याय-निरत मुनि श्री भद्रिक जी महाराज की भद्रिकता सभी का अभूतपूर्व योगदान ही कलश की प्रतिष्ठा की सम्पन्नता मे हमे समर्थ बना सका है। आप सबके योगदान के लिए, गुण-गान के लिए और सम्मान-पहचान के लिए जिन विशेषणो की आवश्यकता है, उन्हे मै खोज नही पा रहा हूँ अपने सचित शब्द कोष मे।

३०-४-१९८०<br>
ब्यावर (राजस्थान)

नम्र निवेदक<br>
**पुरुषोत्तमचन्द्र जैन**

# विषयानुक्रमणिका

"सम्यक्त्वमूलो विनयप्रधानो,
नयैर्विशोध्यो विबुधा हि लोके ।
धर्मो निरुक्त सुखदो हि येन,
स शासनेशो जयतात्सदैव ।।"

—शासनेश वर्धमान की सदा जय-विजय हो, जिन्होने सर्व-सुखप्रद धर्म का निरूपण किया। उस धर्म का मूल 'सम्यक्त्व' है, 'विनय' उसका प्रधान तत्त्व है एव निश्चित ही वह विविध नयो से अन्वेषक विज्ञजनो की विशेष शोध का विषय है। 'श्रमण-लाल'

# प्रकाशकीय

प्रवचन-साहित्य की दृष्टि से सर्वप्रथम किंतु अन्यान्य प्रकाशनो की शृखला मे समिति का यह दशम पुष्प आपके हाथो मे है 'प्रवचन-पीयूष-कलश' —**प्रथम कलश**। इसमे महामहिम आचार्य-प्रवर पूज्य श्री जीतमलजी महाराज की निश्रा के प्रमुखतम सत, आगमव्याख्याता, पडित-रत्न, उपाध्याय-प्रवर श्रीलालचन्दजी महाराज के डेह-चातुर्मास मे प्रोक्त ३८ प्रवचनो का सकलन है।

इधर बहुत वर्षो से श्रद्धालु भक्तजनो एव जिज्ञासु श्रावको की यह माग अवश्य थी कि पूज्य उपाध्याय-प्रवर के प्रवचनो का सुदर सकलन सपादन शीघ्र प्रकाशित हो, किंतु इसके कार्यान्वियन की ओर किसी का ध्यान नही गया। सभवत सर्वप्रथम प्रस्तुत कलश के सपादक श्री डॉक्टर पुरुषोत्तमचन्द्र जैन ने ही सघ का ध्यान इस ओर खीचा एव स्वय ने भी योजनाबद्ध रीति से प्रवचनो के इस पीयूष-कलश का कलन सुचारु सपन्न किया। समिति डॉक्टर जैन को अनेको धन्यवाद प्रदान करती हैं एव उनके प्रति आभार प्रकट करती है।

पूज्य उपाध्याय-प्रवर की ओजस्वी वाणी, उनका गहन शास्त्रीय अध्ययन-अनुशीलन, भाषा-व्याकरण का प्रखर पाडित्य, चमत्कारिक स्मरणशक्ति, आशु-कवित्व एव अद्भुत वर्णन शैली आदि अनेक गुणो से ओतप्रोत उनके एक-एक प्रवचन मे वह क्षमता है कि आस्वादमात्र से मोहनिद्रा मे सुषुप्त प्राणियो के प्राणो मे पीयूष-प्रवाह-सा उमडने लगता है एव नूतन जीवन का सचार हो जाता है। इस दृष्टि से ग्रथ का नाम 'प्रवचन-पीयूष-कलश' भी सार्थक है एव प्रवचनकार का 'उपाध्याय' पद भी सार्थक है।

विद्वज्जनो का आशीर्वाद एव श्रद्धालु पाठको का सहयोग बना रहा तो समिति यह कह सकती है कि निकट भविष्य मे ही द्वितीय कलश भी पाठक वृद के समक्ष होगा।

प्रस्तुत कलश मे आकलित सभी प्रवचनो मे प्राय बधन-मुक्ति एव शाश्वत सुख' विषयक विवेचन है। कषाय, बध या बधन, का कारण है एव बधन,

भवभ्रमण का कारण है । भवभ्रमण से छुटकारा पाना ही मुक्ति है जिसका परिणाम शाश्वत सुखो की उपलब्धि है । भगवान् महावीर के दिव्य सदेश मुखरित करते हुए पूज्य उपाध्याय श्री ने जन-जन का आह्वान किया है कि वे मोहजनित सासारिक बधनो की शृखलाओ को तोड डालें एव मुक्ति पथ पर अपने चरण बढायें, जिससे कि जीवन सदा के लिए सुखमय बन सके ।

जिज्ञासु पाठक यदि ग्रथ को पढकर जिन वाणी के सारभूत ज्ञान से यत्किचित् भी सुपरिचित होगे तथा उस ज्ञान को जीवन या आचार मे ढाल कर अपने जीवन को सुविकसित बनायेगे तो निश्चित ही समिति का यह प्रकाशन अपने आप मे एक बहुत बडी सफलता सिद्ध होगा ।

१५१, ट्रिप्लीकेन हाइ रोड,<br>
मद्रास-६००००५<br>
दिनाक १७ नवबर, १६८०

निवेदक<br>
सुगालचद सिघी<br>
मत्री

१

# बन्धन-मुक्ति : शाश्वत-सुख

मुक्ति शाश्वत सुखो की निधि है। जीव की दो प्रकार की अवस्थाएँ होती हे १ बद्धावस्था और २ अबद्धावस्था। दोनो अवस्थाओ से सपृक्त प्राणी पृथक् पथक् नामो से जाने जाते है। एक को 'ससारी' एव दूसरे को 'मुक्त' कहा जाता हे। कर्म बन्धन से बद्ध ससारी कहलाता है और कर्मो की निजरा करने वाला मुक्त कहलाता है। 'ससारी' शब्द की निरुक्ति के अनुसार ससार मे समरण-भ्रमण करने वाला इधर से उधर, उधर से इधर, नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे, जिधर भी आकर्षण हो, उधर चला जाने वाला ससारी होता हे। कर्मबद्ध जीवो का आकर्षण के अनुसार इधर-उधर जाना तो स्वाभाविक ही होता हे किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि बन्धन मे बधे होने पर भी जीव बन्धन के ज्ञान से हीन होते हे। ज्ञानाभाव के कारण ही वे बन्धन से छूटने का किंचित् प्रयास भी नहीं कर सकते। वे बन्धन के इतने आदी हो जाते हे कि बन्धन बुरा लगने के स्थान पर उन्हे अच्छा लगने लगता है। यही कारण है कि बन्धन से छुटकारा पाने के स्थान पर वे बन्धन को और अधिक दृढ बनाने म प्रयत्नशील रहते है। वास्तव मे, वे ब धन को बन्धन नही, अव-लम्बन समझने लगते है। मानव के अतिरिक्त, बन्धन की आसक्ति का उदा-हरण पशु-जगत् मे भी देखा जा सकता है। लोग पशुओ को पालते हे, उन्हे खिलाते है, पिलाते हे और खूटे से बाँधकर रखते है। उन्हे चरने के लिए चरागाह मे भेज देते हे। साय चरने के पश्चात् तृप्त होकर पशु पुन अपने खूँटे के पास आकर खडे हो जाते ह, बन्धन के लिए। स्वामी द्वारा तिरस्कृत होकर भी पशु भागते नही, कारण कि वे बन्धन को सुख का कारण मानने लगते ह। उन्हे हिताहित का विवेक नही होता। मानव होकर भी क्या हमने कभी इस विषय का चिन्तन किया है ?

ठीक पशुओ के समान, मानव को भी बन्धन प्रिय लगता है। शास्त्र-कारो ने बन्धन के दो भेद किये ह—१ राग और २ द्वेष। आवश्यक सूत्र मे

"पडिक्कमामि दोहिं बधणेहि"

—ऐसा विधान है। राग का अर्थ 'प्रेम' है। 'मोह' राग से भिन्न है। उसमे अठाईस बातो का समावेश है। हँसना, रोना, क्रोध करना आदि सभी उसके अन्तर्गत आ जाते हे। दूसरे शब्दो मे मोह अठाईस प्रकार से जीव को रमाता हे और बहलाता है। जब हम एक काम से उकता जाते है, तो वह दूसरे काम में उलझा देता हे। राग और द्वेप भी इसी मोह में समाविष्ट हे। राग मे अनुराग भी रहता है जो कि प्रेम का प्रतीक है। मराठी भापा मे तो क्रोध को भी राग कहा है। राग का रग लाल माना गया है। पुत्र को भी लाल कहते है। प्यार और स्नेह का रग भी लाल बताया गया है। उक्त सत्य की पुष्टि मे साहित्य-दर्पणकार पडित विश्वनाथ कहते ह

"रक्तौ च क्रोधरागौ"

—कि क्रोध और राग दोनो लाल वर्ण वाले होते ह। राग मे क्रोध और प्रेम दोनो का अस्तित्व है। द्वेप क्रोध का सहचर है। जिस वस्तु से हमे प्यार होता है, उसे हम एकत्रित करते हे और छिपाकर रखते हे। राग से माया और लोभ दोनो का जन्म होता है। द्वेप से भी क्रोध और मान नाम के कपाय उत्पन्न होते हे। राग और द्वेष—इनको एक सिक्के के दो पहलू ही कहना चाहिए। जहाँ राग है वहाँ द्वेप अवश्य रहता है। राग का अभाव हो तो द्वेप का भी अस्तित्व नही होता। राग की उत्पत्ति पहले होती है। किसी भी वस्तु के सग्रह के पीछे राग छिपा रहता है। सगृहीत वस्तु को कोई क्षति पहुँचाता है तो उसके प्रति हमारे मन मे द्वेप उत्पन्न हो जाता है। आपका कोई लडका यदि किसी कुसगति में पड जाये तो आपको दु ख इसलिए होता है कि आपको पहले उससे राग है। यदि आपके समझाने-बुझाने पर भी वह कुसगति से विरत नही होना तो आप उस पर क्रुद्ध होते है। इससे स्पष्ट है कि राग ही द्वेष का जनक है।

शास्त्रकारो के कथनानुसार, हम राग के बन्धन को बन्धन न मानकर सहायक मानते हे। जिसके प्रति हमारा लगाव या स्नेह कुछ कम होता दिखाई पडने लगे, उसे हम येन-केन-प्रकारेण दृढ और स्थायी बनाने का प्रयत्न किया करते है। एक प्राचीन जैनाचार्य के अनुसार "हम जितनी ही सख्या प्रेमियो की बढाते है, उतनी ही सख्या की कीलें मानो अपनी छाती मे गाडते ह।" जितना डर हमें मित्र से होता हे, उतना शत्रु से नही। शत्रु से तो हम सदा सावधान रहते हे किन्तु मित्र पर तो पूरा भरोसा रहता है, इसलिए उसके सामने सावधान के स्थान पर हम स्वच्छन्द हो जाते हे। इसी कारण नीतिकारो ने कहा है कि मित्र शत्रु से भी अधिक हानिकारक होता है। मित्र हमारी दुर्बलताओ से भलीभाँति परिचित होता है और अच्छी तरह जानता हे कि हम पर

किस प्रकार प्रहार किया जा सकता है। लोग विश्वास के स्थान से ही अधिक धोखा खाया करते है।

मित्र बनाते समय कम से कम इस बात का ध्यान तो अवश्य रखना चाहिए कि वह मूर्ख न हो। मूर्ख मित्र से तो विद्वान् शत्रु भला होता है। हितोपदेश मे इसी सत्य को अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है

"पण्डितोऽपि वर शत्रुर्न मूर्खो हितकारक।"

इसी प्रसग मे एक उदाहरण प्रस्तुत करते है

एक बार एक चोर राजमहल मे चोरी करने के लिए गया। वह चोर अवश्य था किन्तु था विद्वान्। निर्धनता से लाचार होकर वह चोरी करने गया था। राजमहल मे प्रवेश करते ही उसने एक विचित्र दृश्य देखा। राजा पलग पर सो रहा था और उसकी रक्षा के लिए एक बन्दर तैनात था। बन्दर तलवार लिए था। जहाँ राजा सोया हुआ था, उसके ऊपर की छत के छिद्र से एक सर्प नीचे की ओर लटक रहा था। साँप की छाया प्रकाश मे राजा पर पड रही थी। बन्दर ने राजा के ऊपर प्रतिबिम्बित सर्प की छाया को देखकर सोचा कि सर्प राजा को डसना चाहता है। वह तलवार से छाया-सर्प को मारने के लिए उद्यत हो गया। बन्दर ने सोचा था कि राजा को डसने से पूर्व ही सर्प को मारना उचित होगा। छाया-सर्प को मारने के लिए उसने तलवार उठाई। राजमहल मे चोरी करने के लिए प्रविष्ट हुआ विद्वान् चोर यह सारा दृश्य देख रहा था। उसने सोचा, "छाया-सर्प पर बन्दर द्वारा चलाई गई तलवार से सर्प तो मरने वाला नही किन्तु राजा अवश्य मर जायेगा। मेरा इस समय कर्तव्य है कि मैं राजा के इस मूर्ख मित्र से राजा की रक्षा करू।" चोर ने झपटकर बन्दर का तलवार वाला हाथ पकड लिया। बन्दर चिल्लाया तो राजा की नीद खुल गई। उसने बन्दर और चोर मे रस्साकशी को देखा। राजा को कारण समझने मे देर न लगी। राजा ने चोर से पूछा, "तुम कौन हो?" "चोर हू, हुजूर! चोरी करने के लिए राजमहल मे आया था। भूखा था, भूखा प्राणी क्या-क्या पाप करने के लिए उतारू नही हो जाता, 'बुभुक्षित किं न करोति पापम्।' सोचा था कि सामान्य जन के घर मे क्या चोरी करना। राजा के महल मे किसी भी वस्तु की कमी नही है, वही चोरी करना ठीक रहेगा। यहाँ आकर तो बडा ही विचित्र दृश्य देखा। कर्तव्य-पालन ने चोरी की भावना पर विजय प्राप्त की। मैं चोर होकर भी भला अपने राजा के प्राणो को सकट मे कैसे देख सकता था? यह मूर्ख बन्दर आप पर तलवार का वार करना चाहता था। मैंने इसका हाथ पकडकर इसे रोक दिया, इसलिए यह चिल्ला रहा है।"

चोर ने नम्र शब्दो मे राजा को उत्तर दिया ।

उपर्युक्त कहानी से यह सिद्ध होता है कि मूर्ख मित्र से विद्वान् शत्रु अच्छा ।

किसी विद्वान् का कथन है कि रागी अवगुण नही लखा करता । उसे मित्र के दोप दृष्टिगोचर नही होते और शत्रु के गुण दिखाई नही देते । कहा भी है

**'रागी अवगुण नहि लखे, यही जगत की चाल ।**
**परतिख काला किसन जी, ज्या ने कहे कन्हैया लाल ।"**

राग और द्वेप का अपनी तीव्रता पर पहुचना ही मिथ्यात्व है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है—राग और द्वेष दोनो बन्धन है । रागी को अवगुण न दिखने से बन्धन है तो द्वेपी को गुण न दिखने से भी बन्धन ही है । इसके अतिरिक्त ये दोनो रागी और द्वेपी, क्रमश अवगुण को गुण और गुण को अवगुण के रूप मे देखने लगते हे । यही राग और द्वेष की तीव्रता है और इसी कारण ये दोनो मिथ्यात्वी माने जाते है । मिथ्यात्व से आवृत मानव-प्रकृति न राग को मिटाना चाहती है और न द्वेप को । बहुत समझाने पर भी व्यक्ति बन्धन को बन्धन न मानकर उसे अपनी प्रतिष्ठा का साधन मानने लगता है ।

राग और द्वेप को जब तक महान् पाप एव दुष्काट्य बन्धन नही समझा जाता, तब तक आत्मकल्याण कदापि सम्भव नही है । राग और द्वेप के बन्धन रस्सी और साँकल के बन्धन जैसे नही है । रस्सी और साँकल के बन्धन तो बाह्य बन्धन हे । इन बन्धनो से हम पूरे नही बँध सकते । फिर ये बन्धन तो हमे इन्द्रियो से भी दिखाई दे जाते है । थोडे-से प्रयत्नो के फलस्वरूप बाह्य बन्धनो से मुक्ति मिल सकती है किन्तु राग और द्वेप के बन्धन ऐसे नही हे । ये तो आन्तरिक बन्धन है । इन्होने आत्मा के एक एक प्रदेश को जकड रखा है, बाँध रखा है । आत्म प्रदेशो से एकाकार होकर, ये हमे इधर-उधर, नीचे-ऊपर भटकाने का काम करते हे । फिर ये बन्धन हमे बन्धन के रूप मे दृष्टिगोचर भी नही हो सकते । इसके लिए तो आत्मा की जागृति एव सावधानी ही आवश्यक है । बिना आत्मजागृति के हमे विभिन्न दुर्गतियो मे भ्रमण करना पडता है एव असह्य दु ख भोगने पडते हे । बाह्य बन्धन केवल अशमात्र को बाँधते है । उनसे हमारे किसी काम मे बाधा नही पडती । उदाहरण के लिए जब एक हाथ बध जाये तो दूसरा हाथ, दोनो हाथ बँध जायें तो पैर, हाथ, पैर बँध जायें तो शरीर के अन्य भाग मुँह, दाँत आदि अपनी-अपनी क्षमताओ से शरीर को बन्धन से मुक्त कर सकते है । यह बाह्य बन्धन इतना हानिकारक नही है । किन्तु राग-द्वेप का बन्धन तो ऐसा बन्धन है जिससे हमारा रोम-रोम बँध जाता है । यहाँ, तक कि राग-द्वेष के विरुद्ध हमारे सोचने की शक्ति भी समाप्त हो जाती है । हमारे मन, वचन और काय सभी उसमें बँध जाते

है। इसलिए हमें चाहिए कि हम अपने अनादिकालीन अयथार्थ दृष्टिकोण को बदलें। बन्धन को सुख का साधन न मानकर बन्ध के रूप में ही जानने का प्रयत्न करें एव फिर उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करें। तभी हम शाश्वत सुखो की ओर अग्रसर हो सकेंगे। शाश्वत सुख या मोक्षप्राप्ति के लिए राग-द्वेष के बन्धनो से मुक्ति परमावश्यक है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ७ जुलाई, १९७९

२

# अप्रशस्त और प्रशस्त राग-द्वेष

शाश्वत सुखो की उपलब्धि के लिए, जीव को बन्धनो से मुक्त होना परमावश्यक है। बन्धन क्या है और बन्धन से मुक्ति किस प्रकार सम्भव है, इस पर हम आज कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे है। बन्धन राग का भी होता है और द्वेष का भी। कहने मे ये बन्धन दो प्रकार के प्रतीत होते हे किन्तु वास्तव मे ये एक ही हे। उदाहरण के लिए दो डोरियाँ प्रथम अलग-अलग बटी जाती है और पश्चात् बटकर दोनो एक रूप धारण कर लेती हे, और दृढता लानी हो तो उस बटी हुई डोरी को दोहरा करके पुन बट दे दिया जाता है। ऊपर से देखने मे तो डोरी एक ही दीखती है परन्तु उसके अन्दर अनेक बन्धनो की परम्परा निहित है। ठीक इसी प्रकार तीव्र-राग और तीव्र-द्वेष ये दो ऊपर से भिन्न प्रतीत होते हे, किन्तु 'मिथ्यात्व' नामक शब्द मे दोनो का समावेश हो जाता है। या यो भी कह सकते है कि मिथ्यात्व दोनो का सम्मिलित एक रूप है। यह मिथ्यात्व का बन्धन अनादिकाल से चला आ रहा है। हमारी आत्मा अनादिकाल से इस मिथ्यात्व के बन्धन मे बँधी हुई है। मिथ्यात्व या तीव्र राग और तीव्र-द्वेष से मुक्त हुए बिना आत्मा का बन्धन से छुटकारा सम्भव नही है। अनादिकाल से जिन वस्तुओ के साथ हमारा आत्मा राग करता आया है, उनसे अब भी निरन्तर राग या आसक्ति का बना रहना तीव्र-राग है। इसी प्रकार तीव्र-द्वेष मे जीव अनादिकाल से जिन वस्तुओ से द्वेष करता आया है, उनसे निरन्तर द्वेष ही बना रखना चाहता है। यदि हम थोडी सी विपरीत स्थिति अपना लेते तो बडा लाभ हो सकता था। उदाहरण के लिए जिन वस्तुओ या बातो के साथ हमने तीव्र-राग किया उनके साथ यदि थोडा-सा द्वेष कर लिया होता, तो हमारे तीव्र-राग के अन्दर थोडा शैथिल्य आ गया होता। जिनके साथ हमने तीव्र-द्वेष किया उनके साथ तनिक राग करने से तीव्र-द्वेष मे शिथिलता आ गई होती। नि सन्देह यह कठिन कार्य है किन्तु अध्यवसायी के लिए क्या असम्भव है? अनादिकाल से हम धन से, परिवार से तथा अन्य अनेक भौतिक पदार्थों से, जो मन को अच्छे लगते है, तीव्र-राग

करते आये है। वह राग कभी मन्द नही पडा किन्तु उत्तरोत्तर बढता ही आया है। जिन बातो से हमने द्वेष किया है जैसे ममत्व का त्याग, अविकृत वस्तु का त्याग, मन को भाने वाली वस्तुओ का त्याग आदि मे हमारी द्वेष भावना रही है या उन पर तीव्र-द्वेष रहा है। यदि वह द्वेष अल्प समय के लिए भी मन्द पड गया होता या शिथिल पड गया होता तो तीव्रता मे निश्चित रूप से शिथिलता आ जाती। दूसरे शब्दो मे मिथ्यात्व पतला पड जाता। किन्तु ऐसा नही हो सका इसका मुख्य कारण यही है कि जिन बातो से हमने राग किया, उनके साथ निरन्तर हमारा राग भाव ही बना रहा और जिनसे द्वेष किया उनके प्रति द्वेष ही चलता रहा।

आत्मा के उत्थान के लिए देव, गुरु और धर्म ये तीन माध्यम है। देव, गुरु और धर्म—ये तीनो मध्यस्थ शब्द है। इन तीनो की भी कोटियाँ है कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, सुगुरु, सुदेव, सुधर्म, सामान्य गुरु, सामान्य देव और सामान्य-धर्म। प्रथम तीन त्याज्य है, अगले तीन आदरणीय एव अतिम तीन केवल जानने योग्य है। चौथा कोई भी विकल्प नही हो सकता क्योकि यह वाणी तीन कालो—भूत, भविष्यत्, वर्तमान—के ज्ञाता सर्वज्ञो की है। इसमे किंचित् भी सन्देह नही किया जा सकता।

देव तीन प्रकार के होते है जानने योग्य, छोडने योग्य और आदरने योग्य। इसी प्रकार गुरु भी तीन प्रकार के होते है जानने योग्य, छोडने योग्य और आदरने योग्य। इसी प्रकार धर्म भी जानने योग्य, छोडने योग्य और आदरने योग्य होता है। मात्र देव, गुरु और धर्म ही नही किन्तु ससार के प्राय सभी पदाथ तीन प्रकार के होते है। निम्नलिखित उदाहरण से यह भाव और स्पष्ट हो जायेगा। एक व्यक्ति बाजार से धान की बोरी खरीद कर लाता है। लाकर अपनी पत्नी को सौप देता है। बोरी को खोलकर उसकी पत्नी सारा धान पृथ्वी पर डाल देती है। बाजार से बोरी के रूप मे केवल एक नग आया था किन्तु अब बोरी और धान, दो नग बन गये। गृह-स्वामिनी अब धान का सोहना-शोधन करती है। **'पहले सोहै फिर पोवै'**। यह एक पुरानी कहावत है। सोहना प्राकृत का शब्द है, सस्कृत मे इसका रूप शोधन बन जाता है जिसका अथ है शुद्ध करना। धान के अन्दर अनेक वस्तुए—मिट्टी, ककर, घास, फूस और कचरा मिले होते है। इन वस्तुओ का खलिहान मे धान के साथ मिल जाना इतना बुरा नही है जितना कि इनको जान-बूझकर धान मे मिलाना है। हमे तो यह सुनने मे आया है कि लालच के वशीभूत होकर व्यापारी लोग अधिक मुनाफा कमाने के लिए उक्त वस्तुओ का धान मे मिश्रण कर देते है। ऐसा करके व्यापारी लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरो की जिन्दगी के साथ खेलते है। क्या यह महापाप और महापराध नही है? केवल धान मे ही नही और

धियो में भी लोग मिश्रण करते हैं जिनके फलस्वरूप अनेक रोगी प्रतिवर्ष मृत्यु का शिकार बनते है। ऐसा महापाप करनेवाले लोग कठोर से कठोर दण्ड के पात्र है। हमने अनेक बार समाचारपत्रो मे पढा है कि अमुक व्यक्ति या व्यापारी मिलावट के अपराध में पकडा गया और उसे कठोर कारावास का दण्ड मिला, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि यह सब कुछ होते हुए भी मिलावट करने वाले व्यापारी अपने अपराध-कर्म को निरन्तर करते चले आ रहे है। इसलिए मिलावट से उत्पन्न होने वाले जहर से त्राण पाने के लिए यह परमावश्यक है कि प्रत्येक पदार्थ का उपयोग उसे शुद्ध करके ही किया जाये।

इसी बात को ध्यान मे रखकर स्त्री, धान से कूडा करकट निकालकर उसे शुद्ध करती है। इतना कूडा-करकट निकला कि एक पात्र पूरा भर गया। अब एक नग से तीन नग बन गये बोरी, धान और कचरा। इन तीनो मे से बोरी जानने योग्य है। सस्कृत मे इसको ज्ञेय कहा जाता है। ज्ञेय शब्द बडा सारगर्भित है। ज्ञेय शब्द का अर्थ जानने योग्य तो है किन्तु क्या जो कुछ हम जानते है सभी जानने योग्य है ? इसका उत्तर निषेधात्मक है। बहुत सी बातें तो हमारे मस्तिष्क में कचरे के समान तुच्छता लिए हुए है, वे ज्ञेय न होकर हेय है, इसलिए उनका त्याग करना होगा। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि "जिस गाँव में जाना नही उसका मार्ग क्यो पूछना ?" हमारा जो गन्तव्य स्थान है या उद्दिष्ट लक्ष्य है उसी की जानकारी हमारे लिए अपेक्षित है। उससे भिन्न जानकारी हमें अपने लक्ष्य से च्युत कर सकती है।

लक्ष्य से च्युत करने वाले सभी विचार कचरे के समान है। हमे उनको मस्तिष्क मे भरकर अपने मस्तिष्क को कचरा पेटी नही बनाना चाहिए। आपके सामने यदि कोई व्यक्ति किसी की निन्दा या बुराई करता है तो आपको तुरन्त उसका प्रत्याख्यान करके कहना चाहिए कि 'हमारा मस्तिष्क कचरे की पेटी' नही है। ऐसा करने से आपका मस्तिष्क अनुचित बातो के कचरे से बचा रहेगा, शुद्ध रहेगा और शान्त रहेगा। अनुचित विकृति से दूर रहकर आप स्थिरमति बन जायेगे और आप मे इतनी महान सामर्थ्य उत्पन्न हो जायेगी कि आप पर बडे से बडे झंझावात भी असर नही कर पायेंगे। उस स्थिरमतित्व की स्थिति में आप यही सोचेंगे, "अपना-अपना क्षयोपशम है, अपने अपने गुणावगुण है, मेरा उनसे क्या सम्बन्ध है ?"

तो मैं आपको अभी बता रहा था कि जानने योग्य बातो को ज्ञेय कहते है। आज के युग में तो प्रत्येक वस्तु के विषय में थोडा-बहुत ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक माना जाता है। इसको General Knowledge या सामान्य ज्ञान के नाम से पुकारा जाता है। सामान्य ज्ञान बुरा नही है किन्तु उसमें समग्रता नही है, वैशिष्ट्य नही है, इस कारण उसका अनुमोदन नही किया जा सकता।

किसी विद्वान् ने इस प्रसग पर ठीक ही तो कहा है

खण्डे खण्डे तु पाण्डित्य, क्रयक्रीत च मैथुनम् ।
भोजन च पराधीन, तिस्र पुसा विडम्बना ॥

अर्थात्—

थोडा-थोडा ज्ञान, खरीदा हुआ सभोग और पराधीन भोजन —इन तीनो बातो को जीवन की विडम्बनाये ही समझना चाहिए ।

अल्प ज्ञान तो अल्प ज्ञान ही है, उसमे पूरी और वास्तविक जानकारी कहाँ हो पाती है ? अल्प ज्ञान के कारण ही लोग उचित प्रसगो मे अनुचित टाँग अडाया करते हे ।

ज्ञेय के भाव को और स्पष्ट इस प्रकार किया जा सकता है । हम एक हजार व्यक्तियो के नाम जानते है या उनसे परिचित हे । उस बडी संख्या मे से केवल पाँच व्यक्ति ही हमारे काम आते हे या हमारी आवश्यकताओ को पूरा करते है । तो सार यह निकला कि वे पाँच व्यक्ति ही ज्ञेय—जानने योग्य है, शेष तो मस्तिष्क के लिए कचरारूप है, हेय हैं—त्यागने योग्य हे । कचरे को निकालकर ही जानने योग्य वस्तु को जाना जा सकता है । ऊपर दिये बोरी के उदाहरण मे बोरी जानने योग्य है, धान मे मिले हुए ककर, पत्थर त्यागने योग्य है और धान कण आदरने योग्य है । विश्व के सभी पदार्थ ज्ञेय, हेय और उपादेय के भेद से तीन प्रकार के है । जानने योग्य को जानना चाहिए, त्यागने योग्य को त्याग देना चाहिए और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर लेना चाहिए ।

ज्ञानी पुरुषो ने देव, गुरु और धर्म, इन तीनो का विस्तृत वर्णन किया है । इनमे से कौन-सा देव, कौन-सा गुरु और कौन-सा धर्म ज्ञेय हे, हेय है अथवा उपादेय है, यह जान लेना और भलीभाँति समझ लेना परमावश्यक है । सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चा धर्म— ये सम्यक्त्व के प्रतीक है । कुदेव, कुगुरु और कुधर्म —ये मिथ्यात्व के प्रतीक है और मिथ्यात्व के बन्धन को दृढता प्रदान करने वाले हैं । इनके द्वारा सासारिक-भौतिक पदार्थो के प्रति हमारी लालसा बढती है, रुचि उत्पन्न होती है और आकर्षण बढता है । परिणामस्वरूप हम अधिकाधिक परवश होते जाते है । इसके विपरीत, सुदेव, सुगुरु और सुधम हमे स्वावलम्बी बनाते है और स्वतन्त्र बनाते है । सुदेव, सुगुरु और सुधर्म कौन-से हे—इस बात की पहचान करना सम्यक्त्वी व्यक्ति का कर्त्तव्य है । इस विषय पर ज्ञानी पुरुषो ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है । सम्यक्त्व के विश्लेषण से देव, गुरु और धर्म की व्याख्या करते हुए अरिहन्त को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और अरिहन्त-प्रतिपादित धर्म को धर्म कहा गया है ।

अरिहन्त उसको कहते हे जो सब प्रकार की योग्यताओ से सम्पन्न हो और जो सब प्रकार की प्रशसा का पात्र हो। जिनमे सर्वज्ञता ह, सर्वदर्शिता हे, वीतरागता है, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता है और सर्वगुणसम्पन्नता है, वे ही अरिहन्त कहलाते हे। जिस व्यक्ति मे उक्त गुणो का अभाव है, उसकी यदि हम प्रशसा करते हे तो इसका अर्थ होगा कि हम वैसा किसी स्वार्थवश कर रहे हैं। स्वार्थ-वश दूसरे को बना रहे है और कभी-कभी स्वय भी बन जाते हे। बनाना शब्द लौकिक भाषा मे व्यग्य के रूप मे प्रयुक्त होता है। बनना बुरा हे या बनाना बुरा है इस पर आपको विशेष कहना इसलिए उचित नही कि आप तो स्वय अधिक सख्या मे बनिया है, फिर भला बनना बुरा कैसे हो सकता हे ?

शास्त्रकारो ने 'बनना' शब्द पर बडा गम्भीर चिन्तन किया है। वर्तमान मे जो जिस अवस्था मे हे, जिस रूप मे हे, उससे भिन्न रूप मे बनने की जिसकी योग्यता हे, वह 'भव्य' कहलाता हे। उसके जो विपरीत हे वह 'अभव्य' कहलाता है। दूसरे शब्दो मे — भव्य का अर्थ है होने योग्य और अभव्य का अर्थ है न होने योग्य। जिसे टाँची लगाकर नवीन आकार नही दिया जा सकता, वह अभव्य हे। जो गढा जा सकता है, जिसमे आकृति लाई जा सकती है वह भव्य है। भव्य मे शिल्पी अपनी इच्छानुसार आकृति बना देता है। जो वस्तु बनाने वाले की प्रक्रिया को झेल लेती है वह पूजनीय बन जाती हे। भगवान् का रूप धारण कर लेती है, लोग श्रद्धा स उसे प्रणाम करने लगते हे, पूजन करने लगते है। ठीक ही तो कहा है किसी कविवर ने

**गुरु कारीगर सारिखा, टाँची वचन विचार।**
**पत्थर की प्रतिमा रचे, पूजा करे ससार ॥**

इसी को कहते हे बनना या भव्य। जो भव्य होता हे, गुरु की शिक्षा को धारण कर लेता है, अपने अनादिकाल के दु स्वभाव को छोड देता है और अपने तीव्र-राग और तीव्र-द्वेष के बन्धनो को तोड देता है, उसका राग अब द्वेप का रूप ले लेता है और द्वेप राग का रूप धारण कर लेता हे। वह अब तक जिससे राग करता आया है उससे द्वेष करने लगता है और जिससे द्वेप करता आ रहा था उससे राग करने लगता है। राग द्वेप से वह अब तक मुक्त नही हो पाया है, वे ज्यो के त्यो है किन्तु स्थान परिवर्तन के कारण राग-द्वेप अच्छे रूप मे परिवर्तित हो गये। पहले उसका राग पुत्र, स्त्री, धन-सम्पत्ति तथा अन्य अनेक भौतिक पदार्थो पर था, अब गुरु के सदुपदेश से स्वय को ओत-प्रोत करने के कारण उसका राग सद्गुरु, भगवान् और धर्म पर हो गया। जिनसे चिरकाल से द्वेप करता आ रहा था अब वह उन्हे अपने प्रिय समझने लगा, अपना हितैषी समझने लगा और कामना करने लगा कि जन्म-जन्मान्तर

में मुझे इन्ही की सगति मिलती रहे, इनकी वाणी मेरे कानो को पवित्र करती रहे और मुझे इनकी शरण मिलती रहे जिससे मेरी आत्मा का उद्धार हो सके। मेरे इस विवरण से आप भलीभाँति समझ गए होगे कि जो तीव्र राग और द्वेष पहले अप्रशस्त थे, वे स्थान-परिवर्तन के कारण प्रशस्त बन गये। सुगुरु, सुदेव, सुधर्म के प्रति राग होने लगा और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के प्रति द्वेष रहने लगा। एक प्रशस्त राग बन गया और दूसरा प्रशस्त द्वेष बन गया। जो राग और द्वेष पहले अहितकारी थे वे अब इतने हितकारी बन गये कि जीव की राग द्वेष विमुक्ति के भी साधन बन गये।

पैर मे जब काँटा लग जाता है तो वह काँटे के विरोधी फूल से तो नही निकाला जा सकता, वह तो काँटे से ही निकाला जा सकता है। तभी तो नीतिकार ने कहा है

**"कण्टकेनैव कण्टकम्"**

निकालने वाला काँटा लगने वाले काँटे से दृढतर होना चाहिए अन्यथा निकालने के स्थान पर वह स्वय भी लग जायेगा। अप्रशस्त तीव्र-राग और अप्रशस्त तीव्र द्वेष रूपी काँटे अनादिकाल से हमारे शरीर मे लगे हुए थे। प्रशस्त-राग और प्रशस्त-द्वेष रूपी दृढतर काँटो ने उनको निकालकर जीवन को परिवर्तित कर दिया। सक्षेप मे, प्रशस्त-राग और प्रशस्त-द्वेष के द्वारा ही जीव का उद्धार सम्भव है, अन्यथा नही। सुगुरु, सुदेव और सुधर्म पर होने वाला राग धीरे-धीरे वीतरागता मे बदल जाता है। इसको जीवन की महान् उपलब्धि समझना चाहिए।

जिस प्रकार निर्धनावस्था मे ही व्यक्ति धनवान बनने का प्रयत्न करता है, मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी विद्वान् होने के लिए प्रयत्नशील रहता है, वृद्धावस्था व्यक्ति को मुक्त होने के लिए उद्यमवान् बनाती है, ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्व की कारा से मुक्ति पाने के लिए सम्यक्त्व की उपलब्धि का प्रयत्न किया जाता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, "राग और द्वेष दो बन्धन है। ऊपर से दो दिखाई देते है, वास्तव मे एक ही है।" प्रशस्त रूप मे जब वे हमारे सामने आते है तो हमे व्रत, पचखान आदि मर्यादाओ व नियमो के प्रति हमे रुचि होने लगती है। फलस्वरूप हम सम्यक्त्व की ओर बढने लगते हैं और हमारे सचित कर्मो का क्षय होने लगता है। सचित कर्मो का क्षय ही शाश्वत सुख है जिसे आध्यात्मिक भाषा मे मोक्ष के नाम से पुकारा जाता है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ८ जुलाई, १९७९

# जाकी रही भावना जैसी

शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए जीव सदा प्रयत्नशील रहता है। अजीव तो जड को कहते हे, वह तो सुख और दु ख दोनो से विहीन होता है। अनुभूति की शक्ति केवल चेतन जीव में है जड मे नही। अब हमें जीव के लक्षण पर विचार करना है। कुछ लोगो के अनुसार, चलना, फिरना, वोलना, खाना, पीना, हिलना, डुलना, श्वास लेना आदि क्रियाओ से युक्त जीव कहलाता है, किन्तु वास्तव मे वह लक्षण जीव पर घटित नही होता। चलती तो घडी भी हे, साइकलें भी है, मोटरें भी हे और वायुयान भी। उक्त सारी मशीनरी वैज्ञानिक शक्ति से क्रियाशील बनती है अपनी शक्ति से नही। इसी प्रकार वोलना भी है। घडी, ग्रामोफोन, टेपरिकाडर, रेडियो — बोलते तो वे भी हे किन्तु वे जीव नही ह। खाना-पीना भी जीव का लक्षण नही हो सकता। खाना पीना शरीर पर आधारित होता है। लोहे की मशीनरी भी कोयला, तेल, पेट्रोल, जल आदि खाती-पीती है, किन्तु वह जीव नही है। श्वास लेने मात्र से भी वस्तु जीव नही बन जाती। लोहार की धोकनी भी तो श्वास लेती है किन्तु वह जीव तो नही है।

तो फिर जीव का लक्षण क्या है? शास्त्र के अनुसार 'चेतनशक्ति से सम्पन्न होना' जीव का लक्षण है। चेतनशक्ति के कारण ही जीव जानता है और अनुभव करता है। अनुभव की विकसित शक्ति के अनुसार ही वह उपलब्ध सामग्री का उपयोग करते हुए सुख-दु ख का अनुभव करता है। सासारिक जीव को सुख और दु ख का अनुभव इद्रियो की न्यूनाधिकता के आधार पर होता है। पचेन्द्रिय जीव अपने सुख दु ख की अनुभूति दूसरो को भी करा देते ह। एकेन्द्रिय जीव से यह सम्भावना नही की जा सकती। सुखरूप या दु खरूप किसी भी प्रकार का अनुभव करना तो जीव का लक्षण है किन्तु अनुभव को ही प्रमाण मान लिया जाये तो सबको एक ही प्रकार का अनुभव होना चाहिए किन्तु ऐसा न होता ही है और न सम्भव ही है। बलवान् मनोबल वाले लोग बडे से बडे कष्ट को, आपत्ति को या सकट को दृढता से सहन कर लेते ह और

शिथिल शक्ति वाले कष्ट के आगे हथियार डाल देते है, तडपने लगते है और कई बार दम भी तोड देते है। इससे स्पष्ट है कि सबमे अनुभव करने की शक्ति समान नही है। नि सन्देह अनुभव करना जीव का लक्षण है, जड का नही। पदार्थो को देखना भी जीव का लक्षण है। शास्त्रीय दृष्टि मे—

"ज्ञानदर्शनमयो जीव ।"

—ज्ञान और दशन—दोनो चेतना के ही दो भेद है। 'मै दु खी हूँ अभाव-ग्रस्त हूँ' आदि का आभास जिसे होता है, वही सुख के लिए प्रयत्न करता है और सुख के लिए लालायित रहता है। सच्चा सुख क्या है और झूठा सुख क्या है? इसको समझने की भी वह चेष्टा करता है। सच्चे सुख की पहचान होने पर वह सच्चे सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। सच्चे सुख का ही दूसरा नाम शाश्वत सुख है। अजीव या जड के लिए यह सब सम्भव नही है।

जैसा कि ऊपर भी सकेत किया जा चुका है जिसकी जितनी चेतना विकसित हुई है और जिसके पास जितना अनुभव का साधन है, उसके अनुसार ही वह अनुभूतियो का सग्रह करता है। जीवन दस बातो का योग है। ये दस बातें ह दस प्राण। पच्चीस बोलो मे इनका वर्णन है। पाँचो इन्द्रियो के बल प्राण, मन, वचन और काया के बल प्राण, श्वासोच्छ्वास का बल प्राण और आयुष्य का बल प्राण। ये सब सख्या मे दस है। इन दसो पर हमारा जीवन आधारित है। इन दसो मे से एक के भी अधूरा रहने पर हमारा जीवन निर्बल हो जाता है। जीवन अपूण रह जाता है। दस प्रकार के प्राणो की हमे उपलब्धि है। इनके द्वारा अनुभव करने की और पूर्ण रूप से जीने की सुविधा और सामग्री हमे प्राप्त है। हमने माता के गभ मे आने के समय ही, अपने भावी लम्बे जीवन के यापन के लिए सामग्री प्राप्त कर ली थी। हमारा जीवन पर्याप्तक बन गया था।

जीवन दो प्रकार के होते है पर्याप्तक और अपर्याप्तक। हम पर्याप्तक है, अपर्याप्तक नही। अब हमे ऊपर उठने की आवश्यकता है। सासारिक जीवन जीने के लिए तो हमने सारे साधन जुटा लिये किन्तु भावी जीवन के लिए साधन नही जुटाये, ऐसे साधत जिनके द्वारा जन्म-मरण का बन्धन कट सके। इसके लिये हमे अपने दृष्टिकोण मे परिवतन करना होगा। दृष्टिकोण तीन प्रकार के है वस्तु का जो स्वरूप है उसे ज्यो का त्यो मन मे स्थिर करना 'सम्यग् दृष्टिकोण' कहलाता है। वस्तु के स्वरूप को उससे भिन्न मानना 'मिथ्या दृष्टि-कोण' के नाम से जाना जाता है। वस्तु-स्वरूप के कुछ अश को जैसा का तैसा मानना और कुछ अश को उससे विपरीत मानना 'मिश्र-दृष्टिकोण' है। हम सम्यग् दृष्टि वाले है या मिथ्या दृष्टि वाले है, इस पर हमे विचार करना

चाहिए। जब हम इन तीनो दृष्टियो के वास्तविक स्वरूप को समझ लेंगे तभी हम यह निश्चय कर सकते है कि हमारी दृष्टि कौन-सी है।

ससार के समस्त पदार्थो का ज्ञान तो हमे नही है और ज्ञानाभाव के कारण हमारा उनसे कोई सम्बन्ध भी नही है, अच्छा या बुरा कोई भी सम्बन्ध नही है। हम जब किसी पदार्थ के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करेगे तभी तो वह हमे प्रभावित करेगा। जो पदार्थ जैसा है उसके प्रति वैसा ही विचार यदि हम स्थिर करेंगे तभी वह पदार्थ हमको लाभ पहुँचा सकेगा। उससे हानि की सम्भावना नही करनी चाहिए। यदि हम किसी पदार्थ को गलत ढग से समझ लेते हे, गलत धारणा उसके प्रति बना लेते है, तो उस पदार्थ से हमे हानि भी पहुँच सकती है। अति-दूरस्थ पदार्थ के प्रति भी यदि हम विपरीत विचार-धारा बना लेते हे तो वह दूरस्थ पदार्थ भी हमे हानि पहुँचा सकता है। यदि जो पदार्थ जैसा है उसे हम वैसा ही 'सम्यग् दृष्टि' से अपने हृदय मे धारण करते है तो वह पदार्थ दूरस्थ होता हुआ भी हमे लाभ पहुँचायेगा। इसमे रहस्य है कि विश्व का कोई भी पदार्थ, चाहे वह निकटस्थ हो या दूरस्थ, उसके प्रति जैसी विचारधारा स्थिर करते है उसके अनुरूप ही हमे फल मिलता है। कोई व्यक्ति विशेप या वस्तु विशेष हमे हानि-लाभ पहुँचाने वाले नही है, वास्तव मे तो हमारी भावना ही फलप्रद होती है। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि विश्व का सारा तत्र आपके हाथ मे है, आप जिस प्रकार का अपना भविष्य बनाना चाहो, जिस पदार्थ से जैसा काम लेना चाहो, ले सकते हो। इस प्रसग पर मुझे एक उदाहरण स्मरण हो आया है

दो व्यक्ति थे, अपने अपने गाँव से व्यापार के निमित्त दिसावर को रवाना हो गये। उन दोनो की अचानक एक स्थान पर मुलाकात हो गई। दोनो एक दूसरे से अपरिचित थे। एक ने दूसरे से पूछा

"आप कहाँ जा रहे हे ?"

"दिसावर जा रहा हूँ।" दूसरे ने उत्तर दिया।

"किस लिये ?"

"माल खरीदने के लिये।"

"और आप कहाँ जा रहे है ?" पहले ने कहा।

"मैं भी दिसावर जा रहा हूँ, माल खरीदने के लिये।"

"कौन-सा माल खरीदेंगे आप ?"

"चमडा।"

"और आप ?"

"घी।"

दोनो की मुलाकात स्टेशन पर हुई थी। गाडी आते ही दोनो गाडी के

एक ही कक्ष मे चढ गये। कक्ष मे कोई वार्तालाप नही हुआ। जक्शन आते ही दोनो उतर गये। थोडी पहचान के कारण दोनो साथ-साथ हो लिये और दोनो ने एक साथ नगर मे प्रवेश किया। अब दोनो के सामने भोजन की समस्या थी। एक बोर्ड पर पढा—

"शुद्ध और स्वादिष्ट भोजनशाला"

दोनो ने भोजनशाला मे प्रवेश किया। प्रबन्धक ने पूछा—

"आप कौन है, कहाँ जा रहे है और किस लिये जा रहे है ?" एक ने चमडे की खरीद के लिये तथा दूसरे ने घी की खरीद के लिये दिसावर जाने की बात कही।

प्रबन्धक ने दोनो के भोजन की व्यवस्था कर दी। घी के व्यापारी की तो घर के अन्दर ही सुन्दर आसनादि द्वारा व्यवस्था की गयी। जबकि चमडे के व्यापारी को सामान्यजन की तरह बाहर बरामदे मे ही बैठा दिया गया। चमडे का व्यापारी मन मे सोच रहा था, "मै चमडे का व्यापारी हूँ, इसलिए सम्भवत मुझे नीच समझकर बाहर ही बैठा दिया गया है और घी के व्यापारी को महाजन समझकर उसकी घर के अन्दर अच्छी व्यवस्था कर दी है।"

दोनो वहाँ भोजन करके अपने काम के लिये रवाना हो गये। दो मास तक दोनो भिन्न-भिन्न स्थानो मे अपने-अपने माल की खरीदारी करते रहे। मालगाडियो मे माल भेजकर दोनो उसी नगर मे लौटे तो पुन दोनो की भेंट हो गयी। दोनो ने अपने-अपने माल की खरीदारी की चर्चा की। दोनो भोजन करने की इच्छा से पहले वाले भोजनालय मे ही गये। प्रबन्धक से परिचय था ही, दोनो का कुशल-मगल पूछकर व्यापार की सफलता के विषय मे पूछा। दोनो ने अपनी अपनी सफलता के लिए पूर्ण सन्तोष प्रकट किया। पूर्व की भोजन-व्यवस्था के विपरीत, प्रबन्धक ने अब की बार जो चमडे का व्यापारी था उसके भोजन की व्यवस्था तो बडे ही सुन्दर ढग से भवन के अन्दर की और घी के व्यापारी को सामान्यजन की तरह बाहर बरामदे मे बैठा दिया। दोनो व्यापारी बडे आश्चर्यचकित थे, व्यवस्था की विपरीतता पर। भोजन की समाप्ति पर दोनो ने भोजन प्रबन्धक से कहा, "यदि आप बुरा न मानें तो क्या हम आपसे एक बात पूछ सकते है ?" "बुरा मानने की क्या बात है ? आप बडी प्रसन्नता से पूछिये।" प्रबन्धक ने प्रत्युत्तर दिया। घी के व्यापारी ने कहा, "पहले जब हम दोनो यहाँ भोजन करने आये थे तो आपने मुझे तो मकान के अन्दर बैठाकर बडे ही सुन्दर ढग से भोजन कराया था और मेरे साथी को बाहर बरामदे मे बैठाकर ही साधारण व्यक्ति के समान भोजन कराया

था। अब की बार यह सर्वथा विपरीत व्यवस्था की है। हम दोनो इस रहस्य को नही समझ पा रहे है। क्या आप इस रहस्य का उद्घाटन करेंगे?"
"रहस्य कुछ नही, यह तो एक सामान्य सी बात है। यदि आप दोनो इतनी छोटी-सी बात भी नही समझ पाये है तो क्या तो आप व्यापार करेंगे और कैसे जीवन की गाडी चलायेंगे।" तो सुनिये '

"जिस समय चमडे का व्यापारी चमडे की खरीद के लिए जा रहा था उस समय उसके मन मे यह विचार था कि मुझे सस्ते से सस्ता चमडा मिले। सस्ता से सस्ता चमडा कब मिलता है? जब प्राणी अधिक सख्या मे मृत्यु के ग्रास बनते है। गायें, भैंसें, बैल आदि अनेक पशु मरेंगे तभी तो चमडा सस्ता होगा। प्राणी कब मरते है, जब दुष्काल पडता है। दुष्काल पडने से केवल पशु ही नही मरते किन्तु मानव का जीवन भी फसल के नष्ट होने से भार बन जाता है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए उस समय चमडे के व्यापारी के मन मे अत्यन्त क्रूर और नीच भाव थे। ऐसी दूषित भावना वाले व्यक्ति को मैने बाहर बैठाना ही उचित समझा था। तुम्हारे मन मे भी यही भावना थी कि मुझे सस्ता से सस्ता घी मिले। सस्ता से सस्ता घी कब मिलता है, जब पशु धन हृष्ट-पुष्ट होता है, सर्वत्र खुशहाली होती है, फसले फूलती-फलती ह और सुकाल होता है। तुम्हारे मन में उस समय जनकल्याण की भावना थी, इसलिये मैने तुम्हे अन्दर बैठाकर भोजन कराया था। तुम्हारे साथी के मन मे उस समय लोक के अमगल की भावना थी, जग के विनाश की भावना थी इसलिए उसे मैने बाहर बिठाया। अब स्थिति उसके विपरीत है। तुम्हारा साथी चमडे का व्यापारी सोच रहा है कि कोई प्राणी मरे नही, जमाना खुश-हाल रहे तभी मेरा खरीदा हुआ चमडा महगा बिक सकता है। अब इसके मन मे लोक कल्याण की भावना है इसलिए इसके भोजन की व्यवस्था अन्दर की गयी। तुम्हारे मन में यह भावना है कि मेरा घी महगा बिके। महगा घी तो तभी बिकेगा जब पशु-धन नष्ट हो जायेगा और दुष्काल पड जायेगा। तुम्हारे मन मे दूषित भावना है, इसलिए तुम्हे बाहर बैठाया गया। साराश यह है कि मानव का उत्थान, पतन, आदर, निरादर, मान, अपमान सब भावना पर आधारित है।"

जैसा कि आरम्भ मे सकेत किया जा चुका है जो पदाथ जैसा है उसे उसी स्वरूप मे देखना सम्यग्दृष्टि है और उसे विपरीत रूप मे देखना मिथ्या दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि मे यथाथता है। और मिथ्यादृष्टि मे अयथार्थता है। एक मे सत्य है दूसरे में अनृत है। शास्त्रकारो का कथन है कि जो प्राणी शाश्वत सुख या मोक्ष की अभिलाषा रखते है और ससार के आवागमन से छुटकारा पाना चाहते है, उन्हे सम्यक्त्व के मार्ग का आश्रय लेना चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ** ९ जुलाई, १९७९

४

# जब जागो तभी सवेरा

शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए ही इस मानव भव की प्राप्ति हुई है। लाखो योनियो मे परिभ्रमण करने के पश्चात् ही यह मानव-भव मिलता है। ठीक ही तो कहा है किसी कवि ने

"नरतन के चोले का पाना बच्चो का कोई खेल नही।
जन्म-जन्म के शुभकर्मो का मिलता जब तक मेल नही॥"

अर्थात्—अनेक जन्मो मे किये गये शुभ-कर्मो का जब तक मेल नही मिल जाता तब तक मनुष्य-जन्म नही मिला करता। शास्त्रकार भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए कहते हे कि जब आत्मा के अधिक से अधिक कर्मो का क्षय हो जाता है तो आत्मा 'हलुकर्मी बन जाता है। हलुकर्मी बनने से ही आत्मा मानव योनि मे आता है। हलुकर्मी, शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। कर्मो के हलके होने को 'हलुकर्म' कहा जाता है। 'हलु' अपभ्रश भाषा का शब्द है और प्राकृत का शब्द इसके स्थान मे 'लहु' है। 'लहु' शब्द का व्यत्यय होने से 'हलु' बन गया है। हलुकर्मी—हलके कर्मो वाला, सस्कृत मे इसका विपरीतार्थक शब्द है 'गुरुकर्मी'—भारी कर्मोवाला। शास्त्र के अनुसार

"कम्माण तु पहाणाए"

कर्मो की जब प्रकर्ष से हानि हो जाती है और

"आणुपुव्वी कयाइ उ"

आत्मा अनुक्रम से शुद्ध होती जाती है। कर्मो के क्षय से जैसे-जैसे उत्तरोत्तर आत्मा शुद्ध होती जाती है वैसे वैसे वह ऊर्ध्वगति की ओर अग्रसर होती है, इसके लिय शास्त्रो मे तूम्बे का उदाहरण बडा प्रसिद्ध है। एक बार भगवान् से जब यह प्रश्न पूछा गया कि

"जीव का क्या स्वभाव है?"

उन्होने उत्तर मे कहा

"जीव का स्वभाव बिल्कुल सीधा है। जीव का लक्षण चेतना है। जो चेतता है, वह ऊपर को उठता है। जो जड है, वह नीचे की ओर जाता है। यह बात हम अपने मन से नही कह रहे है। यह बात तो शास्त्रसगत है और लोक-व्यवहार मे भी भलीभाँति देखी जा सकती है। चूल्हे मे अग्नि चेताई जाती है। 'चूल्हा चेत गया' का अर्थ लोकभाषा मे होता है कि चूल्हे मे अग्नि सुलग गई। जब चूल्हा चेतता है तो अग्नि जल उठती है। जो चेतता है वह ऊपर की ओर जाता है, प्रज्वलित अग्नि की शिखाएँ भी ऊपर की ओर गतिशील होती है। जो नही चेतता है वह नीचे की ओर जाता है। झाड की जड नीचे की ओर जाती है। झाड का अकुरित और पल्लवित होना उसका सुलगना ही समझना चाहिये।"

एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा

"भगवन्, जीव का स्वभाव क्या है?"

भगवान् ने उत्तर दिया

"जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है।"

गौतम स्वामी ने पुन पूछा

"यदि जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है तो मनुष्य मरकर कभी नरकलोक मे जाता है और कभी पुन देवलोक मे क्यो चला जाता है। उसे तो ऊपर की ओर ही जाना चाहिए, नीचे की ओर क्यो?"

भगवान् ने एक तूम्बे का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा

"तूम्बे को यदि तालाब के तल मे छोड दिया जाये तो वह तुरन्त पानी के ऊपर आ जाता है। परन्तु उसी तूम्बे के ऊपर यदि चिकनी मिट्टी के चार लेप लगाकर धूप मे सुखा दिया जाये, साथ ही उसे चार मूज के बन्धनो से भी कस दिया जाये और फिर तालाब मे छोड दिया जाये तो वह निश्चित रूप से पानी के तल पर पहुँच जायेगा। तूम्बे का स्वभाव तो पानी के ऊपर रहना है फिर वह जल-तल मे कैसे चला गया? इसका उत्तर स्पष्ट है। तूम्बा मूज के बन्धनो से और मिट्टी के लेप से इतना भारी हो गया कि उसकी ऊपर आने की और तैरने की शक्ति नष्ट हो गई। ठीक तूम्बे के समान ही आत्मा पर आठ प्रकार के कर्मो के बन्धन लगे हुए है। उन कर्मो के बन्धन के भार से आत्मा ससार रूपी समुद्र मे डूब रहा है। तूम्बे की मिट्टी ज्यो-ज्यो गीली होगी, शिथिल होगी, त्यो त्यो वह तूम्बे से हटती जायेगी और तूम्बा हल्का होता जायेगा। सारी मिट्टी के पानी मे घुलते ही तूम्बा पानी के ऊपर आ जायेगा। मिट्टी के बन्धन से मुक्त होकर भला तूम्बा पानी के तल मे कैसे रह सकता है? तूम्बे के समान ही आत्मा का स्वभाव भी ऊपर उठने का है किन्तु कर्मो के बन्धन के कारण वह ऊपर नही उठ सकता। कर्मो के

बन्धन के कारण ही आत्मा को अनेक योनियो मे भटकना पडता है। जिस प्रकार लोग बैल के नाक में रस्सी डालकर उसे परतन्त्र बना देते है, उसकी स्वतन्त्रता छीन लेते है। बैल अपनी इच्छा से कही भी नही जा सकता। उसे तो नाथ की रस्सी पकडकर किसान जहाँ चाहते है, ले जाते है। बैल की इच्छा के विपरीत किसान उसे चाहे हल में जोत ले, गाडी मे जोत ले और चाहे रहट मे। ठीक इसी प्रकार की दशा कर्मो के बन्धन मे बधे आत्मा की भी है। कर्म उसे कभी नीचे ले जाते है और कभी ऊपर। वह कर्मो का दास है। आनुपूर्वी नाम का कर्म आत्मा को जहाँ ले जाता है वही उसको जाना पडता है। आनुपूर्वी नामक कर्म, नाम-कर्म का ही एक भेद है। नाम-कर्म की ९३ प्रकृतियो में से 'आनुपूर्वी' भी एक प्रकृति है। इसके चार भेद है। चार गतियो के नामो के अनुसार ही इनके नाम है। जैसे, नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी। कर्मविपाक नामक प्रथमकर्म-ग्रथ मे इसका सविस्तार वर्णन है। "जीव को उसके कर्मो के अनुसार विभिन्न गतियो मे परिभ्रमण कराना"—बस, यही कार्य है आनुपूर्वी नामक कर्म का। नाम-कर्म आत्मिक गुणो का तो घात नही करता किंतु शरीर सबधी प्रकृतियो पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है। शरीर की लम्बाई-चौडाई, गौरवर्ण-कृष्णवर्ण, सौन्दर्य विद्रूपता आदि सब इसी कर्म के अधीन है। ९३ प्रकार से शरीर की प्रकृतियो का बन्ध होता है। शरीर का शक्तिशाली होना, ढीला होना, खूबसूरत होना, बदसूरत होना आदि आदि नाम-कर्म की ९३ प्रकृतियाँ है।

आत्मा के गुणो का घात तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म ही करते है। इसलिए इन्हे 'घातक कर्म' भी कहते है। घातक कर्मो मे भी सर्वाधिक आत्म-गुण घातक मोहनीय कर्म है। उसकी २८ प्रकृतियाँ है। सब प्रकृतियो मे 'मिथ्यात्व' नाम की प्रकृति बहुत प्रबल है। मोह सब कर्मो का राजा है। तभी तो आगमकार फरमाते है

"जहा मत्थए सुइए, हताए हम्मइ तले।
एव कम्माणि हम्मति, मोहणिज्जे खय गये॥"
—दसासुयक्खध सुत्त, ५/११

—कि जिस प्रकार ताड के वृक्ष के मस्तक पर सूई की नोक का प्रहार करने से वह निर्जीव होकर गिर जाता है, ठीक उसी प्रकार यदि केवल मोहनीय कर्म का विनाश कर दिया जाय तो शेष कर्म अपने आप विनष्ट हो जाते है। आगम का यह वचन बडा ही सारगर्भित है।

ताड का वृक्ष बडा ही लम्बा, चिकना और दृढ होता है। उसे काटना

अत्यन्त कठिन है। कोई व्यक्ति उसकी चोटी पर चढकर यदि चोटी के ठीक मध्य-भाग मे सूई चुभो दे तो ताड के वृक्ष का जीव वहाँ से च्यव जाता है —अर्थात् निकल जाता है। मकान से पानी टपकने को भी च्यवना कहते हैं। जैसे पानी 'चवता' है—एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान मे चला जाता है ठीक इसी प्रकार हमारा जीव भी एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान मे चला जाता है। दूसरे शब्दो मे वह एक शरीर का त्याग करके इतर शरीर मे चला जाता है। मरना और चवना दोनो एकार्थवाचक शब्द है। शरीर से मुख्य जीव के चले जाने से शरीर में स्थित अन्य जीव भी चले जाते है। ताड के वृक्ष के मुख्य जीव के चले जाने से शनै-शनै वह जीर्ण-शीर्ण होता हुआ पृथ्वी पर गिरकर नष्ट हो जाता है। जीव के आठ कर्मो का सम्मिलित रूप ताड-वृक्ष के समान है जिसका मर्मस्थल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के नष्ट होने से सम्पूर्ण कम धीरे-धीरे स्वय नष्ट हो जाते है। यह आठ कर्मो का ताड-वृक्ष बडा ही शक्तिशाली और दृढ है। इसका काटना सरल नही है। इसको कहाँ से काटकर नष्ट करना है—इसका ज्ञान परमावश्यक है। पहले ज्ञानावरण कर्म को नष्ट करना या अन्तरायकर्म को यह रहस्य सामान्य बुद्धि-गम्य नही है।

जैसा कि हम ऊपर सकेत कर आये है, आगम का कथन है कि मोहनीय कर्म सबका राजा है और उसकी २८ प्रकृतियो, २८ अगरक्षको मे मिथ्यात्व बलिष्ठ है या सेनापति है।

**सेणावइम्मि निहते जहा सेणा पणस्सइ।**
**एव कम्माणि नस्सति मोहणिज्जे खय गये॥**

**दसासुयक्खध सुत्त, दसा, ५/१२**

सेनापति को नष्ट करने पर जैसे सेना स्वत नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रधान सेनापति 'मिथ्यात्व' को नष्ट कर देने पर, सभी कर्मो की प्रकृतियाँ धीरे-धीरे स्वत नष्ट हो जाती है और आत्मा सर्व-तत्र-स्वतत्र बन जाता है। परन्तु मोहकर्म से लोहा लेना और मिथ्यात्व को छोडना कोई सरल काम नही है। यहाँ धर्म-सभा मे उपस्थित श्रावक अपने अन्दर दृष्टि डालकर देखें कि क्या वे छोडने लायक बातो को छोड रहे है और वास्तव में ग्रहण करने लायक बातो को ग्रहण कर रहे है? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक ही मिलेगा। साधुओ मे अटूट और असीम श्रद्धा रखने वाले श्रावको को साधुओ ने कितनी बार शिक्षा दी है कि क्रोध का त्याग करो, वैमनस्य का त्याग करो, भूल के लिए और गलतफहमी के लिए एक दूसरे से क्षमायाचना करके परस्पर मधुर व्यवहार रखो, परन्तु कौन सुनने वाला है। हमने इसीलिए अभी कहा कि मोह और मिथ्यात्व का त्याग करना मानव के

लिए आसान काम नही है।

हम तो सदा से कहते आ रहे है कि "श्रावको ! क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करो परन्तु त्याग के स्थान पर वह तो आपमे दिनोदिन बढता जा रहा है।" कभी कभी तो श्रावक साधुओ को यह कहते सुने गये हैं "हम आपका व्याखान सुन लेते है, धर्म-ध्यान कर लेते है, और भी जो आप आज्ञा देते है उसका अनुसरण करते है। यह तो हमारा अन्तरग मामला है, इसमे हस्तक्षेप करते आप शोभा नही देते।" यदि यही भावना है तो गुरुओ के उपदेश का क्या अथ हुआ ? यह तो गुरुओ के प्रति उपेक्षाभाव की अभिव्यक्ति है। धर्म की अवहेलना है। आगम का कथन है कि क्षमा का धर्म सबसे बडा है।

"खतिसूरा अरिहता"

—ठाण सुत्त, ४/३/३६३

अर्थात्—अरिहन्त क्षमा मे शूरवीर होते है। जिन अरिहन्तो की हम शरण लेते हे उन्होने ही क्षमा को सर्वोत्कृष्ट धर्म माना है। क्षमा धर्म को न अपना कर हम अरिहन्तो के वचनो की अवहेलना नही तो और क्या करते हे ? अरिहन्तो को हम देव मानते है, निर्ग्रन्थो को गुरु मानते है, अरिहन्तो द्वारा उपदिष्ट धर्म को स्वीकार करते हैं किन्तु व्यक्तिगत मामले मे देव, गुरु और धर्म की आज्ञा को हस्तक्षेप मानते हे तो हमारा देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धान किस भूमिका पर आश्रित है, इस पर आप स्वय विचार कर देखें। हमारा यह दोहरा दृष्टिकोण निश्चय ही मिथ्यात्व का प्रतीक है। फिर आप कैसे कह सकते है कि हम मिथ्यात्व छोडना चाहते है। सम्यक्त्व की भावना का स्थान आपके हृदय मे कहा रह गया ? आपकी अपने देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ श्रद्धा है, इस बात को भी कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि अनेक भवो मे मनुष्य जन्म पाकर परिग्रह के लिए, परिवार के लिए और अन्यान्य सासारिक वस्तुओ के लिए आज तक हम जो कार्य करते आये है वे ही यदि इस जन्म मे भी करते रहेगे तो हम मानव जीवन को सफल नही बना सकते। यह भी अन्य भवो के सामान व्यर्थ चला जायेगा। मारवाडी भाषा की उक्ति 'लाली रे लेखे गया' इसी सत्य की पुष्टि करती है। कुछ लोगो का यह कथन कि 'इतना तो बीत गया अब क्या हो सकता हे' ठीक नहीं है। मनुष्य जब भी चेत जाये, सावधान हो जाये, वही से अपने सुन्दर जीवन का आरम्भ कर सकता है।

"जब जागे तभी सवेरा"

की उक्ति को अपने जीवन मे उतारना चाहिए।

जैन-भवन [illegible] (नागौर) 10 [illegible] 1979

५

# बिना पाप के अपराधी

शाश्वत सुखो की प्राप्ति का आधार धर्म है। सासारिक अशाश्वत सुख तो पुण्य से भी प्राप्त हो सकते ह। पुण्य अलग चीज है और धम अलग। नव तत्त्वो मे पुण्य का स्थान तीसरा है। पहला जीव है, दूसरा अजीव है, तीसरा पुण्य है और चौथा पाप है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष— इन नव प्रकार के तत्त्वो मे धम तत्त्व का नाम नही है। परन्तु सवर नाम के तत्त्व मे धर्म का समावेश हो जाता हे। सवर के बीस भेद बताये गये हे, जिनमें व्रत-सवर का भी उल्लेख है। व्रत कहने से भी सवर का बोध हो जाता है। व्रत का अभाव आस्रव कहलाता है। आस्रव और सवर ये दोनो विरोधी तत्त्व हे। जैसे दिन का विरोधी रात है, अँधेरे का विरोधी प्रकाश है, चोर का विरोधी साहूकार है और रोग का विरोधी औषधि है, ठीक इसी प्रकार आस्रव तत्त्व का विरोधी सवर तत्त्व है।

चारो ओर से स्रव-झर जाने को आस्रव कहते है। ऊपर से जो पानी झरता है उसे चूना कहते है, नीचे से जो आता है उसे उबकना कहते हे, तिरछे से जो आता है उसे झरना कहते है। झर जाना ही आस्रव है। पनडुब्बी नाम के जहाज का नाम तो आपने सुन ही रखा है। पनडुब्बी चारो ओर से बन्द होती है। मछली जैसे आकार की होती हे वह। वह समुद्र के अन्दर पानी मे भी चलती है और समुद्र के तल पर भी। प्राय उसका उपयोग युद्ध के समय मे किया जाता है। उसमे अनेक आदमी बैठे होते है। उनके पास श्वास लेने के लिए पर्याप्त ऑक्सीजन रहती है। पनडुब्बी का काम समुद्र के ऊपरी भाग पर चलने वाले शत्रु के जहाज को तारपीडो द्वारा नष्ट करना होता है। उस पनडुब्बी मे यदि छिद्र हो जाये, जैसे चलनी मे होते है, तो छिद्रो से पानी आने के कारण वह डूब जाती है। हमारी आत्मा ठीक उस पनडुब्बी के समान है। यह 'ससार' समुद्र के समान है। इस ससाररूपी समुद्र मे जन्म, मरण, रोग, शोक आदि का पानी भरा हुआ है या दूसरे शब्दो में कम-वगणाओ का जल भरा हुआ है। वग के समूह को 'वगणा' कहा जाता है। एक एक वर्ग मे अनन्तानन्त

परमाणु है और अनन्तानन्त वर्गों की एक वर्गणा होती है, ऐसी अनेक वर्गणाएँ है। कर्म-वर्गणाएँ आत्मा के साथ आकर चिपक जाती है। किसी एक स्थान विशेष पर कर्म वर्गणाएँ बँधती हो और दूसरा स्थान रिक्त रह जाता हो, ऐसी बात नही है।

यह ससार-समुद्र बहुत विशाल है। इसका हिसाब या विवरण सुनने से मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। तीन करोड, इक्यासी लाख, नौ हजार, सात सौ सत्तर मन वजन का एक लोहे का गोला ऊपर से छोडा जाये और वह छह मास, छह दिन, छह पहर, छह घडी और छह पल परिमाण समय मे ऊपर से नीचे आता हुआ जितना क्षेत्र तय करे, उस क्षेत्र का नाम है—'राजू'। यह लोक ऊपर से नीचे तक चौदह राजू परिमाण है। लोक की चौडाई सब तरफ से एक जैसी नही है। इस लोक के तल भाग का वृत्त सात राजू परिमाण है। वह ज्यो-ज्यो ऊपर जाता है, त्यो त्यो सकुचित होता जाता है। तल भाग से एक एक आकाश-प्रदेश न्यून होता जाता है। एव असख्य आकाश-प्रदेशो के ऊपर के वलय भाग का वृत्त सात राजू से असख्य प्रदेश न्यून हो जाता है। 'आकाश-प्रदेश' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह क्षेत्र के सूक्ष्मतम माप का सूचक है। इस प्रकार एक-एक आकाश-प्रदेश कम होते-होते जहाँ हम बैठे हे वहाँ अर्थात् मध्यलोक मे एक राजू परिमाण वृत्त रह जाता है। सात राजू से कुछ अधिक भाग हमारे नीचे है। लोक का आकार एक पुरुष के समान बताया गया है। कमर पर हाथ रखकर, पैर फैलाकर खडे हुए मनुष्य के समान इस लोक का आकार है। नाभि की जगह मनुष्य-लोक है। ४५ लाख योजन के क्षेत्र मे मनुष्य रहते है। इसमे अढाई द्वीप हे—जम्बूद्वीप, घातकीखण्डद्वीप और अर्धपुष्कर द्वीप। एक राजू के इस क्षेत्र मे असख्यात द्वीप और असख्यात समुद्र है। सात राजू से कुछ कम अपने ऊपर का भाग है जिसमे सर्वप्रथम ज्योतिश्चक्र है जो सूर्य, चन्द्र और तारो के रूप मे विद्यमान है। उसके बाद बारह देवलोक हे, नौ ग्रैवेयक है और पाँच अनुत्तर विमान हे। तत्पश्चात् सिद्ध-शिला है जहाँ मुक्तात्माए निवास करती है। मनुष्य-लोक के ऊपर का भाग पुन शनै-शनै विस्तृत होता जाता है। जहाँ पर पाँचवाँ देवलोक स्थित है, वहाँ परलोक का वृत्त पाँच राजू परिमाण हो जाता है। पाँचवें देवलोक के ऊपर लोक फिर सकुचित होने लगता है। लोक के सर्वोपरि भाग का वृत्त एक राजू परिमाण माना जाता है। इसी लोकाग्रभाग मे सिद्धशिला की स्थिति है।

इस लम्बे-चौडे ससार-समुद्र मे अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाएँ है। कोई भी आत्मा कही पर भी जो जो अच्छे-बुरे काम करती है, तदनुसार उसके साथ कार्मण वर्गणाएँ चिपक जाया करती है। ये कार्मण वर्गणाएँ पानी के समान है और हम पनडुब्बी के समान है। इस पनडुब्बी मे एक-दो छेद नही किन्तु चलनी

के समान अनेक छेद है। इन छेदो से कर्मवर्गणाएँ पानी के समान आती रहती है, ठीक उसी प्रकार जैसे चलनी से पानी आता रहता है। जो कर्मवर्गणाएँ आती है उन्ही का नाम आस्रव है, दूसरे शब्दो मे यह कर्मों के प्रवेश का मार्ग है। इस आस्रव के स्थूलरूप में बीस भेद बताये गये है। इनमें अव्रत नाम का भी एक आस्रव है। यदि हमारे जीवन में कोई व्रत नही, पचक्खान नही, सौगन्ध नही, तो इससे भी कमवर्गणाएं आ मा मे इकट्ठी होती रहती है।

जीव की हिंसा—प्राणातिपात—यह पहला पाप है। हमने किसी भी जीव को नही मारा किन्तु जीव को मारने का त्याग भी नही किया तो हमें जीव हिंसा का आस्रव लग जाता है। पाप करने पर तो पाप लगता ही है किन्तु बिना पाप किये भी त्याग के अभाव में आस्रव लगना है, कमवर्गणाएं हमारी आत्मा से चिपक जाती है। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने व्रतो की व्यवस्था की है। तुम व्रत लो, प्रत्यारयान लो, जिससे कि तुम्हे आस्रव नही लगने पाये। जिस बात का तुम प्रत्यारयान कर लोगे तत्सम्बन्धी आस्रव तुम्हे नही लगेगा। उदाहरण के लिए यदि तुमने जीव हिंसा के त्याग का व्रत ले लिया तो तुम्हे विश्व-भर में होने वाले जीव-हिंसा-जन्य पाप का आस्रव नही लगेगा। इसी प्रकार असत्य भाषण का त्याग कर लिया जाये तो सर्वत्र होने वाले असत्य-भाषण का पाप नही लगेगा। त्याग के अभाव मे आत्मा के साथ कितनी दूर-दूर की कम-वर्गणाएँ चिपक जायेंगी—इसका तुम अनुमान भी नही कर सकते। यह आवश्यक नही है कि जितना क्षेत्र हमने देख रखा है, सुन रखा है, जान रखा है, उतने ही क्षेत्र की कर्मवर्गणाएँ आकर हमको लगेंगी। हमारी जानकारी मे जो क्षेत्र नही है, हमने जिसके विषय मे कुछ सुन भी नही रखा है, ऐसे स्थान पर भी जो हिंसा हो रही है उसका पाप भी हमे लगेगा। झूठ बोलने का त्याग न करने से बिना झूठ बोले भी झूठ बोलने का पाप लग जाता है। हमको चोरी करना सवथा पसन्द नही हो, हम जानते तक न हो कि चोरी कैसे की जाती है किन्तु चोरी का त्याग करने की प्रतिज्ञा न लेने से ससार मे जहाँ भी चोरी होती है उसके पाप के भागी हम बन जाते हे, और उसकी सजा भी हमे भुगतनी पडती है।

त्याग, व्रत व पचखान के अभाव में आस्रव का द्वार खुला रहने के कारण बिना कर्म किये भी हमें क्रिया लग जाती है एव उसका फल भी हमें भोगना पडता है। सवज्ञो ने इस विषय पर बहुत चिन्तन के पश्चात् यह निणय दिया है कि पाप के दुष्परिणाम से बचने के लिए मनुष्य को व्रत, प्रत्यारयान आदि का आश्रय अवश्य ले लेना चाहिए। आत्मा को बोझिल बनाने वाले सर्वत आते हुए कर्मो के निरोध के लिए सर्वज्ञो ने व्रत, प्रत्याख्यान आदि के रूप मे वज्रमयी दीवारो से युक्त एक ऐसा दुर्ग और परकोटा बना दिया है जिसके

सरक्षण मे आत्मा कर्मवर्गणाओ से बची रह सकती है। उन्होने हमारे लिए व्यवस्था तो बना दी है, उसका पालन करना, न करना यह हमारे ऊपर निर्भर है। भोजन बनाने वाले ने भोजन बनाकर तैयार कर दिया, परोसने वाले ने परोस दिया, भोजन लाकर सामने रख दिया, अब ग्रास तोडकर मुँह मे डालना और उसे गले उतारना तो हमारा काम है। शास्त्रकारो ने सारे विश्व का विवरण प्रस्तुत कर दिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा को किस प्रकार अपनी अज्ञानता के कारण कर्मो के भार से बोझिल बनाना पड रहा है फिर भी हम न चेतें और अपनी आत्मा को अनियन्त्रित रखें तो इसमे हमारा ही दोष माना जायेगा। इस प्रसग पर एक उदाहरण याद आ गया है

एक नगर था। आधी रात का समय था, सब सो रहे थे किन्तु चोर जाग रहा था। किसी कवि ने कहा भी है

**"पहले पोहरे सब कोई जागे, दूजे पोहरे भोगी।**
**तीजे पोहरे तस्कर जागे, चौथे पोहरे योगी॥"**

रात्रि के पहले पहर में तो सभी लोग जागते होते है किन्तु भोगी तो दूसरे पहर मे भी जागता है। तीसरा पहर चोर के लिए अनुकूल पडता है। उस समय वह चोरी का अवसर ढूँढता रहता है। चोरी करने के लिए वह प्राय इसी प्रहर मे जगा रहता है। रात के चौथे पहर मे योगी जागता है।

निकल पडा एक चोर चोरी करने के लिए। उसने एक बहुत बडी हवेली में प्रवेश किया। यह हवेली ठाकुर साहब की थी। बडे धनवान् थे ठाकुर साहब। खजाना बडे सुरक्षित स्थान मे था। वहाँ चोर की पहुँच सभव नही थी। ठाकुर साहब स्वय भी खजाने के पास वाले कक्ष मे ही सो रहे थे। प्रयत्न करने पर भी जब चोर के कुछ भी हाथ न आया तो चोर ने खूँटी पर लटकती हुई ठाकुर साहब की तलवार को चुरा लिया और चलता बना। तलवार भी इसलिए चुरानी पडी कि चोर को खाली हाथ जाना उचित नही लगा। उसने सोचा, चोरी के श्रीगणेश मे ही कुछ हाथ न लगा तो आगे कुछ भी हाथ नही लगेगा। ठाकुर साहब की नींद खुली तो देखा खूँटी से तलवार गायब है। उन्होने यहाँ-वहाँ, अन्दर-बाहर सवत्र देखा। पृथ्वी पर पडे पैरो के चिह्नो से वे जाने गये कि कोई चोर घुस गया था जो तलवार लेकर चम्पत हो गया। पुलिस मे रिपोर्ट इसलिए दर्ज नही कराई कि दरबारी लोग कहीं यह न कहने लग जाये कि 'जो अपनी तलवार की भी रक्षा नही कर सकता वह जनता की रक्षा क्या करेगा?' ठाकुर साहब के पास तो अनेक तलवारें थी, एक चली गई तो उन्होने दूसरी निकाल ली।

के समान अनेक छेद है। इन छेदो से कर्मवर्गणाएँ पानी के समान आती रहती है, ठीक उसी प्रकार जैसे चलनी से पानी आता रहता है। जो कमवर्गणाएँ आती हे उन्ही का नाम आस्रव है, दूसरे शब्दो मे यह कर्मो के प्रवेश का मार्ग है। इस आस्रव के स्थूलरूप मे बीस भेद बताये गये है। इनमे अव्रत नाम का भी एक आस्रव है। यदि हमारे जीवन में कोई व्रत नही, पचखान नही, सौगन्ध नही, तो इससे भी कमवगणाए आ मा मे इकट्ठी होती रहती है।

जीव की हिसा—प्राणातिपात—यह पहला पाप है। हमने किसी भी जीव को नही मारा किन्तु जीव को मारने का त्याग भी नही किया तो हमे जीव हिसा का आस्रव लग जाता है। पाप करने पर तो पाप लगता ही है किन्तु बिना पाप किये भी त्याग के अभाव मे आस्रव लगता है, कमवर्गणाएं हमारी आत्मा से चिपक जाती है। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने व्रतो की व्यवस्था की है। तुम व्रत लो, प्रत्याख्यान लो, जिससे कि तुम्हे आस्रव नही लगने पाये। जिस बात का तुम प्रत्याख्यान कर लोगे तत्सम्बन्धी आस्रव तुम्हे नही लगेगा। उदाहरण के लिए यदि तुमने जीव हिसा के त्याग का व्रत ले लिया तो तुम्हे विश्व-भर में होने वाले जीव-हिसा-जन्य पाप का आस्रव नही लगेगा। इसी प्रकार असत्य भाषण का त्याग कर लिया जाये तो सर्वत्र होने वाले असत्य-भाषण का पाप नही लगेगा। त्याग के अभाव मे आत्मा के साथ कितनी दूर-दूर की कर्म-वर्गणाएँ चिपक जायेंगी—इसका तुम अनुमान भी नही कर सकते। यह आवश्यक नही है कि जितना क्षेत्र हमने देख रखा है, सुन रखा है, जान रखा है, उतने ही क्षेत्र की कर्मवगणाएँ आकर हमको लगेंगी। हमारी जानकारी मे जो क्षेत्र नही है, हमने जिसके विषय में कुछ सुन भी नही रखा है, ऐसे स्थान पर भी जो हिंसा हो रही है उसका पाप भी हमें लगेगा। झूठ बोलने का त्याग न करने से बिना झूठ बोले भी झूठ बोलने का पाप लग जाता है। हमको चोरी करना सवथा पसन्द नही हो, हम जानते तक न हो कि चोरी कैसे की जाती है किन्तु चोरी का त्याग करने की प्रतिज्ञा न लेने से ससार मे जहाँ भी चोरी होती है उसके पाप के भागी हम बन जाते है, और उसकी सजा भी हमे भुगतनी पडती है।

त्याग, व्रत व पचखान के अभाव में आस्रव का द्वार खुला रहने के कारण बिना कर्म किये भी हमें क्रिया लग जाती हे एव उसका फल भी हमे भोगना पडता है। सवज्ञो ने इस विषय पर बहुत चिन्तन के पश्चात् यह निर्णय दिया है कि पाप के दुष्परिणाम से बचने के लिए मनुष्य को व्रत, प्रत्याख्यान आदि का आश्रय अवश्य ले लेना चाहिए। आत्मा को बोझिल बनाने वाले सवत आते हुए कर्मो के निरोध के लिए सर्वज्ञो ने व्रत, प्रत्याख्यान आदि के रूप में वज्रमयी दीवारो से युक्त एक ऐसा दुर्ग और परकोटा बना दिया है जिसके

संरक्षण में आत्मा कर्मवर्गणाओं से बची रह सकती है। उन्होंने हमारे लिए व्यवस्था तो बना दी है, उसका पालन करना, न करना यह हमारे ऊपर निर्भर है। भोजन बनाने वाले ने भोजन बनाकर तैयार कर दिया, परोसने वाले ने परोस दिया, भोजन लाकर सामने रख दिया, अब ग्रास तोडकर मुँह में डालना और उसे गले उतारना तो हमारा काम है। शास्त्रकारों ने सारे विश्व का विवरण प्रस्तुत कर दिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा को किस प्रकार अपनी अज्ञानता के कारण कर्मों के भार से बोझिल बनाना पड रहा है फिर भी हम न चेतें और अपनी आत्मा को अनियन्त्रित रखें तो इसमें हमारा ही दोष माना जायेगा। इस प्रसग पर एक उदाहरण याद आ गया है

एक नगर था। आधी रात का समय था, सब सो रहे थे किन्तु चोर जाग रहा था। किसी कवि ने कहा भी है

**"पहले पोहरे सब कोई जागे, दूजे पोहरे भोगी।**
**तीजे पोहरे तस्कर जागे, चौथे पोहरे योगी॥"**

रात्रि के पहले पहर में तो सभी लोग जागते होते हे किन्तु भोगी तो दूसरे पहर में भी जागता है। तीसरा पहर चोर के लिए अनुकूल पडता है। उस समय वह चोरी का अवसर ढूँढता रहता है। चोरी करने के लिए वह प्राय इसी प्रहर में जगा रहता है। रात के चौथे पहर में योगी जागता है।

निकल पडा एक चोर चोरी करने के लिए। उसने एक बहुत बडी हवेली में प्रवेश किया। यह हवेली ठाकुर साहब की थी। बडे धनवान् थे ठाकुर साहब। खजाना बडे सुरक्षित स्थान में था। वहाँ चोर की पहुँच सभव नही थी। ठाकुर साहब स्वय भी खजाने के पास वाले कक्ष में ही सो रहे थे। प्रयत्न करने पर भी जब चोर के कुछ भी हाथ न आया तो चोर ने खूँटी पर लटकती हुई ठाकुर साहब की तलवार को चुरा लिया और चलता बना। तलवार भी इसलिए चुरानी पडी कि चोर को खाली हाथ जाना उचित नही लगा। उसने सोचा, चोरी के श्रीगणेश में ही कुछ हाथ न लगा तो आगे कुछ भी हाथ नही लगेगा। ठाकुर साहब की नींद खुली तो देखा खूँटी से तलवार गायब है। उन्होंने यहाँ-वहाँ, अन्दर-बाहर सवत्र देखा। पृथ्वी पर पडे पैरों के चिह्नों से वे जान गये कि कोई चोर घुस गया था जो तलवार लेकर चम्पत हो गया। पुलिस में रिपोर्ट इसलिए दर्ज नही कराई कि दरबारी लोग कही यह न कहने लग जाये कि 'जो अपनी तलवार की भी रक्षा नही कर सकता वह जनता की रक्षा क्या करेगा ?' ठाकुर साहब के पास तो अनेक तलवारें थी, एक चली गई तो उन्होंने दूसरी निकाल ली।

दो मास के पश्चात् वही चोर पुन चोरी करने के लिए निकला। इस बार वह नगर-सेठ की हवेली मे घुस गया। सेठ साहब बडी गहरी नीद मे सोये हुए थे। चोर ने तिजोरी खोली और मनचाहे हीरे जवाहरात पाकर वह फूला न समाया। अपने कम्बल मे सब बाँधकर वह चलता बना, हवेली मे किसी को भी पता न चल पाया। चलते समय बहुत धन-माल के पाने की खुशी मे वह चोर एक माह पूर्व चुराई हुई ठाकुर साहब की तलवार को वही भूल गया। प्रात हुआ, सेठ साहब की नीद खुली, कुछ शक हुआ और पता चला कि कोई चोर सारी तिजोरी खाली कर गया है। मकान इतना साफ-सुथरा था कि कही पर चोर के पैरो का निशान भी नही पडा। सहसा सेठ की दृष्टि फर्श पर पडी, उस तलवार पर पडी। तलवार उठाई, म्यान से निकाली, देखा तो उस पर 'ठाकुर रणजीतसिंह' नाम खुदा हुआ था और साथ साथ ही अकित था घर का पता-ठिकाना भी। तलवार पर यह सब पढकर सेठ साहब को बडा आश्चर्य हुआ और दु ख भी हुआ कि इतने बडे सम्पन्न, धनवान ठाकुर होकर भी वे चोरी करते है। उनको लज्जा आनी चाहिए ऐसा घृणित काम करते हुए। सेठ साहब को पूर्ण विश्वास हो गया कि काम ठाकुर का है। स्नानादि क्रिया से निवृत्त होकर कुछ अन्य ठाकुरो को साथ लेकर बडे राजा के दरबार मे जो ठाकुरो या जागीरदारो के भी स्वामी होते ह, सेठ साहब पहुच गये। दरबार साहब ने सेठ साहब का बडा सत्कार किया और अपने पास के आसन पर बिठाया। सेठ साहब ने कहा, "अन्नदाता, मैं बैठने को नही आया हूँ, किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के लिए आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ।" "कहिये क्या अत्यावश्यक काय है ?" दरबार साहब ने पूछा।

"क्या बताऊँ अन्नदाता, आज मेरे घर में चोरी हो गई है।" सेठ साहब ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

"चोरी हो गई और आप मुस्करा रहे हे, कोई सामान्य वस्तु चली गई होगी।"

"नही हजूर, सब कुछ लुट गया है।" सेठ ने कहा।

"तो फिर आप मुस्करा कैसे रहे ह ?" राजा ने पूछा।

"मुस्करा इसलिए रहा हूँ कि चोर का पता चल गया है।" सेठ ने कहा।

"कौन है वह चोर ?" राजा ने बडे आश्चर्य से पूछा।

"वह कोई सामान्य चोर नही है, वह तो ऐसा चोर है जिस पर आपकी पूर्ण कृपा है।"

सेठ ने निर्भीकता से उत्तर दिया। सेठ की बात को सुनकर राजा क्रोध से भर गया और बोला

"क्या हम चोरो पर कृपा करने वाले है ? चोरो को पालने वाले है ? आप तो हम पर आक्षेप कर रहे हे। साफ-साफ बात क्यो नही बता देते कि चोर कौन है ?"

राजा ने क्रोधपूर्ण मुखमुद्रा मे सेठ को डाँटते हुए कहा।

"नही अन्नदाता ! आप तो पट्टेदार समझकर उन पर कृपा करते हो किन्तु वे आपकी कृपा का अनुचित लाभ उठाया करते है।" सेठ ने बडी ही विनम्रवाणी मे राजा को उत्तर दिया।

"तो फिर कौन है वह चोर ?" राजा ने पुन अपने शब्द दुहराये।

"हुजूर, वह चोर आपसे दूर कैसे रह सकता है ? वह तो आपके पास ही बैठा है। वह चोर है ठाकुर रणजीतसिंह।"

सेठ ने ठाकुर रणजीतसिंह की ओर इशारा करते हुए निर्भीक शब्दो मे उत्तर दिया।

राजा के समीप मे ही बैठे हुए ठाकुर रणजीत सिंह सेठ की बात सुनकर हक्के बक्के रह गये और सेठ को सम्बोधित करके कहने लगे, "हमारी व आपकी, सेठ साहब ! किसी भी प्रकार जान-पहचान नही है, न कभी एक दूसरे के घर आना-जाना है। हँसी-मजाक की भी कोई सीमा होती है ! हँसी-मजाक भी होना है तो किसी स्थान विशेष पर होना है, राजदरबार तो ऐसी बात के लिए उपयुक्त नही कहा जा सकता। आप जरा मुँह सँभालकर बात कीजिये !"

"मैं तो सँभलकर ही बात कर रहा हूँ, जरा आप संभलकर बात करें।" सेठ ने कहा। इस प्रकार दोनो एक-दूसरे पर क्रुद्ध हो गये। राजा ने दोनो के क्रोध को शान्त करते हुए सेठ से कहा, "ठाकुर साहब के चोर होने का प्रमाण पेश कीजिये।"

उसी समय सेठ ने राजा को तलवार पेश की। राजा ने तलवार को बडे ध्यान से देखा और म्यान से निकाला तो उस पर लिखा था 'ठाकुर रणजीत-सिह।' राजा ने ठाकुर रणजीतसिंह की ओर बडे गौर से देखते हुए कहा, "क्यो ठाकुर साहब ! यह सब क्या मामला है ?"

ठाकुर साहब बोले, "अन्नदाता ! यह तलवार कुछ दिन पूर्व मेरे घर मे चोरी मे चली गई थी।"

"यदि चोरी चली गई थी तो तुम्हारा काम था पुलिस मे रिपोट दर्ज कराते। रिपोर्ट दज न कराने से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि चोरी आपने की है। या तो स्वय चोरी स्वीकार करो और यदि आपकी तलवार चोरी चली गई थी तो चोर को पकडो। यदि ऐसा नही करते तो तुम्हे वही सजा सुनाई जायेगी जो चोर को सुनाई जाती है।"

राजा ने ठाकुर को डाँटते हुए कहा, "हम इस बात को भली भाँति जानते हे कि ठाकुर साहब ने चोरी नही की थी लेकिन चोरी गई चीज की यदि वे पुलिस मे रिपोर्ट करा देते तो चोरी के इल्जाम से बच जाते। रिपोर्ट करने से उस वस्तु का उनसे सम्बन्ध समाप्त हो जाता। गुरु की साक्षी मे जब हम किसी चीज की सौगन्ध लेते हे, उस समय कहते है

"अप्पाण वोसिरामि"

अर्थात् मैं अमुक वस्तु का त्याग करता हूँ। त्याग का अर्थ है, उस वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद करना। जब सम्बन्ध कट जाता है तो वस्तु से प्राप्त होने वाले अपराध में हमें बन्दी नही बनना पडता। ठाकुर साहब का क्या बना या नही बना इससे हमें कोई प्रयोजन नही है। समझने की बात तो यह है कि हम गुरु के समक्ष जिस किसी भी वस्तु का त्याग करते है, उसे बुरा मानकर उसका प्रत्याख्यान करते हे तो उससे लगने वाले पाप से या अव्रत से हम अपने-आपको बचा लेते हे। उपर्युक्त दृष्टान्त से भी यही सिद्ध होता है कि मनुष्य बिना अपराध के भी अपराधी बन जाया करता है। त्याग के अभाव मे ही यह सब होता है।

शास्त्रकारो ने जो व्रतो की व्यवस्था बनाई है उसका भी यही आशय है कि व्रत लेने से हमारी आत्मा आस्रव से प्रभावित न हो। जब व्रत से कर्म-बन्धन का छुटकारा हो सकता है तो बिना पाप किये पाप के भागी क्यो बना जाये ? आत्मा अनादि काल से इसी प्रकार असावधान रही है। सौगन्ध, व्रत, पचखान ग्रहण न करके वह अपने को कर्मबन्धन से बोझिल बनाती आ रही है। यदि किसीको त्याग का उपदेश दिया जाता है तो वह सोचने लगता है कि "आज तो मेरे पास अल्प है, कल करोड रुपया हो गया तो।" इस 'तो तो' के चक्कर मे फँसकर हम अपनी आत्मा को कर्मास्रवो से भारी बनाते जा रहे है। सारी सैद्धान्तिक बातें मैने आपके समक्ष प्रस्तुत की है।

नव तत्त्वो के ऊपर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है

"तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्"

नव तत्त्व और उनके प्रयोजन-अर्थ, दोनो पर श्रद्धा होना परमावश्यक है। हम यदि तत्त्वो पर तो श्रद्धा कर लेते है किन्तु उनके प्रयोजन और उद्देश्य की उपेक्षा कर देते ह तो इससे हमे तत्त्वो का ज्ञान मात्र तो हो जाता है किन्तु उससे किसी प्रकार का लाभ नही होता। बिना श्रद्धा के सम्यक्त्व की सोपान पर नही चढा जा सकता और बिना सम्यग्दर्शन के शाश्वत सुख की उपलब्धि सभव नही है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ●●● 11 जुलाई, 1979

६

# वीतरागता और सरागता

वीतरागता जीव के विकास की चरमावस्था है। ससार में ऐसे लोगो की सख्या बहुत कम है जो इसके महत्त्व को समझते है। मानव जो भी क्रिया-कलाप जीवन मे करता है, वह वीतरागता से दूर रहकर करता है। वह वीतरागता को न समझकर सरागता को समझता है। जहाँ कही भी वह देखता है कि उसके रागभाव मे कमी आ गई है तो वह उसे पूरी करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। वह जो भी त्याग करता है सरागता के लिए करता है, वीतरागता के लिए नही। ऐसा वह इसलिए करता है कि जितने लोगो के साथ वह सम्बन्ध बढायेगा या मित्रता स्थापित करेगा, वे उचित अवसर पर उसके काम आयेंगे। ऐसा सोचकर वह अपने रागियो की सख्या बढाता जाता है। परन्तु उसका ऐसा सोचना उसके कुछ भी काम नही आया करता। मित्रो की सख्या समय आने पर व्यर्थ सिद्ध हो जाया करती है क्योंकि वे समय पर या आपत्तिकाल मे काम नही आते। जो समय पर काम न आये वह कैसा दोस्त? इस पर एक कवि की उक्ति है

"वक्त पर काम आये दोस्त उसको जानिये।
वरन् रहता अय जफर यहाँ काम किसका बन्द है।।"

इसी प्रकार सस्कृत के भी एक कवि ने मित्र के लक्षणो का निर्देश करते हुए लिखा है

"शुचित्व त्यागिता शौर्यं,
सामान्य सुख-दु खयो।
दाक्षिण्य चानुरक्तिश्च,
सत्यता च सुहृद्गुणा।।"

अर्थात्—

हृदय की निर्मलता, दानशीलता, वीरता, सुख-दु ख मे समता की भावना,

सरलता, प्रेम और सत्यता—ये गुण जिसमे हो, उसको सच्चा मित्र समझना चाहिए।

ससार के लोगो ने अपनी अनुभूतियो मे दोस्त या मित्र मे उक्त गुणो का अभाव देखा होगा तभी उक्त भावो को कविताओ मे अभिव्यक्ति दी। अब थोडा 'दोस्त' शब्द की निष्पत्ति पर प्रकाश डालना आवश्यक है। इस शब्द के गहन अर्थ पर प्रकाश डालते हुए एक कवि ने लिखा है

> "दोष तीन कर दे अलग, हीर्श हवस और दाम।
> दो सत्यवादी जहाँ मिलें, दोस्त उसी का नाम॥"

अर्थात्

हीर्श—तृष्णा, हवस—अभिलाषा और दाम—धन, ये तीन प्रकार के दोष है, जो दोस्तो मे नही होने चाहिए। कोई रूपवान् है या रूपवती है तो उससे अपनी वासना की तृप्ति का भाव मन में रखना—यह पहला दोष है। दूसरा सम्पन्न है, धनवान है और उदार है तो उससे कुछ प्राप्ति की अभिलाषा रखना—यह दूसरा दोष है। हमारे जीवन की गाडी किसी कारणवश रुक जाये तो उसको चलाने के लिए सहायता की आशा करना—यह तीसरा दोष है। इन तीन प्रकार के दोषो से मुक्त जो दो सज्जन हे उनको दोस्त कहते हे। 'दो' शब्द इस बात का प्रतीक है कि उक्त तीन प्रकार के दोष दोनो मे नही होने चाहिये। तभी वे दोनो सच्चे दोस्त हो सकते हे। इसी दोस्त शब्द को यदि हम सस्कृत भाषा की दृष्टि से देखें तो कहेगे कि जो भाव समान रूप मे दोनो में स्थित रहे—वे दोस्त होते हे। या दूसरे शब्दो मे दोनो का सत्यवादी होना परमावश्यक है, 'दो सत्यवादी जहाँ मिले दोस्त उन्ही का नाम' ऐसी दोस्ती नही है तो फिर दोस्ती किस काम की! नादान की दोस्ती तो जीव का जजाल ही होती है। तो हम आपको बता रहे थे कि दोस्त वही होता है जो विपत्ति में काम आता है

> "आपद्गत न जहाति"

वही सच्चा मित्र होता है। दोस्त शब्द की यह निरुक्ति भी हो सकती है कि दु—अर्थात् दु ख मे जो, स्थ— यानी अपने पास रहे वह दोस्त हे। अनुकूल परिस्थितियो में तो सभी दोस्त होने का दम भरते है, वास्तव में दोस्त तो वे हे जो प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी साथ देते हे। तभी तो रहीम ने कहा है

> "रहिमन विपदा हू भली जो थोरे दिन होय।
> हित अनहित या जगत मे जानि परत सब कोय॥"

अर्थात्—

जीवन में कुछ समय के लिए विपत्ति का समय अवश्य आना चाहिए क्योंकि उसी समय तो पता चलता है कि कौन अपना हित-मित्र है और कौन अनहित पराया है या शत्रु है।

आखिर हम मित्र बनाते क्यों है ? इसका उत्तर एक ही है—अपने लाभ के लिए, अपने कार्यों के सम्पादन के लिए और अपने हित के लिए। इस पर एक सस्कृत के विद्वान् ने प्रकाश डालते हुए लिखा है

"पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यानि गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गत च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिद प्रवदन्ति सन्त ॥"

अर्थात्—

अच्छा मित्र हमारे लिए क्या-क्या नही करता ! वह हमें पापकर्म करने से रोकता है, हित के कार्यों की ओर हमे प्रवृत्त कराता है, हमारे जीवन की जो गुप्त बातें है, उनको छिपाकर रखता है, वह हमारे गुणो का गान करता है, हम आपत्ति से घिर जाते है तो हमारा साथ छोडकर कही नही जाता, समय आने पर आर्थिक सकट मे हमारी सहायता भी करता है—सज्जनात्माओ ने ऐसे मित्र को ही अच्छा और योग्य मित्र कहा है।

इससे यह स्पष्ट है कि मित्र बनाने मे व्यक्ति के अपने प्रयोजन अपेक्षित रहते है। काम की निष्पन्नता उपादान है और उसमे मित्र के रूप मे सहयोगी का मिलना निमित्त है। शास्त्र मे कार्य की निष्पन्नता को आन्तरिक शक्ति माना है और उसमे किसी के सहयोग को बाह्य शक्ति। इन दोनो प्रकार की शक्तियो में आन्तरिक शक्ति का महत्त्व है। दोनो प्रकार की शक्तियो में कौन सी शक्ति बलवत्तरा है—इसका पता हमें वीतरागियो की वाणी से ही चलता है।

वे वीतराग क्या और कैसे है, कुछ इस पर भी यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है। लौकिक-भाषा मे हम वीतराग का यह अर्थ करेंगे कि ऐसी आत्मा जिसका दो पार्टियो मे से किसी के साथ भी सम्बन्ध न हो। दोनो पार्टियो की न तो किसी विधि के अन्दर और न निषेध के अन्दर ही कोई हाथ हो। दूसरे शब्दो मे हम वीतराग को मध्यस्थ या समदर्शी भी कह सकते हैं। इसका कारण है कि वह दोनो पक्षो के साथ समता की भावना रखता है। दोनो ही पक्षो को वह उनके वास्तविक स्वरूप मे देखता है। किसी से भी उसका कोई लगाव नही होता। लगाव से तो दृष्टि मे मन्दता आ जाती है।

एकान्तता आ जाती है। वीतराग तो सर्वज्ञ है, वे तो सब प्रकार की इकाइयो से परे है, और अनेकता के प्रतीक हे । लोग यदि ऐसी कल्पना करें कि ऐसे वीतराग से ससार को क्या लाभ जो ससार का कुछ भी उपकार नही कर सकता, जो ससार की सब प्रकार की समस्याओ से परे है। यह बात युक्ति-सगत नही कही जा सकती क्योकि वीतराग से हमें या ससार को जो लाभ है वह प्रत्यक्ष है। हम अभी आपके सामने दो पार्टियो का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे थे कि वीतराग का किसी भी पक्ष से कोई लगाव नही होता, वे तो मध्यस्थ होते हे। वर्तमान जीवन मे भी मध्यस्थ का बडा महत्त्व होता है। मध्यस्थ उसी व्यक्ति को बनाया जाता है जो दोनो पार्टियो का पूर्ण विश्वासपात्र होता है, जिसके निर्णय की दोनो पार्टियो के सदस्य उपेक्षा नही कर सकते, प्रतिवाद नही कर सकते और मानने से इन्कार नही कर सकते। इसका कारण है कि दोनो पक्षो को उस पर यह अटूट श्रद्धा होती है कि वह अन्यायपूण निणय नही दे सकता। ठीक ऐसे ही वीतराग ह और वीतराग की वाणी है। उसके समझने के लिए मानव मे प्रतिभा, जिज्ञासा और श्रद्धा तीनो अपेक्षित हे। सवज्ञ की वाणी जिसको सन्मार्ग प्रदर्शित करने वाली हो, सत्कर्मो में प्रवृत्त कराने वाली हो, अज्ञानान्धकार से प्रकाश मे ले जाने वाली हो, हमारी प्रवृत्ति को पावनता प्रदान करने वाली हो, हमारी कुरुचि को सुरुचि में परिवर्तित करने वाली हो और हमे अज्ञानान्धकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश मे ले जाने वाली हो तो फिर हमे और किस बात की आकाक्षा है ?

शास्त्रो का कथन है कि ससारी लोगो के हृदयो में सरागता बडी गहराई से घर कर चुकी होती है। इसी कारण उनकी प्रवृत्ति वीतराग की वाणी को सुनने की नही होती। परिणामस्वरूप हमने सरागता का विकास करके अपनी आत्मिक शक्ति को क्षीण ही किया है, उन्नत नही। सरागता का अथ है प्रेमियो की सख्या अधिक बढाना। हमने यह कभी नही सोचा कि जितने हमारे चाहने वाले अधिक बढेंगे उतने ही हमारे बन्धनो की वृद्धि होगी। बन्धनो की वृद्धि जीव के विकास मे उत्तरोत्तर रुकावट डालती चली जायेगी। उसकी अपनी स्वतत्रता समाप्त होती चली जायेगी। वीतराग के ये वचन हे कि हमारी आत्मा में अनत शक्ति विद्यमान है। जब स्वय मे अनन्त शक्ति विद्यमान है तो फिर दूसरो की मित्र के रूप मे या सहायक के रूप मे सहायता ढूढने की क्या आवश्यकता है ? क्यो हम व्यथ मे ही सरागता के शिकार बन-कर अधिकाधिक व्यक्तियो के साथ सम्बन्ध जोडा करते हे ? शास्त्र कहते हे कि सरागता को महत्त्व देकर और वीतरागता के महत्त्व को भूलकर हमने अपनी दुर्बलता स्वय उत्पन्न की है। यदि हमारे द्वारा सरागता को सवथा त्यागना सभव न भी हो तो भी हमारा कर्त्तव्य हे कि आत्मकल्याण के निमित्त हम सरा-

दोगे तो क्या अन्तर पडने वाला है ?" यह बात सही नही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से जिस वस्तु को आप महत्त्व नही देते, निश्चित रूप से आपकी विचारधारा में कभी न कभी उस वस्तु के प्रति उपेक्षाभाव उत्पन्न हो जायेगा। आप स्वय यह अनुभव करने लगेगे कि आपकी कथनी और करनी मे सामजस्य होना चाहिए, जिसकी कमी है। आप उस कमी को पूरा करेंगे। बस, फिर क्या है, आप सरागता से वीतरागता की ओर बढने लगेंगे। जिस दिन विचार, प्रचार और आचार तीनो सही हो जायेंगे उसी दिन हमारी आत्मा शुद्ध बन जायेगी। आत्मा के साथ फिर किसी विकृत तत्त्व का मिश्रण नही रह सकेगा। उस अवस्था में पहुँची हुई आत्मा ही परमात्मा कहलाती है। उसके लिए सर्वप्रथम सम्यक्त्व की आवश्यकता है। सम्यक्त्व के बिना आत्मा का परमात्मा होना अशक्य है। सम्यक्त्व का अर्थ है – सम्यग् दृष्टिकोण। लोक में अनत वस्तुए है। उन सब वस्तुओ से भले ही हम प्रत्यक्ष रूप से लाभ प्राप्त न कर सकें किंतु यदि उन वस्तुओ के प्रति हमारा दृष्टिकोण सही है, यथार्थ है, तो हम निश्चित रूप से उन वस्तुओ द्वारा लाभान्वित हो सकेंगे। जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है उसको उसी रूप मे जब हम समझने लगेंगे, तभी हमारा वस्तुमात्र के साथ सही सबध स्थापित हो सकेगा। आदरणीय वस्तुओ को ग्रहण करके हम लाभान्वित हो जायेंगे तथा त्याज्य वस्तुओ से बचकर हम लाभ उठा सकेंगे। यह सब तभी सभव है जब सम्यक्त्व आ जाये। सम्यक्त्व जब आता है तो शनै शनै मनुष्य की जानकारी, मान्यता और आचरण, सभी ठीक हो जाया करते है। इसी बात को शास्त्रकार निम्नलिखित शब्दो में व्यक्त करते है

"नत्थि चरित्त समत्तविहूण"

अर्थात्—

सम्यक्त्व के बिना चारित्र का क्या महत्त्व है ? चारित्र मे सम्यक्त्व का अस्तित्व अनिवार्य है। दर्शन के साथ तो चारित्र की 'भजना' है और चारित्र के साथ सम्यक्त्व की 'नियमा' है। सम्यक्त्व और चारित्र या तो ये दोनो एक साथ रहते है या फिर पहले सम्यक्त्व और बाद मे चारित्र का स्थान आता है। शास्त्रकारो ने इस विषय पर बडा गम्भीर चिन्तन किया है। जब वीतरागता के परिणामस्वरूप निष्पक्षता की भावना हमारी आत्मा मे आ जाती है तो हमारे अन्दर सभी वस्तुओ को उनके वास्तविक स्वरूप मे देखने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। सब वस्तुओ को उनके वास्तविक स्वरूप में देखना ही शाश्वत सुखो की आरभिक सोपान है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १२ जुलाई, १९७९

# जिस सुख मॉही दुख बसे, वह सुख भी दुख रूप ।।

शाश्वत सुख का अर्थ ही नित्य सुख या सार्वकालिक सुख होता है । शाश्वत सुख मे परिवर्तन भी नही हुआ करता । वह तो तीनो कालो मे समरस रहता हे । शाश्वत सुख न तो उत्पन्न ही होता है और न ही उसका कभी अन्त ही हुआ करता है । "जो आत्मा मुक्तावस्था मे पहुँच गया उसको तो शाश्वत सुख मिल गया परन्तु मुक्तावस्था से पूर्व तो उसमे शाश्वत सुख की सत्ता विद्यमान नही थी, ऐसी स्थिति मे शाश्वत सुख की निरन्तर प्रवहमान धारा के सद्भाव को कैसे स्वीकार किया जाये ?" किसी का इस प्रकार का तर्क व्यक्ति सापेक्ष है, उसे सैद्धान्तिक रूप नही दिया जा सकता । सैद्धान्तिक दृष्टि से मोक्ष का स्थान तो प्रथम है । अमुक एक आत्मा जब मुक्त हुआ तभी से मोक्ष का क्रम आरम्भ हुआ—ऐसा कथन मिथ्या है क्योकि मोक्ष को शास्त्रकार अनादि और अनन्त मानते है । शास्त्र मे ससार के सभी क्रिया-कलापो को चार भागो मे विभक्त किया गया है (१)सादि सान्त, (२)अनादि सान्त, (३)सादि अनन्त और (४)अनादि अनन्त ।

इन चारो मे पहली स्थिति है—'सादि सान्त' जिसका अर्थ है कि कुछ वस्तुए ऐसी है जिनका आदि-आरम्भ भी है और अन्त भी है । उदाहरण के लिए जीव जन्म लेता है और अपनी आयु पूर्ण करके चला भी जाता हे । वह सादि भी है और सान्त भी । दूसरी स्थिति है 'अनादि सान्त' की । अनादि सान्त उस वस्तु को कहते है जिसका कोई आरम्भ तो है नही किन्तु अन्त अवश्य होता है । जैसे जीव अनादि काल से जन्म लेता आया है, छद्मस्थावस्था मे भव-भ्रमण भी करता आया है । तो हमें यह कहना पडेगा कि यह छद्मस्थावस्था अनादि है और जब यह सर्वज्ञावस्था मे पहुचेगा तो छद्मस्थावस्था का अन्त हो जायेगा । तीसरी स्थिति है 'सादि अनन्त' की जिसका आशय है कि वस्तु का आरम्भ तो है किन्तु अन्त नही है । आत्मा को जब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तो वहाँ से उसकी सवज्ञता का प्रारम्भ हो जाता है एव यह सर्वज्ञता

सिद्धि के बाद भी बनी रहती है अर्थात् उसका अन्त कभी नही होता। चौथी स्थिति है—'अनादि अनन्त' की। इसमें न तो आरम्भ ही होता है और न कभी समाप्ति ही। आत्मा या जीव का न तो कभी आरम्भ ही होता है एव न ही यह जीव कभी समाप्त ही होता है। इस प्रकार जीव चिरन्तन तत्त्व होने के कारण अनादि भी है और अनन्त भी है।

जीव वैसे तो अनादि और अनन्त है किन्तु मनुष्य रूप मे या अन्य किसी योनि मे शरीरधारी के रूप मे वह द्रव्य का एक पर्याय है। यह पर्याय तो उत्पन्न होता है और नष्ट भी होता है। मनुष्यादि पर्याय तो आत्मा रूपी अनादि-अनन्त महासागर के अन्दर से उद्वेलित लहरो के समान है। माता के गर्भ मे आते ही मानव-पर्याय आरम्भ हो जाता है। गर्भ मे आते ही, मात्र अन्त-र्मूहूर्त मे गर्भस्थ को छह पर्याप्तियाँ प्राप्त हो जाती है और उसका उत्तरोत्तर विकास आरम्भ हो जाता है।

इस तरह आत्मा की अपेक्षा से तो जीव या आत्मा अनादि और अनन्त है किन्तु एक भव की अपेक्षा से यदि उसे देखा जाये वह सादि भी है और सान्त भी। छद्मस्थ की अपेक्षा से वह अनादि और सान्त है, और केवल ज्ञानी की अपेक्षा से वह सादि और अनन्त सिद्ध होता है। शाश्वत आत्मा का मुक्तिस्थान भी शाश्वत है और उसका अनन्त सुख भी शाश्वत है।

सिद्धावस्था का भी कोई आदि और अन्त नही है। सिद्ध के रूप मे शाश्वत सुख की यदि कोई आदि है तो उसे एक आत्मा की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। व्यक्तिगत बात होने के कारण इस बात को प्रामाणिक रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता। सैद्धान्तिक रूप भी इसे प्रदान नही किया जा सकता। सिद्धान्तो के सामने व्यक्ति का मूल्य नगण्य है। जो सिद्ध हो जाये अर्थात् तर्क की कसौटी पर खरा उतरे वह सिद्धान्त होता है। आत्मा के स्वाभाविक रूप की पहचान मे जो सहायक सिद्ध होते है, उन्हे सिद्धान्त कहते है। वे सिद्धान्त भी परिवर्तनहीन एव शाश्वत होते है। परिवर्तन परिस्थितियो मे हुआ करता है, सिद्धान्तो मे नही। उदाहरण के लिए "पानी से प्यास की तृप्ति त्रिकाल सत्य है।" जो व्यक्ति अवसर देखकर अपने रूप बदलता रहता है, वह सिद्धान्तहीन माना जाता है, उसका विश्वास नही किया जा सकता। जो भयानक परि-स्थितियो मे पडकर भी अपने सैद्धान्तिक पथ से टसमस नही होता वही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता है और प्रशसा का पात्र बन सकता है।

यहा सिद्धान्त शब्द से हमारा सकेत वीतराग की वाणी मे प्रस्फुरित सिद्धान्तो से है। जो व्यक्ति उनको भलीभाँति समझ लेता है उसके मन मे उनके प्रति अटूट श्रद्धा पैदा हो जाती है। उस अटूट श्रद्धा के कारण वह किसी के भी तर्क-कुतर्को के प्रभाव मे आकर अपने सिद्धान्तों से डगमगा नही सकता। वीतराग

की वाणी पर इस प्रकार की अटूट श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है। जो इस सम्यक्त्व का अधिगमन कर लेता है, उसके जीवन मे तो सदा आनन्द ही आनन्द निवास करता है।

दु खो के अत्यन्ताभाव का ही दूसरा नाम शाश्वत सुख या आनन्द है। सुख-दु ख की परिभाषा क्या है ? दु खो के अभाव को सुख कहते है और सुखो के अभाव को दु ख कहते हे। मनुष्य का सासारिक मन अनुकूल वस्तुओ की प्राप्ति से अपने को सुखी मानता है। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो उसकी यह सुख की धारणा काल्पनिक है। सासारिक पदार्थो से और सासारिक विषय-वासनाओ से मिलने वाले सभी सुख क्षणिक, नश्वर व स्वप्न-समान मिथ्या है। नि सन्देह आप अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए, मनोरथो की सिद्धि के लिए और वस्तुओ की उपलब्धि के लिए भगीरथ प्रयत्न करते हे, अपनी शक्ति के बाहर जाकर भी प्रयास करते और बडे से बडा खतरा भी कई बार मोल ले लेते है, किन्तु तनिक शान्त मन से सोचिये कि क्या उससे आपके मन को शान्ति मिल पाती है, क्या उससे आपकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढती तो नही जाती ? एक तृष्णा से अनेक तृष्णाओ का जन्म होता है, ठीक वैसे ही जैसे जल की एक तरग अनेक तरगो को जन्म देती है। एक व्याधि से अनेक व्याधियाँ बढती जाती है। उदाहरण के लिए आपने अथक परिश्रम करके अच्छी-बडी धनराशि एकत्रित कर ली। एकत्र करने मात्र से आपकी व्याकुलता समाप्त नही हो जाती। एकत्रित किए धन की चोरो से, डाकुओ से रक्षा करने की व्याकुलता आपको फिर भी घेरे रखती है। आपका मन और मस्तिष्क चिन्ता से कहाँ मुक्त हो पाया ? धनार्जन की इसी अवस्था को देखकर नीतिकारो का कथन है

> धन तावदसुलभ लब्ध कृच्छ्रेण रक्ष्यते।
> लब्धनाशो यथामृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥
> जनयन्त्यर्जने दु ख तापयन्ति विपत्तिषु।
> मोहयन्ति च सपत्तौ कथमर्था सुखावहा ॥

अर्थात्—

सर्वप्रथम तो धन को प्राप्त करना कठिन है, यदि प्राप्त हो भी जाये तो बडी कठिनाई से उसकी रक्षा करनी पडती है। मिला हुआ धन यदि किसी अप्रत्याशित कारणवश नष्ट हो जाये तो मृत्यु से भी बढकर यातना देने वाला होता है। इसलिए मनुष्य को धन का चिन्तन भी नही करना चाहिए।

धन के अर्जन करने मे भी अनेक प्रकार के दु खो का सामना करना पडता है। आपत्ति आने पर यदि धन का अभाव हो जाये तो दु ख और भी

वढ जाता है। यदि मनुष्य के पास धन-सम्पत्ति वहुत ही वडी सख्या मे एकत्रित हो जाये तो वह अहकार के कारण अपनी सुधवुध ही भूल वैठता है।

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि वह वस्तु जो 'पर' है या 'अन्य' है उससे हमें सुख की प्राप्ति कदापि नही हो सकती। सुख की प्राप्ति तो 'स्व' के स्वरूप को समझने मे है। जो पराया है वह हमारे अज्ञान के कारण बाह्यरूप से हमें अपना प्रतीत होता है परन्तु वास्तव मे तो वह केवल साधन मात्र है। वह साध्य नही है। साध्य की प्राप्ति तो साधनरूप शरीर के त्याग से ही सभव है। शास्त्र की दृष्टि मे शरीर "रस्सी के दो सिरो की जुडी हुई एक गाँठ है।" माता-पिता की गाँठ सन्तान के रूप मे प्रकट हुआ करती है। आत्मा अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए इस शरीर को धारण करता है। उस आत्मा का नाम ही 'स्व' है। शरीर औदारिक है, कुछ लोग औदारिक का अर्थ 'उधार लिया हुआ शरीर' करते है जो सही नही है। वास्तव मे 'औदारिक' शब्द उदार से इक् प्रत्यय लगाकर बनाया हुआ है। उदार का अर्थ है श्रेष्ठ या विशाल। शरीर पाँच प्रकार के माने गये है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस् और कार्मण। इन पाच प्रकार के शरीरो मे औदारिक ही श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ इसलिए कि इस औदारिक शरीर के माध्यम से ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। कठिन से कठिन परिस्थितियो का सामना करना, अनेक प्रकार के परीपहो को सहन करना और घोर तपश्चर्या करना इसी शरीर का काम है। इसकी विशालता मे नो कोई सन्देह है ही नही। एक हजार योजन गहरे समुद्र मे उत्पन्न हुआ एक हज़ार योजन लम्बा कमल समुद्र की सतह पर होता है और उसकी जड समुद्रतल मे रहती है। इस प्रकार ऐसे कमलो की कुल अवगाहना एक हज़ार योजन से भी कुछ अधिक हो जाती है। इनका जीव वनस्पतिकायिक होता है और वनस्पति काय का शरीर औदारिक होता ही है। इस प्रकार के महान् शरीर का धारक शुद्धात्मा भी शरीर को पराया तत्त्व ही समझता है, अपना नही।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीर पराई वस्तु है। पराई वस्तु सदा दु ख का कारण होती है। मनुष्य का विषम स्वास्थ्य भी कई बार दु ख का कारण वन जाया करता है। कोई वस्तु भूतकाल मे दु ख का कारण थी, कोई वर्तमान मे दु ख का कारण है और कोई भविष्य में दु ख का कारण बनेगी। ये सारी सुख-दु ख की अनुभूतियाँ मन पर निर्भर करती है। इसीलिए लोक मे यह कहावत प्रसिद्ध है, "मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।"

मन जव तक सासारिक पदार्थो मे काल्पनिक और क्षणिक सुख के लिए आसक्त रहेगा तब तक आत्मकल्याण नही कर सकता। बिना आत्मकल्याण के अनन्त सुख की प्राप्ति सभव नही है। ससार मे जितने भी सुख है वे मात्र

सुखाभास है, वास्तविक सुख नही । अच्छे से अच्छे भोजन खाने का सुख कब मिलेगा ? जब उसके पीछे भूख का दु ख होगा । जल पीने का आनन्द कब मिलेगा जब तृषा की व्याकुलता होगी । किसी कवि ने कहा भी है

"विद्या कण्ठा माँय, पण उमग बिन आवे नहीं ।
भोजन भाणाँ माँय, पण भूख बिन भावे नही ॥"

इस विवरण से यह भी स्पष्ट है कि आनन्द पदार्थों मे निहित नही है किन्तु आनन्द तो हमारे भीतर है । यदि हमारा अन्तर् मन रुचिहीन है, अप्रसन्न है या अस्वस्थ है, तो हमे स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ भी नही भाता । मोक्ष मे तो दु खो का अत्यन्ताभाव है । वहाँ तो अनन्त सुख ही सुख है । 'ओववाइय सूत्र' मे इस प्रसग से सम्बन्ध रखने वाला उल्लेख निम्न प्रकार से है

"पाँच विगयो का रुचिपूर्वक आहार करने के पश्चात् जो तृप्ति होती है, उसका अनन्तगुणा सुख मोक्ष मे मिलता है ।" यहाँ 'विगय' का अर्थ आधुनिक युग की भोजन-प्रणाली मे स्वास्थ्यवधक उपयुक्त विटामिन भी किया जा सकता है किन्तु शास्त्रीय अथ का सकेत तो सात्विक भोजन से है या दूसरे शब्दो में ऐसे भोजन से जिसमे तामसिक तत्त्वो का अभाव हो ।

"मोक्ष मे तो शरीर होता ही नही फिर मोक्ष के सुख की तुलना शरीरधारी के भोजन की तृप्ति से कैसे की गई ?" इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर है कि ससारी लोग भोजन के द्वारा मिलने वाली तृप्ति को ही वास्तविक तृप्ति समझा करते है इसलिए उनको तत्त्व समझाने के लिए ऐसी तुलना की जाती है । यह बात सत्य है कि मोक्ष मे शरीर का अभाव होता है

"एक 'नना' सौ दु ख टाले"

एक शरीर के न होने से सैकडो दु ख टल जाते है ।

वास्तव मे शरीर ही तो दु खो का कारण है । इसीलिए तो इस शरीर मे निवास करता हुआ जीव भी दु ख को सुख समझकर अनेक प्रकार के कर्मो मे प्रवृत्त होता है और उत्तरोत्तर पापकर्म बाधता जाता है । किसी ने ठीक ही तो कहा है कि जिस सुख मे भी दु ख छिपा हुआ है वह सुख किस काम का ?

"जिस सुख माँही दुख बसे, वह सुख भी दुख रूप !"

जैन-भवन, डेह (नागौर) १३ जुलाई, १९७९

# तेल के कटोरे मे केन्द्रित मन

शाश्वत सुख की अनुभूति तो जीव मुक्त होने के पश्चात् ही कर सकता है । मुक्ति का अर्थ 'छुटकारा' है । मोक्ष भी मुक्तावस्था को ही कहते है । मिथ्यात्व जीवन का सबसे बडा बन्धन है, उससे छुटकारा पाना ही मुक्तावस्था का आरभ है । मिथ्यात्व को ही कर्म के बन्धन के नाम से भी पुकारा जाता है । आठ प्रकार के कर्मों मे मोह कर्म सब कर्मो का राजा है । मोहनीय की २८ प्रकृतियो मे से ही एक मिथ्यात्व प्रकृति है । यह मिथ्यात्व तो सभी का शिरोमणि है ।

पाप कहो या पातक, एक ही बात है । इनकी सख्या १८ है । पातक शब्द का अर्थ 'पतन कराने वाला' होता है । पतन उसी का होता है जो ऊपर की ओर उठता है । ऊपर की ओर उठना आत्मा का धर्म है । "आत्मा या जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगति है, ऐसा ज्ञाताधर्मकथाग के छठे अध्ययन मे उल्लेख है । आत्मा उन्नति करता है, ऊपर की ओर चढता है । चढना क्षेत्र की दृष्टि से भी होता है, जैसे सप्तम नरक से चढते-चढते मनुष्य गति मे आना । इस प्रकार क्षेत्र और गति दोनो की अपेक्षा से वह ऊपर चढता है । सात राजू से भी कुछ अधिक ऊचा आता है । इसे क्षेत्र की दृष्टि से ऊचा चढना समझना चाहिए । गुणस्थान की दृष्टि से भी जीव चढता है । गुणस्थानो की सख्या १४ है । पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान मे आता है, चौथे से फिर पाँचवें, छठे—इस प्रकार वह उत्तरोत्तर ऊचा चढता जाता है । गुणस्थान की दृष्टि से आत्मा ऊपर तो चढता है किन्तु स्थान की अपेक्षा से वह रहता उसी जगह पर है, मात्र उसकी स्थिति या परिस्थिति बदलती है । आत्मा उन्नतावस्था मे पहुच जाता है । पाप उस उन्नतावस्था से आत्मा को गिरा देता है । १८ प्रकार के पापो मे हिंसा पहला पाप है । दस प्रकार के प्राणो मे से किसी भी प्रकार के प्राण का हनन कर देना या दूसरे शब्दो मे शरीर का प्राणो से विच्छेद कर देना हिंसा है । प्रमाद से ऐसा करना हिंसा कहलाता है । इसीलिए शास्त्र मे लिखा है :

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा ।"

दूसरा पाप है 'मृषावाद' । लौकिक भाषा मे इसे 'झूठ' कहते है। तीसरा पाप 'चोरी' है । शास्त्रीय भाषा में इसे 'अदत्तादान' के नाम से अभिहित किया जाता है। 'अदत्तादान' शब्द बडा ही रहस्यात्मक है। 'अ' यानी 'नही', दत्त यानी दिया गया । जो नही दिया गया उसका आदान-ग्रहण करना अदत्तादान का विश्लेषणात्मक अर्थ है। और स्पष्ट शब्दो मे जो वस्तु हमें किसी के द्वारा दी नही गई उसको ग्रहण कर लेना अदत्तादान है । माग में चल रहे हो, किसी की वस्तु गिरी पडी है, "लाधा माल खादा ।" "इस वस्तु को प्राप्त करने के लिए मैं किसी के घर चोरी करने तो नही गया, यह तो मुझे मार्ग मे पडी मिली है तो फिर इसको ग्रहण करने में क्या हानि है ?" इस प्रकार सोचना भी बडी भारी भूल है। जैनागम के अनुसार 'पडियवत्थुहरण' (सावयावस्सय) ऐसी वस्तु को लेना और उसका उपयोग करना भी चोरी है। कारण कि उस वस्तु को हमे किसी ने दिया नही है। अपने ही घर की खुदाई से कुछ धन-माल मिल जाये, वह भी चोरी है क्योकि उसे भी किसी ने हमे दिया नही है। हाथ से देने वाला भी यदि मारने के भय से देता है तो वह भी चोरी है । उसके देने में प्रेरक उसका मन नही किन्तु भय है। वस्तु में देने की भावना न होने से वह भी चोरी ही कहलाती है ।

कोई व्यक्ति किसी वस्तु को भय से भी नही दे रहा है, घर की ही वस्तु होने से बडी प्रसन्नता से दे रहा है किन्तु दाता को यदि उस वस्तु को देने का अधिकार नहीं है तो भी शास्त्रकार उसे चोरी मानते है। साझे की वस्तु हे जिस पर घर के सभी सदस्यो का अधिकार है, उस वस्तु को भी यदि कोई एक सदस्य किसी को दे रहा है तो वह भी चोरी है। अपने हिस्से की वस्तु देने मे चोरी नही है। देने वाला व्यक्ति अपने अधिकार की वस्तु को यदि प्रसन्नतापूर्वक दे रहा हो किन्तु लेने वाला उसे सग्रह की भावना से ले रहा हो तो वह भी चोरी के अन्तर्गत है । इस दशा मे चोरी लेने वाले को लगती है । इस प्रकार चोरी की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है—एक तो देने वाले स्वामी की अपेक्षा से और दूसरी लेने वाले की अपेक्षा से । ग्रहीता के ऊपर भी एक सत्ता रहती है। साधुओ के ऊपर तीर्थकरो की सत्ता है, जिनकी आज्ञा और अनुशासन मे वे चलते है। शास्त्रो का भी उन पर अधिकार है। यदि वे शास्त्रो की, जो तीर्थकरो की वाणी है, परवाह न करके लेते है, मर्यादा का उल्लघन करते है, तो दाता तो दोष का भागी नही बनता किन्तु ग्रहीता दोष का भागी बनता है। जैन शास्त्रो मे अदत्ता-दान का बडा सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । यह अदत्तादान तीसरा पाप है ।

चौथा पाप मैथुन है। ब्रह्मचर्य का भग मैथुन कहलाता है। ब्रह्मचय शब्द का मौलिक अथ है "अपने ब्रह्म मे ही रमण करना ।"

"जीवो बभा जीवमि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो ।
त जाण बभचेर विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ।।
—भगवती आराधना, ८७८

ब्रह्म का अर्थ है, अपना ही आत्मा, उसमे रमण करना या स्थिर रहना ही ब्रह्मचर्य है। जहाँ हम अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से आशिक रूप में भी सम्पर्क या आनन्द प्राप्त करने का विचार करते है वहाँ ब्रह्मचय-भग का दोष हमे लग जाता है। ब्रह्मचर्य का विरोधी शब्द 'मैथुन' है जो चौथा पाप है। मैथुन शब्द की उत्पत्ति मिथुन से होती है, मिथुन का अर्थ युगल या या जोडा है। आत्मा की किसी अन्य पदाथ मे सपृक्ति की झलक स्पष्ट रूप से 'मिथुन' मे मिल रही है। यह हमारा आत्मा आठो कर्मो की प्रकृतियो को भोग रहा है। इस से यह स्पष्ट है कि आत्मा पृथक् है और कर्म प्रकृतियाँ उससे भिन्न है। शास्त्र मे आत्मा को पुरुष माना है

"क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष"

आत्मा पुरुष है और कर्मप्रकृति स्त्री है। कर्मप्रकृति के भोग को भी शुद्ध ब्रह्मचर्य की दृष्टि से निषिद्ध बताया गया है। इस दृष्टि से तो पूण ब्रह्मचारी केवल सिद्ध भगवान है। जब आत्मा के लिए अन्य वस्तुओ के भोग का निषेध है तो कर्मप्रकृतियो का भोग भी नही होना चाहिए। ऐसी अवस्था केवल सिद्धो की होती है। सिद्धो के नीचे सभी जीव कर्मप्रकृतियो का भोग करते है और उदयभाव के अधीन विचरते है।

पाचवाँ पाप है परिग्रह। परिग्रह का अथ है परि—पूर्णरूपेण ग्रह—पकडना। अर्थात् किसी वस्तु की पूरी पकड। ऐसी पकड जिसको दूसरे तो क्या हम स्वय भी समझने मे असमर्थ होते है कि हम किसी के द्वारा पकडे हुए है। शास्त्र के अनुसार जो वस्तु हमारे अधिकार मे है उसके प्रति लगाव, ममत्व या आसक्ति ही परिग्रह है। आसक्ति का दूसरा नाम मूर्च्छा भी है। शास्त्रो मे

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"
—दसवेआलिय, ६/२१

मूर्च्छा को ही परिग्रह माना है। यह मूर्च्छा या आसक्ति ही जीव को वस्तुओ के साथ बाँधकर रखती है। जिस वस्तु पर हमारा ममत्व है, वह कही भी पडी हुई हो, कितना ही बडा अन्तर क्यो न हो, तार, डोरी या किसी प्रकार की शृखला के अभाव मे भी वह वस्तु हमे अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। दूरस्थ वस्तु की सहसा स्मृति आते ही हम सब कुछ छोड-छाडकर उसकी प्राप्ति के लिए लम्बी से लम्बी यात्रा के लिए कटिबद्ध हो जाते है।

इसी बन्धन को ममत्व का बन्धन कहते है। कभी-कभी तो यह बन्धन इतना उग्र हो जाता है कि हमे गहरी चिन्ता मे डाल देता है। हम दिवानिश बेचैन रहने लगते है कि जो वस्तु हमे प्यारी है उस पर कोई दूसरा अधिकार न कर ले, उसे विकृत न कर दे, उसे चुरा न ले और हमे उससे वचित न कर दे। वह वस्तु चाहे कोई मूल्यवान रत्न हो, स्त्री हो, पुत्र हो, मित्र हो—कोई भी हो, कुछ भी हो।

दूसरा बन्धन है वान्छा का। जो वस्तु हमारे पास नही है, हमारे अधिकार में नही है, हमारे से सम्बन्धित नही है किन्तु दूसरे की है, दूसरे के अधिकार मे है उस वस्तु की प्राप्ति की लालसा करना,दिन-रात उसी के चिन्तन मे डूबे रहना, "किस उचित या अनुचित उपाय मे उसकी प्राप्ति हो" इसके लिए सोचना आदि-आदि वान्छा कहलाती है। सक्षेप मे, वस्तु के असद्भाव मे उसकी इच्छा करना वान्छा है और सद्भाव मे उसके प्रति आसक्ति रखना ममत्व है।

इसीप्रकार वाछा का परिग्रह भी सम्यक्त्वी नही रखा करता। वह तो सोचा करता है "जो वस्तु मेरी नही है, उसकी अभिलाषा मैं क्यो करूँ? परिग्रह के पाप को देखते हुए तो मुझे अपनी वस्तु का भी त्याग करना पडेगा फिर भला दूसरे की वस्तु को चाहना मेरे लिए कहाँ तक उचित है? वाछा और ममता इन दोनो को छोडकर अपने आत्मा मे रमण करना ही मेरा कर्तव्य है।

घर के अन्दर मूल्यवान से मूल्यवान वस्तुओ के ढेर लगे हो, करोडो की सम्पत्ति हो परन्तु यदि हमारा उसके प्रति ममत्वभाव नही है, आसक्ति नही है तो हम परिग्रह के पाप के भागी नही बनते। यदि कुछ भी न होते हुए सासारिक वस्तुओ के प्रति ममत्व है तो परिग्रह का दोष लग जाता है। इस प्रकार व्यक्ति सब कुछ होते हुए भी अपरिग्रही रह सकता है।

उदाहरण के लिए भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के अधिपति थे। छहो खण्डो की वस्तुएँ उनके अधिकार मे थी परन्तु किसी भी वस्तु के प्रति उनके मन मे ममत्वभाव नही था। बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उनकी आज्ञा का पालन करते थे और एक लाख बानवे हजार स्त्रियो के साथ वे रमण करते थे किन्तु यह सब होते हुए भी वे ममत्वहीन थे। चक्रवर्ती होने के नाते वे सभी प्रकार के उत्तरदायित्व को पूणरूपेण निभाते थे। यह सब वे कर्तव्य-पालन के लिए करते थे, उनमे 'अह' भाव का सर्वथा अभाव था। सब कुछ करते हुए भी वे आत्मस्वरूप मे लीन रहते थे, वे ससार मे रहते हुए भी कमल की तरह निर्लेप थे। यही कारण था कि वे उसी भव मे मोक्ष के अधिकारी बने।

इस प्रसग मे मुझे एक पावन प्रसग स्मरण हो आया है। भगवान् ऋषभदेव अयोध्या मे विराजमान थे। १२ प्रकार की परिषद् जुडी हुई थी। देव देवियाँ,

स्त्री-पुरुष आदि सभी अपने अपने स्थानो मे एकाग्रमन बैठे हुए थे। भगवान् परिग्रह के प्रसग का वर्णन कर रहे थे। महाआरम्भ, महापरिग्रह, नरक का कारण है। चार कारणो से जीव नरक का आयुष्य बाँधता है

(१) महा आरम्भयाए (२) महापरिग्गहाए, (३) कुणिमाहारेण (४) पचेन्दियवहेण

—ठाण ४

महाआरम्भ, महापरिग्रह, मासाहार और पचेन्द्रिय-प्राणी का वध—इन चार कारणो से जीव नरक गति का आयुष्य बाँधता है। सुनने वालो मे सब प्रकार की विचारधारा के व्यक्ति थे। किसी के मन मे कुछ, किसी के मन मे कुछ, सब अपने-अपने विचारो मे मस्त थे। सहसा एक स्वर्णकार खडा हुआ। प्रश्न किया "भगवन् ! भरत चक्रवर्ती कितने भवो के बाद मोक्ष जायेंगे ?" उसने बडे कलात्मक ढग से पूछा था। भरत चक्रवर्ती लोकदृष्टि मे महाआरम्भी और महापरिग्रही थे और थे छह खण्ड के वैभव के अधिपति। इनसे बढकर कौन परिग्रही हो सकता था ? राज्य मे स्थान-स्थान पर आरम्भ और उद्योग की योजनायें चल रही थी। तब कौन से नरक का अधिकारी होगा वह ? कितने समय तक उसे नरक मे रहना पडेगा ? ये बातें साफ-साफ प्रश्नकर्त्ता ने नही पूछी। भगवान् पूछने वाले की भावना से अनभिज्ञ नही थे। वे तो विशाल ज्ञान के धारक थे। उपस्थित लोग सोच रहे थे, "बडा ही पेचीदा प्रश्न पूछा है, इसने।" भगवान् जब महाआरम्भ और महापरिग्रह का विवेचन कर रहे थे, उसी समय यह प्रश्न पूछा गया। भगवान ने प्रत्युत्तर मे कहा 'भरत चक्रवर्ती इसी भव मे मोक्ष मे जायेगा। यह तो उसका अन्तिम भव है। भरत इसी भव मे केवलदशन और केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष चला जायेगा।" भगवान् का उत्तर सुनकर, स्वर्णकार यथा-स्थान बैठ गया किन्तु उत्तर से सन्तुष्ट नही हुआ। पास मे बैठे लोगो से काना-फूसी के रूप मे कहने लगा, "क्यो न जायें मोक्ष, पिताजी मोक्ष देने वाले और बेटा मोक्ष जाने वाला। ऐसा अवसर भी क्या बार बार मिल सकता है ?" "नानाणा मे ब्याव और माँ पुरसणवाली" फिर भोजन मे कमी क्यो ? धीरे-धीरे यह बात सारी सभा मे फैल गई। सभा समाप्त होते ही लोग अपने-अपने घरो को चल दिये। सभा की स्वर्णकार की बात सारी अयोध्यानगरी मे विद्युत् गति के समान फैल गई। यत्र-तत्र जहाँ देखो वहाँ यही चर्चा "पिता मोक्ष देने वाला और पुत्र मोक्ष जाने वाला" चल रही थी। इस चर्चा की सारी जानकारी चक्रवर्ती भरत को भी हो गई थी। अच्छा राजा अपने तन्त्र को चलाने के लिए प्रजा की पूरी जानकारी रखा करता है।

सायकाल का अन्धकार अभी-अभी ही फैलना आरम्भ हुआ था। लोग

एकत्रित हुए सामान्य जन के सभा-भवन में। सब नीचे मुह किये हुए खडे थे, कोई कुछ भी नही बोल रहा था। भरत ने सबके मुखो पर उदासी की छाया देखकर उदासी का कारण पूछा। उत्तर मिला, "बाप जी, खबर तो अच्छी नही है। आपके प्रति प्रजाजनो के भाव कलुपित हे। इसका सम्बन्ध भगवान् ऋपभदेव के प्रवचन मे पूछे गये एक स्वणकार के प्रश्न से है। भगवान् ने जो उत्तर दिया उससे असन्तुष्ट होकर जो कुछ स्वर्णकार ने लोगो को कहा उससे आपकी निन्दा का सारा विप प्रजा में फैल गया। स्वर्णकार का यह कथन कि 'भगवान् ऋषभदेव जैसे पिता मोक्ष देने वाले और भरत जैसे पुत्र मोक्षजाने वाले, मोक्ष तो इनके हाथ की ही बात है' आपके यश के लिए घातक सिद्ध हुआ है।" भरत ने इस घटना को सुनकर सोचा "एक अश्रद्धालु स्वर्णकार ने समस्त प्रजा के मन में सर्वज्ञ भगवान् की वाणी के प्रति अनास्था उत्पन्न कर दी है। अवश्य ही मुझे इसके लिए युक्तियुक्त उपाय करना चाहिये।"

दूसरे दिन प्रात सभा बुलाई गई। भरत ने स्वर्णकार को सभा मे उपस्थित होने के लिए दूत भेजा। दूत-मुख से राजसभा में बुलावा पाकर स्वर्णकार व्याकुल हो गया। सोचने लगा

**राज रो तेडो मत आइज्यो,**<br>**जम रो तेडो आज्याइज्यो।**

अर्थात्—"यमराज के पास जाना इतना खतरनाक नही है जितना राजा के पास जाना।

यमराज की बात तो अगले जन्म से सम्बन्ध रखती है, राजा तो इसी जन्म में दण्ड दे देता है।"

स्वर्णकार गया और हाथ जोडकर सभा में खडा हो गया। वह जानता था कि उसके अपराध के लिए मृत्युदण्ड मिलेगा। उसके आने के पहले ही भरत ने एक तेल का कटोरा पूर्ण रूप से भरवा कर तैयार रख छोडा था। कटोरे की ओर सकेत करके भरत ने स्वर्णकार से कहा "उठाओ इस कटोरे को। इसे लेकर जाओ और अयोध्यानगरी के गली-बाजारो मे घूम-फिरकर पुन यही लौटकर चले आओ। इस बात का ध्यान रखना कि कटोरे से तेल की एक बूंद भी कही गिरने न पाये और गिर गई तो तुम्हारा सिर धड से अलग कर दिया जायेगा।"

स्वर्णकार सोच रहा था "कटोरे का तो एक बहाना मात्र है, यह तो मुझे मारने का एक ढग ढूढ निकाला है राजा ने।" उसने कटोरा उठाया। उसकी सारी चित्तवृत्ति उस कटोरे में केन्द्रित हो गई। उसका ससार, उसका जीवन और उसका देव, सब कटोरे की स्थिरता पर ही निभर करते थे।

वह पूर्णरूपेण खो गया कटोरे की सार-सभाल मे। चार शस्त्रधारी व्यक्ति भी उसके साथ-साथ चल रहे थे, राजा के इस निर्देश के साथ कि 'तेल की एक बूंद भी गिरने पर उसका सिर कलम कर दिया जाये।' उनके कान मे यह भी कह दिया गया था कि एक बूंद क्या, यदि सारा कटोरा भी गिर जाये तो स्वर्णकार को कोई भी दण्ड नही देना है, केवल भयभीत रखना है। मध्यम और अधम प्रकृति के लोग विना भय के नियन्त्रण में नही रहा करते। उत्तम प्रकृति के व्यक्तियो के लिए यह सब करने की आवश्यकता ही नही होती, वे तो स्वभाव से ही केन्द्रित होते है।

एक ओर तो स्वर्णकार को तेल का कटोरा लेकर अयोध्या नगरी के गली-कचो में घूमने का आदेश दिया गया और दूसरी ओर सारी नगरी मे यह घोषणा करवा दी गई कि सब कलाकार अपनी-अपनी कलाओ का प्रदर्शन करें।

यत्र-तत्र नगर के प्रमुख मार्गो पर वेश्याये नृत्य करने लगी, चतुष्पथो पर पहलवान कुश्ती के अखाडे में कूद गये और इन्द्रजाल के ज्ञाता अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाने लगे। जहाँ देखो वही आकर्षण, कोई भी अयोध्या नगरी का स्थान आकर्षणविहीन नही रहा। ये सारी आकर्षण की क्रियाए मन को विचलित करने के लिए की गई थी। स्वर्णकार सारी अयोध्या नगरी मे चक्कर लगाकर राजदरबार मे उपस्थित हो गया और कही तेल की एक बूंद भी कटोरे से पृथ्वी पर नही गिराई। शस्त्रधारी सिपाही भी उसके साथ लौट आये। भरत ने पूछा "क्यो स्वर्णकार! सारी अयोध्या नगरी मे घूम आये?" उत्तर स्वीकारात्मक मिला। रक्षको से पूछा "क्यो, मार्ग मे कोई तेल की बूंद तो नही गिरी?"

"अन्नदाता गिरती, तो यह जीवित कैसे लौटता?"

भरत ने पूछा "क्यो स्वर्णकार! किस चौराहे पर क्या-क्या देखा? कौन-सी वेश्या क्या गा रही थी? कौन सा बाजा बज रहा था?"

"अन्नदाता! मेरे लिए तो सारी कलायें एक मात्र तेल के कटोरे मे केन्द्रित थी। मुझे तो कुछ भी पता नही कहाँ क्या हो रहा था।"

स्वर्णकार ने नम्रताभरे शब्दो मे उत्तर दिया।

भरत ने फिर पूछा, "कुछ समझे या नही।" "मै तो केवल यही समझा हूँ कि मैने व्याख्यान मे आपके विरुद्ध भगवान् से प्रश्न किया था और आपने द्वेषवश मुझे मारने का षड्यत्र रचा। लेकिन मेरा आयुष्य प्रबल था, इसलिए मैं बच गया।" स्वर्णकार ने निर्भीकता से उत्तर दिया।

"यही समझे तो क्या समझे? तुम्हे मारने के लिए भला मुझे षड्यत्र करने की क्या आवश्यकता थी। राज के विरोधी को और तीर्थंकर की वाणी की अवज्ञा करने वाले को तो तुरन्त मौत के घाट उतारा जा सकता है। उसके लिए

ऐसा प्रयोग करने की आवश्यकता ही नही थी ।" भरत ने स्वर्णकार को समझाते हुए कहा ।

"यदि ऐसा है तो अन्नदाता, मैं कुछ भी नही समझा ।" स्वर्णकार ने अत्यन्त विनम्रभाव से भरत को उत्तर दिया ।

"तो अब समझने का प्रयत्न करो । जिस प्रकार सारी अयोध्या का आकर्षण तुम्हारे लिए कुछ नही था, तुम्हारे लिए तो कटोरा ही सब कुछ था, ठीक इसी प्रकार यह छह खण्ड का राज्य, ये भण्डार, निधान, रत्न-राशि और रानियाँ मेरे लिए कोई आकर्षण की वस्तुए नही है । मेरे मन मे इनमे से किसी के प्रति किसी भी प्रकार का ममत्व नही है । जैसे तुम्हारा ध्यान केवल कटोरे पर ही केन्द्रित था, इसी प्रकार मेरा मन केवल उस दिन की ओर केन्द्रित है जब मैं इन सब वस्तुओ का परित्याग करके भगवान् के चरणो मे लीन हो जाऊँगा ।" भगवान् ऋषभदेव ने ठीक ही कहा था कि "जो व्यक्ति ससार मे रहते हुए भी निर्लिप्त, निर्ममत्व और वाछारहित होता है वह इसी भव मे मोक्ष का अधिकारी होता है ।" प्रत्येक व्यक्ति परिस्थितियो के आने पर अपने-आपको सब तरह से निर्लिप्त बना सकता है और मन को एक स्थान पर केन्द्रित कर सकता है । यह बात प्रत्येक व्यक्ति पर लागू हो सकती है ।

इस प्रकार सक्षेप मे सासारिक वस्तुओ मे आसक्ति या मूर्च्छा ही परिग्रह है । आसक्ति से मुक्ति का नाम ही अपरिग्रह है । जब आत्मा निर्लिप्त, ममताहीन, सब प्रकार की इच्छाओ और वाछाओ से छुटकारा पा लेता है तो मोक्ष-सुख की ओर अग्रसर होता है ।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १४ जुलाई, १९७९

१

# कर्ममुक्त बनो, पुण्यवान् नही

सुख दो प्रकार के होते हैं शाश्वत और अशाश्वत। वास्तव मे अशाश्वत सुख को तो सुख कहना ही नही चाहिए। अशाश्वत दुःख होता है और शाश्वत सुख। लौकिक भाषा मे अशाश्वत का अर्थ क्षणिक सुख के लिए किया जाता है। सरल शब्दो मे, अल्प समय के लिए रहने वाला सुख अशाश्वत सुख कहलाता है और सदा रहने वाला सुख शाश्वत होता है। ज्ञानी पुरुषो के अनुसार शाश्वत सुख ही वास्तव मे सुख होता है। अल्प समय का सुख तो हमारा अपना न होकर, शुभकर्मजन्य-अनुभूति होती है। शुभ के साथ कर्म का प्रयोग ही इस बात का सूचक है कि वह सुखदायी नही है। ऐसा कम जो हमारे मन को व्याकुल रखे, अशान्त रखे और अस्थिर रखे उसे अशुभ कम या पापकर्म कहते है। जिसको हम पुण्यकर्म कहते है, उसके उदय के समय तक, हमारा मन प्रसन्न रहता है, परिस्थितियो की अनुकूलता रहती है और सब प्रकार सुखसामग्री हमे प्राप्त होती रहती है। कुछ मनीषियो के मत मे इसे अशाश्वत सुख कहा जाता है, वास्तव मे तत्त्वज्ञानी पुरुष शुभ कर्मो से मिलने वाले सुख को सुख नही मानते। उनका कथन है कि अशुभ कर्मो से मिलने वाले दुःख यदि प्रकट है तो शुभ कर्मो से मिलने वाले दुःख अप्रकट है। अशुभ प्रत्यक्ष और शुभ अप्रत्यक्ष शत्रु है। अशुभ से हमे सदा सावधान रहने की प्रेरणा मिलती है। सतत जागृत रहने की चेतावनी मिलती है लेकिन पुण्यकम तो अप्रकट शत्रु है, वह अधिक खतरनाक है। प्रत्यक्ष मे वह मित्र के समान है अप्रत्यक्ष मे वह शत्रु है। प्रत्यक्ष शत्रु इतना बुरा नही होता जितना अप्रत्यक्ष शत्रु। प्रत्यक्ष शत्रु के क्रिया-कलाप से तो हम परिचित होते है इसलिए उसकी गतिविधियो से सावधान रहते है किन्तु गुप्त शत्रु को तो हमारे लिए पहचानना भी कठिन होता है। वह ऊपर से मित्र जैसा मधुर व्यवहार हमारे से रखता है किन्तु अन्दर से हमे बडी से बडी हानि पहुचाने के लिए ताक लगाये बैठा रहता है। उसके बाह्य आत्मीय व्यवहार से तो कभी-कभी हम इतने आकर्षित हो जाते है कि हम उसे अपना अभिन्न समझने लगते हैं। अपना उसे शुभचिन्तक समझने लगते है। वह हमारा सब

से बडा विश्वासपात्र बन जाता है । मारवाडी भाषा मे इसे

"दीपक लेकर अपना घर दिखाना"

कहते है । बडे प्रसन्न होते है हम उसको अपना घर दिखाकर, ऐसे अनुभव करने लगते है जैसे वह ही घर का स्वामी है । अवसर पाकर वह हमारा तो सत्यानाश कर देता है और स्वय सम्पत्ति का अधिकारी बन बैठता है । ज्ञानी पुरुष शुभकर्मो को या पुण्यकर्मो को इसीप्रकार से समझने की चेतावनी देते है । उनका कथन है कि, "मानव को सदा सावधान रहना चाहिए । जिस समय शुभकर्मो का उदय हो, उस समय किसी प्रकार की भी गफलत नही करनी चाहिए, अन्यथा घर के नाश की सभावना रहेगी । पापकर्म पुरुष का बडा प्रबल शत्रु है, तो भी दु ख भुगताकर सावधान तो कर देता है किन्तु पुण्यकर्म तो उदयकाल मे मनुष्य के लिए मनोनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उसको अपने अधीन बना लेता है । पुण्य या शुभकर्मो की कटु आलोचना इसलिए की जाती है कि उनका परिणाम स्थायी नही होता । केवल इतना ही नही, उसमे प्रलोभन और लालच देकर अधीन करने के तत्त्व रहते है । उसके जाल मे फँसा जीव अपने-आपको सर्वथा भूल जाता है । जब उसका उदय और अवधि समाप्त हो जाते है, उस समय जीव ने जितने परिमाण मे शुभकर्म किये होते है, उनसे कई गुना अधिक जीव को दु खो का सामना करना पडता है । प्राणी को दु ख भोगने मे सावधानी की इतनी आवश्यकता नही रहती जितनी कि सुख भोगते समय सावधानी की आवश्यकता रहती है । उदाहरण के लिए हम पर कोई आक्रमण करने वाला हो और हमे उसकी सूचना मिल जाये तो हम आत्मरक्षा के लिए तथा शत्रु को पछाडने के लिए पूरे शस्त्रास्त्रो से लैस होकरतैयारहो जायेंगे । हमे तैयार देखकर आक्रमणकारी भी बहुत बडा साहस करने से कतरायेगा । ऐसा भी हो सकता है कि हम उसे अपने ऊपर प्रहार करने का अवसर ही न दें परन्तु यह सब तभी हो सकता है जब हम पूरी तरह से सावधान रहे । दूसरे शब्दो मे हमारा बचाव सावधानी का ही परिणाम है, अप्रमत्तता का फल है ।

पुण्य से प्राप्त होने वाला सुख तो हमे सर्वथा असावधान बना दिया करता है । हम अपने-आप मे इतने खो जाते है कि हम किसी अन्य को अपने समान समझते ही नही । ठीक ही तो प्रचलित है मारवाडी भाषा मे निम्न-लिखित लोकोक्तियाँ ।

१ मरे जिको दूजा, मैं तो करावा पूजा ।

२ इण भव खाइये मीठो, आगलो भव कुण दीठो ?

३ करो मोती मालपुआ, बोहरा लेसी हुआ-हुआ ।

अरे ! बोहरा क्या लेंगे ? हमारे पास कुछ होगा तभी तो बोहरा लेंगे ! जब

मालपुआ उडाकर बावा जी बन जायेंगे, पास मे फूटी कौडी भी नही रह जायेगी, तब बोहरा हमारे से क्या ले लेगा ? इस प्रकार शुभ कर्म का उदय चलता रहता है और हम सुख भोगते-भोगते उत्तरोत्तर गफलत मे पडते जाते है। शुभ कर्म का उदय समाप्त होते ही, अशुभ कर्म सामने आता है। यह स्थिति ऐसी हो जाती है जैसे किसी को शहद से लिपटी हुई तलवार मिल गई हो और वह मूठ पकडकर तलवार की धार पर लगे शहद को चाटना आरम्भ कर दे। चाटते चाटते उसे यह ध्यान भी न रहे कि तलवार मीठी होने के साथ-साथ तीखी भी है। नि सन्देह, वह तलवार शहद की मिठास का सुख देती है किन्तु साथ साथ जीभ को भी तो काट देती है। मुह लहू लुहान हो जाता है। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति अज्ञानवश विषयो के सुख मे डूबा हुआ अपने रक्त का ही शोषण करता है। उसको विषय-लिप्तता के कारण पता भी नही चल पाता कि उसके जीवन का कितना ह्रास हो गया है। एक अन्य उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। कोई रोगी डाक्टर के पास जाता है। आपरेशन—शल्यचिकित्सा का केस है। डाक्टर भी जहाँ आपरेशन करना होता है वहा मरफिया का इजेक्शन लगा देता है। स्थान या अग शून्य हो जाता है। डाक्टर आपरेशन कर देता है और रोगी को अग की शून्यता के कारण पता भी नही चल पाता कि आपरेशन कर दिया गया है या नही। ठीक इसी प्रकार पुण्य के उदयकाल मे अज्ञान के इजेक्शन के कारण हम अपने-आपको इतना भूल जाते है कि हमे पता भी नही चल पाता कि हमारे जीवन का कितना ह्रास हो रहा है। आध्यात्मिक क्षति पहुच रही है। अपनी अतरग शक्ति के ह्रास का हमे तनिक भी पता नही चल पाता। पता न चलने का कारण हमारी असावधानी है। इसी असावधानी के कारण हम अशाश्वत सुखो को सुख मान लेते है। यह पहले सकेत किया जा चुका है कि ये सुख पुण्यकर्म की अधीनता से ही हमे प्राप्त होते है। अधीनता तो अधीनता ही रहती है, वह स्वाधीनता कैसे बन सकती है ? आत्मिक सुख अधीनता-जन्य सुख नही होते। पुण्य-जन्य सुख आत्मा के निजी सुख नही होते। यदि ऐसा सभव होता तो वे उदयावस्था के समाप्त होने के बाद भी आत्मा के साथ रहते। जब तक पुण्य रहता है। सुख रहता है, पुण्य के समाप्त होते ही सुख भी समाप्त हो जाता है। साराश यह है कि पुण्य के अधीन मिलने वाले सुख मे स्वाधीनता नही है और पराधीनता मे सुख का सद्भाव सभव नही है। किसी उर्दू के शायर ने तभी तो कहा है

> मिले खुश्क रोटी जो आजाद रह कर।
> तो खौफ और जिल्लत के हलवे से बेहतर॥

अर्थात्—जिसमे रस नही है, तरलता नही है, ऐसा रोटी का टुकडा यदि स्वाधीनता मे मिलता है तो वह उससे कही बेहतर है जिसके पीछे जिल्लत है, डर है।

मोक्ष मे क्या है? वहाँ ससार जैसा खाना, पीना एव पहनना—कुछ नही है। वहाँ स्त्री नही, पुत्र नही, परिवार नही और अन्य अनेक विलास की वस्तुए नही। ये सब क्यो नही, इसलिए कि ये सासारिक वस्तुए स्वय मे एक बन्धन है और बन्धन का कारण भी है। स्त्री का सुख है तो प्रेम का बन्धन है, धन का सुख है तो ममत्व का बन्धन है। ससार का प्रत्येक सुख किसी न किसी बन्धन से युक्त है। मोक्ष मे बन्धन नही है, पूर्ण स्वतत्रता है। मन बहलाने के साधनो—उद्यानादि का भी वहाँ अभाव है। मनोरजन की आवश्यकता तो तब पडती है जब मन चिन्ताग्रस्त हो जाये, अशान्त हो जाये और व्याकुल हो जाये। जब वहाँ मन का ही अभाव है तो मनोरजन का प्रश्न ही पैदा नही होता। मन के साथ तन और वचन का भी वहाँ अभाव है। वहाँ तो केवल एक आत्मा की सत्ता है और वह आत्मा भी असाधारण योग्यता को प्राप्त हुआ आत्मा या अपने असली स्वरूप मे स्थित हुआ। हमारे शरीर मे निवास करने वाला आत्मा परमात्मत्व की स्थिति मे नही है। वह तो शरीर के अधीन है, ठीक वैसे ही जैसे तोता पिजरे के अधीन होता है या पिजरे के बन्धन मे फँसा होता है। शरीर की कैद से निकलने के पश्चात् भी वह आठ कर्मो की कारा मे बन्धा रहता है। दृश्यमान शरीर से तो निकल जाता है किन्तु शरीर भी एक ही प्रकार का नही होता। शरीर दो प्रकार का होता है: स्थूल शरीर जो इन्द्रिय से दिखाई देता है और सूक्ष्म शरीर जो दिखाई नही देता। स्थूल शरीर को 'औदारिक' शरीर कहते है। उदार का अर्थ विशाल, श्रेष्ठ या प्रधान होता है। औदारिक शरीर का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इसका कारण है कि इस शरीर के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। दूसरे जो वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण है उनसे आत्मा को मोक्ष नही मिलता। औदारिक शरीर का धारक जीव, एक हजार योजन से भी बडा होता है, चार हजार कोश से भी बडा होता है। हजार-हजार योजन के तो मगरमच्छ ही होते है। वनस्पति काय का एक प्रकार का कमल हजार योजन से भी बडा होता है। एक और सूक्ष्म शरीर हमारे पास है जिसके दो भाग हैं तैजस और कार्मण। जब कोई देव या नारक मरता है तो उसका वैक्रिय शरीर छूट जाता है, मनुष्य या तिर्यच मरते है तो उनका औदारिक शरीर छूट जाता है किन्तु तैजस और कार्मण शरीर तो उनके साथ ही रहते हैं। जब आठो कर्म-बन्धनो से छुटकारा पाकर आत्मा मुक्त हो जाता है तो उसके तैजस और कार्मण शरीर भी छूट जाते है।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि मोक्ष मे आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु आत्मा के साथ नही रहती । सुख वहाँ अनन्त है किन्तु सासारिक सुखो से वे सर्वथा भिन्न है । ससार के सुख तो नाममात्र के है । वास्तव मे तो यहाँ जो भी है, सब दु ख रूप ही है । ऐसी स्थिति मे यदि कोई यह कहे कि दु ख को कोई सुख मानकर कैसे चल सकता है, उसका समाधान निम्नलिखित उदाहरण से मिल जायेगा ।

एक व्यक्ति जो दाद-खुजली की बीमारी का शिकार था, रेगिस्तान मे चला जा रहा था । वहाँ तो बालू-रेत के सिवा और कुछ भी नही था । गर्मी मे तो खुजली और भी तीव्र रूप धारण कर लेती है । खुजली उठ रही थी, बेचारा बडा व्याकुल था, बडा परेशान था । बार-बार खुजला रहा था फिर भी चैन नही मिल रही थी । खुजलाने के लिए खुरदरी वस्तु की आवश्यकता होती है, कोमल वस्तु से खुजली शान्त नही हुआ करती । कई रोगी इसके लिए पत्थर का उपयोग भी करते है और अन्य अरणिया छाणा को पत्थर से भी बेहतर मानते है । खुजली का रोगी और खुजली दोनो चल रहे थे । अचानक ही एक घुडसवार वहाँ आ निकला । घोडे के लिए उसने थोडी-सी घास भी अपने साथ ले रखी थी । रोगी ने उससे कहा, "जरा रुकना भाई, एक घास का तिनका दे दो जिससे खुजली करके शान्ति प्राप्त कर सकूँ ।" घुडसवार सामान्य व्यक्ति न होकर एक सुयोग्य वैद्य था । उसने कहा, "अरे मूर्ख ! तिनके से क्या होगा, मैं तुझे औषधि देता हूँ ।" "उस औषधि से क्या होगा ?" खुजली के रोगी ने पूछा । "उससे तुम सदा के लिए इस भयानक रोग से मुक्त हो जाओगे । खुजली सदा के लिए मिट जायेगी ।" "मुझे नही चाहिए ऐसी औषधि । यदि खुजली सदा के लिए मिट गई तो मुझे खुजलाने का आनन्द कैसे मिलेगा ? खुजलाने के आनन्द की अनुभूति को मैं ही जानता हूँ, तुम क्या जानो ।" रोगी ने उत्तर दिया ।

ससार के प्राय सभी जीव इसी स्वभाव के है । यदि कोई व्यक्ति किसी से कहे कि "चलो, मैं तुम्हे ऐसी वस्तु खाने को देता हूँ जिससे तुम्हे भूख ही न लगे", तो वह उत्तर मे यही कहेगा कि "मुझे ऐसी वस्तु की आवश्यकता नही है जो मेरी भूख को मिटा दे । मुझे ऐसी सार्वकालिक रहने वाली तृप्ति की आवश्यकता नही है । भूख लगने से अनेक प्रकार के षट्रस भोजनो को खाने से जो आनन्द मिलता है वह फिर कहाँ से मिलेगा ।"

यह है सासारिक जीवो की सुख के लिए लालसा । प्रत्येक सुख के पीछे मानव को भ्रान्ति मे डालने वाला बन्धन छिपा हुआ है । इसीलिए ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि शुभ कर्मोदय से जो भी सुख मिलता है वह दु ख रूप है । [illegible]विथा दूर रहने की आवश्यकता है । आप बत्तीस के बत्तीस शास्त्रो का

अवलोकन कर लो, आपको कही भी यह लिखा नही मिलेगा कि पुण्यवान बनो। सर्वत्र शास्त्रकारो का तो यही आदेश है कि कर्मबन्धन को काटो। सच्चा आनन्द कर्मबन्धन के विच्छेद मे है। कर्म-बन्धन के विच्छेद मे पुण्य और पाप दोनो का समावेश अपेक्षित है। शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मो की निर्जरा होनी चाहिए। एक के भी अवशेष रहने से आत्मा के लिए मोक्ष सभव नही है।

इसी प्रसग से सम्बन्ध रखने वाला उत्तराध्ययन मे चित्तमुनि और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का आख्यानक आता है। इसमे चित्तमुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को आत्म-कल्याण का उपदेश देते है। वे कहते है कि "हे ब्रह्मदत्त, पाँच जन्म तक तुम और हम एक साथ रहे, केवल इस बार निदान (अपनी सत्क्रिया को सुख-भोग के लिये बेच डालने) के कारण हम दोनो का साथ छुट गया और तुम चक्रवर्ती बन गये। अपनी इस भूल के कारण तुमको सातवें नरक का दुख भोगना पडेगा। मेरा तुमको बार-बार यही कहना है कि उस भयावह दुख से छुटकारा पाने के लिए सब कुछ त्याग डालो।"

इसके उत्तर मे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा, "आपका कथन मैं भलीभाँति समझता हूँ किन्तु नियाणा करने के पश्चात् मेरा आत्मा दुर्बल पड गया है, इस कारण अब मेरे मे ससार का त्याग करने की सामर्थ्य नही रही है।" इस पर चित्तमुनि ने कहा

> **जइ त सि भोगे चइउ असत्तो।**
> **अज्जाणि कम्माणि करेह राय ॥**

हे राजन्! अगर तुम भोगो को छोडने मे समर्थ नही हो तो आर्य कर्म करो, शुभ कर्म करो जिनके प्रताप से तुम्हारा आत्मा पुण्य के फल के कारण नरक मे नही जा सकेगा। दीक्षा के अभाव मे भी आर्य कर्म करने से तुम नरक से बच सकते हो। परिस्थिति के कारण यहाँ यह बात कही गई है। कहने वाले मुनि भी छद्मस्थ ही थे। छद्मस्थावस्था मे जब कोई किसी को शास्त्र की बात समझाता है तो यह उसकी व्यक्तिगत धारणा मानी जाती है। साराश यह है कि सासारिक सुख वास्तव मे सुख है ही नही।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १६ जुलाई, १९७९

१०

# तीन मित्रो मे सच्चा कौन ?

ससार के सुख अशाश्वत है, भ्रान्तिमय है, इसका जिक्र हमने कल के व्याख्यान में किया था। ससार मे सुख का तो अभाव ही है। दूसरे शब्दो मे सुख केवल आभास मात्र है। दु ख के दो रूप है (१) प्रकट दु ख और (२) गुप्त दु ख। जिनका हमे दु ख के रूप मे प्रत्यक्ष ज्ञान है, वे तो प्रकट दु ख है, उनको मिटाने के लिए हम प्रयत्नशील भी रहते है, परन्तु कुछ दु ख ऐसे भी है जो प्रत्यक्ष रूप मे हमे सुख रूप प्रतीत होते है किन्तु वास्तव मे वे गुप्त रूप से दु ख होते है। सासारिक लोग जिन वस्तुओ को सुख का कारण मानते है, वास्तव मे उनमे सुख का अभाव है या आभासमात्र है।

वास्तविक चिन्तन के परिणामस्वरूप ज्ञात होता है कि ससार मे न तो कुछ सुख ही है और न ही कुछ दु ख ही। सुख और दु ख दोनो मन की कल्पित भावनाएँ है। दोनो नश्वर है। कविवर नरेन्द्र के शब्दो मे

सुख भी नश्वर, दु ख भी नश्वर
यद्यपि सुख-दु ख सब के साथी,
कौन घुले फिर सोच फिकर मे
आज घडी क्या है कल क्या थी!

देख तोड सीमाए अपनी
जोगी नित निर्भय रमता है!

जब तक तन है, आधि-व्याधि है,
जब तक तन-मन, सुख-दु ख घेरे,
तू निर्बल तो क्रीत-भृत्य है,
तू चाहे ये तेरे चेरे!

तू इनसे पानी भरवा, भर
ज्ञानकूप, तुझमे क्षमता है!

रोत्तर दृढ बनाने का प्रयत्न करते है। इसके विपरीत जो हमारे शत्रु है, हमारे प्रतिपक्षी है, हमारे मार्ग मे सदा रोडा अटकाने वाले है, हमारा विरोध करते है और हमारी प्रगति मे जो रुकावट डालते है, उनसे हम सदा दूर रहने का प्रयत्न करते है। ऐसा हम इसीलिए करते है क्योकि वे हमारे लिए दु खरूप है या दु ख के करण है। उन शत्रुओ को हम न चाहे, न बुलायें तब भी वे हमे परेशान करने के लिए हमारे पास आते है। किसी कवि ने तो शत्रुओ की सत्ता को मानव की वीरता का प्रतीक माना है और कहा है

**जिनके दश दुश्मन नही और सैण नही पचास।**
**तिनकी जननी क्या कियो, भार मुई दस मास ॥**

अर्थात्—ऐसे व्यक्ति जिनके दश शत्रु नही है और पचास सैण नही है, उनको उनकी माता ने व्यर्थ मे ही अपने गर्भ मे दस माम तक भार रूप मे रखा। साराश यह कि ससार मे चतुर, विवेकशील और विचक्षण व्यक्तियो के लिए एक दो नही किन्तु दसो शत्रुओ के होने पर बल दिया है। केवल पचासो स्वजनो (सैण) का सद्‌भाव बिना दस दुश्मनो के हमारी उन्नति एव प्रगति मे बाधक ही सिद्ध होगा। क्योकि बिना दुश्मनो के हम सावधान नही रहते, निश्चिन्त रहते है। जबकि दुश्मनो से हम सभलकर चलेंगे, विवेक से चलेंगे और सावधानी से कदम रखेंगे। शत्रु तो बिना अपराध के भी प्रहार कर देता है। मारवाडी भाषा मे कहावत है—

**"छीकता दण्डे"**

अर्थात् —"छीक आ गई तो उसे भी अपराध समझकर दण्ड देने को उद्यत हो जाना।" छीक आ जाना तो कोई अपराध नही है किन्तु वह तो शरीर का सहज स्वभाव है, परन्तु शत्रु तो कोई बहाना ढूढता है। ऐसा होने पर भी नीतिकारो ने शत्रु के अस्तित्व को इसलिए आवश्यक माना है कि शत्रु हमारी बात को चेक करता रहता है। उसके चेक करने से हमे अपनी भूलो का, अपने दोषो का और अपनी लापरवाही का ज्ञान होता रहता है। हम सावधान बने रहते है और जागरूक रहते है अपने दोषो के प्रति। सामान्य रूप से मनुष्य को अपने दोष नही दिखाई दिया करते। दीपक तले अधेरा ही रहता है। दूसरो के राई जितने दोष भी हमे पहाड जैसे दीखते है और अपने पहाड जैसे दोष भी राई के समान लगते है। ऐसी स्थिति मे किसी कवि द्वारा शत्रु की आवश्यकता पर बल देना सर्वथा उचित ही प्रतीत होता है। सक्षेप मे, हम यही कहेगे कि सामान्य बुद्धि के धनी ही यह सोचा करते है कि उनका मनचाहा काम हा होना चाहिए, जो विशिष्ट बुद्धिवाले है वे तो अपने विरो-

धियो के अस्तित्व को भी महत्त्व देते हे। तभी तो कबीर ने कहा है

**दुर्जन नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।**
**बिन साबुन पानी बिना, निर्मल करे सुभाय॥**

ऐकान्तिक सुख भी एक प्रकार की अन्ध श्रद्धा है। जिस प्रकार अपने दोषो के निदर्शन के लिए शत्रु का महत्त्व है, उसी प्रकार सपत्ति के साथ विपत्ति का होना भी परमावश्यक है। विपत्ति आने पर ही तो ज्ञात होता है कि कौन अपना है और कौन पराया है। इसी सत्य की पुष्टि करते हुए रहीम कहते हे

**रहिमन विपदा हू भली, जो थोरे दिन होय।**
**हित अनहित या जगत मे, जानि परत सब कोय॥**

अर्थात—

जीवन मे यदि कुछ समय के लिए विपत्ति भी आ जाये तो उसका भी स्वागत करना चाहिए, क्योकि विपत्ति मे ही 'कौन अपना है और कौन पराया है' इस सत्य की पहचान की जा सकती है।

वैसे तो जब हम सम्पन्न दशा मे होते है, हमारे पास कोई सत्ता होती है या अधिकार होता है तो सभी हमारे बनना चाहते हे। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए लोग दूर से दूर का नाता हमारे साथ जोडने का प्रयत्न करते है। हमारी विपन्न दशा मे कोई भी हमारे पास फटकना नही चाहता। खून का रिश्ता होने पर भी लोग हमारे से कन्नी काटा करते हे। किसी विपदाग्रस्त व्यक्ति के पूछने पर कि हम उनके क्या लगते है, क्या हम उनके भाई है ? तो यही उत्तर मिलता है

**भाई-भाई जितनी खाई,**
**बाकी छीके पर लटकाई।**

विपत्तिकाल मे ऐसा ही होता है। सम्बन्ध सगे रिश्तेदारो का भी टूट जाता है दूसरो की तो बात ही क्या है ?

ज्ञानी पुरुषो का इसलिए कथन है कि बनी-बनी मे और सम्पन्न दशा मे हमे अपने और पराये का कुछ भी भेद मालूम नही पडता। आपत्ति आने पर ही हमे ज्ञात होता है कि वास्तव मे ससार मे कौन अपना है, कौन पराया है, कौन हमारे सुख-दुख का साथी हे और कौन ऊपर से अपना बनने का ढोग रचता रहा है। आपत्तिकाल मे सबकी परीक्षा हो जाती है। अतएव, जीवन मे आपत्ति अवश्य आनी चाहिये, दुख अवश्य आना चाहिए। इस

प्रकार केवल विवेकशील व्यक्ति ही सोचा करते है। सामान्य बुद्धि रखने वालो की यहाँ तक पहुँच नही।

इस प्रसग पर मुझे एक दृष्टान्त स्मरण हो आया है। एक राजा था। उसका राजकुमार बडा योग्य था। राजकुमार के अनेक मित्र थे। एक मित्र तो राजकुमार के इतना घनिष्ठ था कि वह रात-दिन उसे घेरे रहता था और अल्प समय के लिए भी उससे पृथक् होना नही चाहता था। उसका मैत्री सम्बन्ध राजकुमार के साथ, मारवाडी भाषा की कहावत के अनुसार "माथा-सूँ कान सीवियोडा" के समान था। खाना-पीना, उठना बैठना सब साथ-साथ चलता था। राजकुमार का एक और मित्र था जिसे राजकुमार कभी-कभी याद कर लिया करते, विशेष रूप से पर्व त्यौहारो के अवसर पर। वह आता, दिन-भर साथ रहता और प्रेमपूर्वक अनेक प्रकार का सलाप चलता। बिछु-डने के पश्चात् कई बार तो वर्षो तक भेंट नही हो पाती थी। एक तीसरा मित्र भी था जिसके साथ कभी-कभी आते जाते मार्ग मे भेंट हो जाया करती थी। जयजिनेन्द्र और कुशल-मगल पूछने पर यह मुलाकात समाप्त हो जाती। मिल गये तो इस शिष्टाचार का पालन हो गया, नही तो किसे एक दूसरे को याद करने का अवकाश था ?

एक बार महाराजा के मन मे आया कि राजकुमार की परीक्षा करनी चाहिए। यह कितना चतुर है, इसके मित्र किस प्रकार के है, कौन इसका हितैषी है और कौन इसका अहितैषी है ? कौन प्रत्यक्ष रूप मे तो इसकी चाप-लूसी करता है और परोक्ष मे इसको नगण्य समझता है। भविष्य मे मेरे उत्तराधिकारी के रूप मे यह राजगद्दी सभालने वाला है। राज्यशासन का भार इसके कन्धो पर पडने वाला है, इसलिए इसका कोई ऐसा विश्वास पात्र, ईमानदार, बुद्धिमान और स्वार्थहीन मित्र होना चाहिए जिसे इसका प्रधान-मत्री बनाया जा सके।

यहाँ 'मन्त्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना अप्रासगिक न होगा। मन्त्र शब्द के दो अर्थ होते है एक तो "मननात् त्रायते इति मन्त्र" अर्थात् मनन चिन्तन के द्वारा असम्भव को भी सम्भव बनाने की जिसमे शक्ति उत्पन्न हो जाये वह मन्त्र होता है। दूसरा मन्त्र राजनीति मे किये गये विचार से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दो मे गोपनीय विचारधारा की मन्त्रणा को मन्त्र कहते है। राजा जिसके साथ गुप्त रूप से मन्त्रणा करता है, उसे मन्त्री कहते है। पहले मन्त्र को धारण करने वाला मन्त्रवादी कहलाता है और राजनैतिक विचार-धारा को धारण करने वाला मन्त्री कहलाता है। मन्त्री शब्द सस्कृत का है। अग्रेजी मे मन्त्री को 'सेक्रेटरी' कहते है—सीक्रेट रहस्य को कहते है—गुप्त से गुप्त विचार जिसके साथ किया जाता है। इस गुप्त विचार को केवल दो व्यक्ति

ही जानते है, तीसरा नही, क्योकि नीतिकार का कथन है .

**षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र ।**

गुप्त बात छह कानो मे नही जानी चाहिए। छह कानो मे जाने से उसके फूटने का डर हो जाता है । एक बार खुल गई, फिर उसे छिपाना कठिन होता है। तभी तो कहते है मारवाडी भाषा मे कि 'निकली होठाँ बान्धो पोटाँ' ।

राजा ने सोचा कि राजकुमार को राजा बनने के पश्चात् मन्त्री की नियुक्ति करनी होगी, इसलिए इसका मन्त्री विश्वसनीय होना चाहिए । राजा यह सोच ही रहा था कि कोई राज्य का व्यक्ति जो चुगलखोर था, राजकुमार के विरुद्ध शिकायत लेकर आ गया । राजा, राजकुमार की गम्भीर शिकायत सुनते ही क्रुद्ध हो गया और अपना निर्णय दिया कि 'कल ही राजकुमार को दस बजे सूली पर चढा दिया जाये ।' ठीक ही तो कहा है किसी कवि ने

**राजा किस का गोठि ।,**<br>
**जोगी किसका मित्त ।**<br>
**वेश्या किसकी है स्त्री,**<br>
**तीनो ही मित्त कुमित्त ।।**

राजा का आदेश सुनते ही राजकुमार स्तब्ध-सा रह गया । सोचने लगा, "राजा ने मुझसे मेरे अपराध के विषय मे कुछ पूछ-ताछ नही की, किसी प्रकार की जाँच पडताल नही की और एकदम मृत्युदण्ड सुना दिया । बडी विचित्र बात है, अब मैं क्या करूँ ?" राजकुमार दिन-भर चिन्तित रहा और किं-कर्त्तव्य-विमूढ हो गया। उसे कोई भी तो उपाय नही सूझ रहा था । सूर्यास्त हो गया, लोगो का सामान्य सचार रुक गया । राजकुमार ने सोचा, "मुझे तो मृत्युदण्ड से बचने का कोई उपाय सूझ नही रहा, क्यो न मै अपने अत्यन्त घनिष्ठ मित्र से इस विषय मे राय ले लूं ?" वह अपने उस घनिष्ठ मित्र के पास गया जो दिन-रात उसके साथ खाता-पीता था । राजा भी अन्धकार में वास्तविकता जानने के लिए उसके पीछे-पीछे हो लिया । मित्र का घर आ गया । द्वार खटखटाया । ऊपर से आवाज आई ।

"कौन है ?"

उत्तर मिला "मै राजकुमार हूँ ।"

"क्यो आये यहाँ, यहाँ आने की आवश्यकता नही है । राजा तुझ पर क्रुद्ध है । कल दस बजे तुम्हे मृत्यु दण्ड दिया जायेगा । यहाँ से शीघ्रातिशीघ्र चले जाओ, कोई राज्याधिकारी सुन लेगा तो मुझे भी मृत्युदण्ड भुगतना पड सकता है ।"

"आप एक क्षण के लिए तो नीचे आकर मेरी बात सुन लो !" राजकुमार ने अनुनयपूर्ण शब्दो मे प्रार्थना की।

"मै नीचे नही आ सकता, भागो यहाँ से," ऊपर से आवाज आई।

राजा यह सब सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। सोचने लगा, "यह राजकुमार का घनिष्ठ मित्र है। राजकुमार इसे अच्छा से अच्छा खिलाता है, सदा अपने साथ रखता है और अपने जैसी ही सब सुविधायें इसे प्रदान करता है, तिस पर भी यह इतना कृतघ्न निकला कि सकट आने पर राजकुमार से बात करने को भी तैयार नही, सकट से रक्षा करने की तो बात ही दूर रही।"

राजकुमार यह सोचकर कि ऊपर से कही पत्थर ही न मार दे, वहाँ से चल पडा। जाते-जाते सोच रहा था, "कोई किसी का नही है। जो इतना घनिष्ठ था कि दिन-रात सम्पर्क मे रहता था, साथ-साथ खाता-पीता था, जिसको मै हथेली के छाले के समान अधर रखता, उसका यह दुर्व्यवहार ! सकट पडने पर ! अब अपने उस पर्व-मित्र के पास चलता हूँ जो कभी-कभी पर्व-त्यौहारो के अवसर पर मेरे पास आ जाता है, साथ-साथ भोजन करता है और बडा प्रेम दर्शाता है।" राजकुमार दूसरे मित्र के घर पर आया और दस्तक दी। ऊपर से आवाज़ आई, "कौन है ?"

"मैं हूँ राजकुमार।" उत्तर मिला।

"ओहो राजकुमार !" मित्र एकदम दौडकर नीचे आया और दरवाजा खोला। राजकुमार जब घर मे प्रवेश करने लगा तो कहने लगा, "कृपया बाहर ही रहो, अन्दर आने के पहले यह तो बताओ कि इस रात के समय मेरे पास आने का कारण क्या है ?"

"मुझे राजा ने मृत्युदण्ड दे दिया है, किसी चुगलखोर की बात पर विश्वास करके। कल दस बजे मुझे सूली पर लटका दिया जायेगा। आपसे इसलिए मिलने आया हूँ कि आप कोई उपाय बतायें, जिससे मेरी प्राण रक्षा हो सके।"

राजकुमार ने पर्व-मित्र से कहा। पर्व-मित्र ने हाथ जोडकर कहा कि "यदि महाराज आप पर क्रुद्ध है तो मुझमे आपके प्राण बचाने का कोई सामर्थ्य नही है। मै राजा से वैर बाँधकर अपने प्राणो को सकट मे नही डाल सकता। आप कही भागकर जाना चाहते है तो मै आपको मार्ग के लिए धन दे सकता हूँ, भोजन की व्यवस्था कर सकता हूँ। आप जल्दी से जल्दी यहाँ से चले जायें, ऐसा न हो कि कोई राजकर्मचारी देख ले और मुझे भी लेने के देने पड जायें। कहते है कि 'हाथिया री लडाई मे कीडिया रो खोगाल'।" वह पर्व-मित्र राजकुमार को देने के लिए कुछ खर्च लाया किन्तु राजकुमार ने ग्रहण नही किया। कुछ दूर तक राजकुमार को पहुँचाकर वह घर लौट आया।

राजकुमार सोच रहा था, "पहले वाले मित्र से तो यह अच्छा निकला, सहानुभूति दिखाई और अपनी दुर्बलता भी प्रकट की।" अब वह अपने तीसरे मित्र से मिलने चला। घर पर पहुँचकर द्वार खटखटाया। ऊपर से "कौन है" की आवाज आई। उत्तर मिला, "मै राजकुमार हूँ।" वह झट नीचे आया, द्वार खोला और राजकुमार का हाथ पकडकर उसे अन्दर ले जाने लगा ही था कि राजकुमार ने कहा, "पहले अपनाने और फिर धक्का देने वाली बात न हो जाये, इसलिए पहले मेरे आने का कारण जानो और उसके पश्चात् मुझे अन्दर ले जाना।"

"अरे! बात क्या बाहर सुनी जाती है? बात तो अन्दर चलकर ही करेंगे। रात्रि के समय तो वैसे भी बाहर बात करना अच्छा नही होता। अन्दर शान्ति से बैठकर बात करेंगे।"

तीसरे मित्र ने राजकुमार का अपने घर पर स्वागत करते हुए कहा। वह राजकुमार को अन्दर ले गया और द्वार बन्द कर लिया।

राजा सोचने लगा, "यह व्यक्ति बहुत योग्य और विश्वासपात्र मालूम होता है। अब किसी प्रकार की आशका की चिन्ता नही है।" राजा लौटकर अपने प्रासाद में चले गये।

इस तीसरे मित्र ने राजकुमार का अपने घर पर हार्दिक स्वागत किया। बडे प्रेम से खिलाया, पिलाया। राजकुमार ने जब अपनी बात सुनाने का प्रसग छेडने का प्रय न किया तो मित्र ने कहा, "अभी तुम्हारे मन में धडकन है, अशान्ति है, परेशानी है, पहले पूर्णरूपेण शान्त मन हो जाओ फिर जो कुछ सुनाना हो सुना देना।" जब मित्र ने जान लिया कि अब राजकुमार पूरी तरह से शान्तचित्त है, तब उससे कहा, "अब आप सुनाइये क्या सुनाना चाहते है?"

"किसी चुगलखोर की बात सुनकर महाराज मुझ पर क्रुद्ध हो गये हैं। मेरे लिए प्राणदण्ड की घोषणा कर दी है। कल दस बजे सूली पर चढा दिया जायेगा मुझे। कुछ राय दो कि मेरी प्राण रक्षा का क्या उपाय हो सकता है!"

राजकुमार ने नम्रतापूर्ण शब्दो मे मित्र से कहा।

"दरबार साहब! आपको प्राणदण्ड देंगे! किसी चुगलखोर की बातो मे आकर! ऐसा कैसे हो सकता है? मैं महाराज को समझा दूंगा, और नही समझेंगे तो मै भी शक्ति रखता हूँ। दूसरी रियासतो के राजकुमार मेरे मित्र है, मैं राजा के लिए बडा से बडा सकट खडा कर सकता हूँ। आप सर्वथा निर्भय रहें। मुझे साम, दाम, दण्ड, भेद सभी प्रकार की नीतियो का ज्ञान है। मै सब ठीक कर लूगा। ससार की कोई शक्ति आपको मृत्युदण्ड देने मे सफल नही हो सकती। मेरे रहते कोई भी आपका बाल बांका नही कर सकता।"

इस प्रकार सान्त्वना देकर तीसरे मित्र ने राजकुमार को अपने घर सुला लिया। सान्त्वना पाकर राजकुमार का मन सतुलित हो गया और वह गहरी नीद मे सो गया।

प्रात होते ही वह मित्र राजा के पास पहुँचा और कहने लगा, "हुजूर ! किसी चुगलखोर ने जो राजकुमार के विषय मे आपसे चुगली की है, वह सर्वथा निराधार है। यद्यपि राजकुमार से मेरा घनिष्ठ परिचय नही है किन्तु इतना मै भलीभाँति जानता हूँ कि वह छल, कपट और धोखा—इन अवगुणो से रहित है। आपके पास जिसने राजकुमार की शिकायत की है, आप उसका नाम बताये, मै उससे अच्छी प्रकार से निपट लूँगा।"

राजा राजकुमार के इस मित्र की बात को सुनकर बडा प्रसन्न हुआ और अपने राजकुमार को हिदायत कर दी कि वह इसी व्यक्ति को अपना सच्चा मित्र समझे और इसी के सम्पर्क मे रहे।

ऊपर जिन तीन प्रकार के मित्रो का विवरण दिया गया है उसके आधार पर मित्र तीन कोटियो मे विभक्त किये जा सकते है (१) नित्य मित्र, (२) पर्व मित्र और (३) जुहार-मित्र।

हमारे आत्मा के भी तीन मित्र है। यह जीव स्वय राजकुमार के समान है। शरीर इसका नित्य-मित्र है। साथ मे जन्मा, साथ मे पालन-पोषण हुआ, साथ मे खेला, और साथ मे बडा हुआ। यह जीव अपने भविष्य का, अपने उत्थान का, अपने पतन का तनिक भी ध्यान न करता हुआ दिवानिश शरीर के पोषण मे लगा रहता है। इसे नहलाता है, खिलाता है, पिलाता है, पहनाता है, ओढाता है और इसकी सभी प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे लगा रहता है। किसलिए ? शरीर के स्वास्थ्य के लिए, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाये रखने के लिए। यहाँ उपस्थित श्रावक भी तो यही करते है। शरीर की उपेक्षा करके आपने कभी अपने आत्मा की प्रवृत्ति पर ध्यान लगाया ? अपने सगे सम्बन्धियो को पत्र लिखते हो उसमे भी "डीलारा जापता करावसी, सारा दारोमदार डीलासूँ है" लिखा करते हो। तुम्हारा सभी का प्रेम शरीर तक केन्द्रित है। शरीर क्या है, ? हड्डी और मास का पुतला ही तो है। मल मूत्र की खान है, गन्दा है। जब तक इसमे आत्मा का अस्तित्व है, तब तक इसके सब अवगुण ढके रहते है। आत्मा के शरीर से निकल जाने पर तो कोई भी इसका स्पर्श भी नही करना चाहता। कोई स्पर्श करेगा तो अपवित्र हो जायेगा, उसे शुद्ध होने के लिए स्नान करना पडेगा। जब तक शरीर मे आत्मा विद्यमान है तब तक इसके स्पर्श करने से आनन्द का अनुभव होता है। आत्मा के अस्तित्व के कारण ही शरीर का आदर, सम्मान और सत्कार होता है। विरहिणी परदेसी प्रियतम को स्मरण कर पुकार उठती है :

मैं डरूँ अकेली बादल मे चमके वैरण बीजली।
घर आवो बनासा बादल मे चमके वैरण बीजली ॥

लेकिन उसी अत्यन्त प्रिय लगने वाले प्रियतम के शरीर से जब आत्मा निकल जाता है, वही पत्नी जो प्रियतम के बिछुडने पर क्षण-भर भी चैन नही पाती थी, उसके पास जाती हुई डरती है। पहले तो उसके बिना डरा करती थी और अब उससे ही डरने लगती है। वास्तव मे डर का मिटानेवाला तो आत्मा था, जो कि चला गया, जड शरीर बाकी रह गया। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध टूटते ही शरीर की सारी गदगियाँ उभरकर बाहर आ गईं, सारी अपवित्रताएँ सामने आ गई। उस आत्मा ने ही शरीर की सारी अपवित्रताओ को आच्छादित कर रखा था। उस आत्मा के अस्तित्व के कारण ही शरीर सुख-मय था, आनन्दमय था। इतनी उच्चकोटि की चेतन शक्ति का किसी का ध्यान नहीं है। कोई यह सोचने का कष्ट नही कर रहा है कि किस बात से आत्मा का उत्थान होता है और किस प्रकार की प्रवृत्ति से आत्मा अधोगति को प्राप्त होता है।

सक्षेप में, यह जीव या आत्मा अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को भूलकर शरीर के पोषण मे लीन है। थोडी-सी बीमारी आने से ही शरीर खाट पकड लेता है और एकदम शिथिल पड जाता है। जीव कहता है शरीर को, "अरे तू इतना ढीला क्यो हो गया ? उद्यम कर, थोडा साहस रख, चल-फिर।" इसके उत्तर मे शरीर कहता है, "मैं शक्तिहीन हो गया हूँ, मुझमें कुछ भी करने का साहस नही है।"

"अरे भले प्राणी! क्यो नही कुछ होता तुमसे ? तुम्हे मैंने इतना खिलाया है, पिलाया है, बडे आराम से रखा है, बडी से बडी सुविधा तुम्हे प्रदान की है। अपनी तनिक भी चिन्ता न करके तुम्हारी ही चिन्ता की है और जरा सा कष्ट आते ही इतने कायर बन गये हो, टस से मस नही होना चाहते और अपनी शक्तिहीनता प्रकट कर रहे हो।" यह शरीर आत्मा का नित्यमित्र है। आत्मा जितनी शरीर की सेवा करता है उतनी उसके परिवार की भी नही करता। परिवारवालो को तो वह कभी-कभी पर्व त्योहारो के अवसरो पर ही याद करता है और बुलाता है। घण्टा दो घण्टा या दिन भर परिवार-वालो के साथ आनन्द से गुजारता है। ये परिवार वाले उसके पर्व-मित्र है। जब शरीर की विषम-दशा आती है तो परिवार वाले उसकी सेवा करते है, उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते है परन्तु मृत्यु आने पर परिवार वाले कहते हैं, "हम तुम्हारी सेवा कर सकते है, तुम्हारी बीमारी का इलाज करवा सकते है, तुम पर जितना चाहो धन खर्चकर सकते है किन्तु मृत्यु से तुम्हारी रक्षा करने

मे हम असमर्थ है। मृत्यु होने पर हम तुम्हे श्मशान तक पहुँचा देगे, लकडियो की व्यवस्था भी कर देंगे। बस, इतना ही सभव है हमसे।"

नि सन्देह नित्य-मित्र से पर्व-मित्र बेहतर है। तीसरी कोटि का मित्र होता है जुहार-मित्र। जुहार कोटि के मित्रो में हम साधुओ का नाम आता है। कभी-कभी चलते-फिरते मार्ग मे मिल जाते है। जब मार्ग मे ही मिलाप सभव है तो उनके पास जाने का कष्ट कौन करे ? मार्ग मे मिलने पर महाराज को "मत्थएण वदामि" कर लिया, बस कर्तव्य पालन हो गया, शिष्टाचार पूरा हो गया। महाराज साहब के यह पूछने पर, "क्या बात है आप आये नही प्रवचन मे" उत्तर मिलता है, "आऊँगा, बापजी, अभी थोडा प्रमाद है, थोडा घर का काम बाकी है। अवश्य आने का प्रयत्न करूँगा।" सन्त अचानक मार्ग मे मिल गये, थोडी सी बातचीत हो गई, बस भेंट समाप्त हो गई। इस छोटी-सी भेंट के कारण सन्त जीव के जुहार-मित्र कहलाते ह। परन्तु ये जुहार-मित्र अवसर आने पर आत्मा से मृत्यु के भय को निकालने की सामर्थ्य रखते हे। जब कभी कोई उनके पास जाकर कहता है कि "मुझ पर काल कुपित हो गया है और मेरी मृत्यु आसन्न है, अब मैं आपकी शरण मे आया हूँ, मेरी रक्षा करो' तो सन्त उसको ज्ञान की शिक्षा देते हुए कहते ह

**वासासि जीर्णानि यथा विहाय,**
**नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-**
**न्यन्यानि गृह्णाति नवानि देही ॥**

अर्थात्—

"जिस प्रकार वस्त्रो के फटने पर मनुष्य उनका त्याग करके नये वस्त्रो को धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार जीण शरीर को त्यागकर जीव नये शरीर को धारण करता है या यो कहिये कि नये शरीर मे जन्म ले लेता है। साराश यह कि मृत्यु तो शरीर परिवर्तन मात्र है। आत्मा तो अजर है, अमर है, अविनाशी है। इसका कोई कुछ भी नही बिगाड सकता। इसलिए मानव को कभी भी मृत्यु से घबराना नही चाहिए।" इस प्रकार सन्त लोग ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान ससार के दुखी लोगो को देते ह कि यदि व्यक्ति उसको हृदय मे धारण कर ले तो वह कभी भी मृत्यु से नही डर सकता। उसमे तो इतना साहस उत्पन्न हो जाता है कि मृत्यु का सामना करने लगता है। सथारा क्या है ? मृत्यु का सामना करना ही तो है। तीन करण और तीन योगो से चार प्रकार के आहार का परित्याग करना मृत्यु का सामना करना ही है। इस प्रकार मृत्यु से मुकाबला करने की और आत्मा को अजर-अमर समझने की, साहस की और ज्ञान

की शक्ति जिज्ञासु को सन्त-महात्मा ही प्रदान किया करते है। इसके अतिरिक्त, सब प्रकार की भ्रान्तियो को, जीवन-मरण की मिथ्या धारणाओ को और भय को मिटाकर निर्भय रहने की शिक्षा को सन्तजन ही दिया करते है।

सुख और दुःख की परिभाषा करते हुए हमने आपको बताया कि बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी सुख के पीछे अन्धे होकर नही पडते। वे जैसे सुख का स्वागत करते है वैसे ही दुःख का भी। जितना महत्त्व मित्र का है उतना ही शत्रु का भी है। शत्रु हमें सदा सावधान रखता है जिसका निर्देश हम ऊपर कर आये है। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तब तो विपत्ति सपत्ति से भी अधिक हितकर है। सम्पत्ति प्राणी को बेहोश कर देती है किन्तु विपत्ति उसे होश मे लाती है। निःसन्देह विपत्ति को सहन करना जीव के लिए सरल नही है किन्तु यदि उसमें धैर्य, सहनशीलता और विवेक का सचार हो तो विपत्ति को बडी आसानी से पार किया जा सकता है। बिना विपत्ति के जीव का जीवन कभी भी निखर नही पाता। इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नही है कि हम सदा विपत्तियो को निमत्रण देते रहे। हम तो केवल यही कहते है यदि विपत्ति या दुःख भी जीवन में आते है तो उन्हे धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए और उनके महत्त्व की उपेक्षा नही करनी चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १७ जुलाई, १६७६

११

# आदमी, पुरुष, मानव, मनुष्य, नर और सुख-दुःख

शाश्वत सुख की प्राप्ति जीव का चरम लक्ष्य है। आदमी केवल अल्पकाल के लिए सुखी बनना नही चाहता किन्तु शाश्वत सुख की उपलब्धि चाहता है। नि सन्देह प्रत्येक मनुष्य न तो शाश्वत सुख के महत्त्व को ही समझता है और न ही उसकी परिभाषा को। जो वास्तव में मनुष्य है, वही शाश्वत सुख की अभिलाषा रखता है। जो मनुष्य होकर मनुष्यत्व को नही समझता, वह मनुष्य कहलाने के योग्य भी नही है। मनुष्य शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसी के आधार पर हमने यह बात आपसे कही है।

ऊपर से देखने पर अनेक शब्द समानार्थक प्रतीत होते है परन्तु गहराई से देखने पर सबके अर्थ अपनी पृथक् सत्ता रखते है। उदाहरण के लिए आदमी, पुरुष, मनुष्य, मानव और नर ये शब्द समानार्थक लग रहे है किन्तु वास्तव में सबके अर्थ भिन्न-भिन्न है। आदमी शब्द को ही सर्वप्रथम लीजिये। आदम शब्द आत्म शब्द से निकला है। भाषा विज्ञान की पद्धति के अनुसार 'त' का 'द' बन जाया करता है। जैसे सत्+भाव से सद्भाव, सत्+आचार से सदाचार, सत्+ज्ञान से सदज्ञान। इसीप्रकार 'अन्तर' शब्द का अपभ्रंशरूप 'अन्दर' बन गया है। इसमे भी 'त' का 'द' मे परिवर्तन हो गया है। जिसके अन्दर आदम या आत्मा है वही आदमी है। इस निरुक्ति के अनुसार पशु, पक्षी, नारकी और देवता सभी आदमी की कोटि में आ जाते है। किन्तु इसके दूसरे अर्थ के अनुसार जिसको आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान है, वही आदमी है। जो आत्मज्ञान से हीन है वह आदमी कैसे होगा ? मारवाडी भाषा में एक कहावत है

"तोल रो मुडो बाको हे।"

अन्दाज अलग चीज है और परिमाण अलग। तुलने के समय अन्दाज और अनुमान काम नही आया करते है। वहा तो वास्तविकता काम आती है। जो सही वजन होगा वह सामने आ जायेगा। आदमी शब्द को अर्थ की तुला

पर रखकर जब हम तोलने बैठते है तो कभी यह पलडा भारी होगा और कभी दूसरा। तराजू का गुरु है—डाडी के ठीक बीच मे लगी चोटी, जिसको पकडकर ही दोनो पलडो की बराबरी देखी जाती है। गुरु बीच में रहता है और उसके इधर भी एक चेला और दूसरी ओर भी एक चेला। देव, गुरु और धम—इनके मध्य में विराजने वाले गुरु के देव और धर्म दोनो चेले है। दोनो की चोटी गुरु के हाथ में है या दूसरे शब्दो मे दोनो गुरु पर अवलबित है। इसका भावार्थ यह है कि देव का स्वरूप बताने वाले भी गुरु ही होते है और धर्म की पहचान कराने वाले भी गुरु ही होते है। यदि गुरु वास्तव मे गुरु के गुणो से गरिष्ठ है, निष्काम है, निष्कपट है और आचारवान है तो वे निश्चय ही देव का तथा धम का स्वरुप यथातथ्य रूप में वर्णित करेंगे और यदि वे ऐसे नही हे तो कहेगे -

"रावल देवल गुरु के पाये।
खाली हाथ कबहुँ मत जाये।"

ऐसे गुरु तो यही कहेगे कि देव के पास तथा गुरु के पास कुछ न कुछ भेंट लेकर ही जाना चाहिए, वहाँ खाली हाथ जाना उचित नही। ऐसे गुरु न तो देव के और न ही धर्म के स्वरूप को सही रूप से बता सकते है।

हाँ, तो हम आपसे यह कह रहे थे कि अर्थ की तुला पर तोलने से आदमी शब्द का एक अर्थ तो प्राणीमात्र पर घटित होता है जबकि दूसरा केवल आदमी का ही सूचक है। सामान्यरूप से तो सभी आदमी, आदमी कहलाते है किन्तु वास्तव में आदमी वही है जिसने अपने आत्मस्वरूप को पहचान लिया हो, जिसको अपनी सहज प्रकृति का ज्ञान हो गया हो।

आदमी के लिए अन्य पर्यायवाचक शब्द है 'पुरुष'। जो पुरुषार्थ करे, उद्यम करे वह पुरुष कहलाता है। पुरुषार्थ के आधार है—साहस और शक्ति। जिसमें इन दो गुणो का अभाव है वह पुरुषार्थ नही कर सकता और पुरुषत्व से गिर जाता है। अधिकार और सत्ता की प्राप्ति बिना साहस और शक्ति के नही हो सकती। 'पुरुष' सस्कृत का शब्द है, प्राकृत मे 'रु' का 'रि' बनकर 'पुरिस' बन जाता है। सभवत इसी पुरिस शब्द से 'पुलिस' शब्द निष्पन्न हुआ है क्योकि अर्ध मागधी मे 'र' का 'ल' हो जाता है और सस्कृत में भी 'रलयोरभेद' ऐसा माना गया है। राजकीय सुरक्षा-वग के आदमी पुलिस कहलाते है। सामान्य पुरुषो की अपेक्षा से वे अधिक साहसी, चुस्त और शक्तिशाली होते है, इसीलिए पुलिस शब्द उन पर वास्तविक रूप मे चरितार्थ होता है। जो व्यक्ति आलसी है, उद्यमहीन है, मात्र भाग्य पर भरोसा रखने वाला है, वह कदापि अपने को पुरुष कहलाने योग्य नही बना सकता। यहाँ उप-

स्थित श्रावको पर पुरुष शब्द का अर्थ कहाँ तक घटित होता है यह तो आपके सोचने की बात है।

आदमी का तीसरा पर्यायवाचक शब्द है 'मानव', मानव का अर्थ है 'मनु की सन्तान'। मनु का अर्थ है 'ज्ञानी'। जो ज्ञानी पुरुषो के अनुगामी है या जीवन के क्षेत्र मे ज्ञान का आश्रय लेकर बोलते है, चलते है और आचरण करते है, वे होते है 'मानव'। मान-मर्यादा को धारण करने वाले को भी मानव कहा जा सकता है। आज के युग मे मानवतावादी सिद्धान्त का बडा बोलवाला है। तार्किक लोग प्राय यह कहते हुए सुने जाते है कि आज का मानव, मानव है या दानव? वास्तव मे आज का मानव, मानव न रहकर दानव बन रहा है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए वह विज्ञान का आश्रय लेकर व्यापकरूप से जनसहार कर रहा है। उसमे मानवता लुप्त हो रही है। आज के मानव को मानव कहना, कहाँ तक उचित है यह आप भलीभाँति जानते है।

चौथा शब्द आदमी के लिए है 'मनुष्य,' जिसका अर्थ है 'मननशील'। किसी भी बात को सुनकर या देखकर जो व्यक्ति यह मनन करता है, चिन्तन करता है, तुलना करता है कि उसमे कितने गुण है, कितने दुर्गुण है, वह मनुष्य कहलाता है। सारे काम छोडकर आप यहाँ व्याख्यान सुनने को बैठे हैं। यदि सब कुछ सुनकर भी आपने उस पर मनन-चिन्तन न किया, कुछ ग्रहण कर उसे जीवन मे न उतारा तो आप मनुष्य कैसे बन सकेंगे? इसलिए हमारा आपको यही उपदेश है कि आप इस मनुष्य शब्द को अपने ऊपर चरितार्थ करें।

मनुष्य का पर्यायवाचक एक शब्द 'नर' भी है। जो करने योग्य और न करने योग्य काम का निर्णय करता है, वह 'नर' कहलाता है। निर्णय करना भी सरल काम नही है। न्यायालयो मे न्यायाधीश सहसा निर्णय नही ले लिया करते। अनेक पेशियाँ भुगतनी पडती है, वकीलो मे लम्बे-चौडे वाद-विवाद चलते है, तब कही न्यायाधीश निर्णय दे पाता है। निर्णय देने के लिए स्थिरमतित्व की आवश्यकता है। अस्थिर बुद्धि वाले लोग निर्णय देने की प्रतिभा से हीन होने के कारण त्रिशकु की तरह बीच मे ही लटकते रहते हैं। उनकी दशा तो वैसी ही होती है

"न इधर के रहे न उधर के बने,<br>न खुदा ही मिला न विसाले सनम।"

नर का विरोधी शब्द मादा है। पृथ्वीराज चौहान का नाम किसने नही सुना। वह बडा वीर-योद्धा था। ठीक उसी प्रकार की आकृति के सौ और ऊपर सदा उसके साथ रहा करते थे। सभी की वेशभूषा भी पृथ्वीराज के ही

समान थी। डील-डौल मे भी वे पृथ्वीराज के ही समान थे। सभी के सभी परम स्वामीभक्त और स्वामी के सकेत पर चलने वाले थे। पृथ्वीराज अलग और सौ सामन्त अलग। पृथ्वीराज की एक दासी थी जो केवल पृथ्वीराज से ही घूघट निकाला करती थी। शेष सौ सामन्तो से वह खुलकर बात किया करती थी। यह बात उन सौ सामन्तो को बहुत अखरती थी। सब सामन्त यह सोचा करते थे कि "हम मे और पृथ्वीराज मे क्या अन्तर है, सब एक से ही तो है फिर इस दासी का हमसे खुलकर बात करना और पृथ्वीराज से घूघट निकालना ऐसा क्यो है? क्या हम मे किसी प्रकार की कमी है?" उनको कुछ भी इसका रहस्य समझ मे नही आया। आखिर एक दिन एक सामन्त दासी से पूछ ही बैठा, "क्या बात है, तुम हमसे तो घूघट निकालती नही और पृथ्वीराज से घूघट निकाला करती हो। क्या हमारे प्रति तुम्हारे मन मे आदर-मान नही है?"

"तुम सब व्यक्तियो मे कोई नर हो तो घूघट निकालूं! तुम सबमे तो केवल एक पृथ्वीराज ही नर है, मै उससे घूंघट निकाला करती हूँ।" सामुद्रिकशास्त्र मे नर का भी एक लक्षण बताया गया है। जिसकी छाती पर स्तन का चिह्न न हो वह नर कहलाता है। कहते है कि पृथ्वीराज की छाती पर स्तन का चिह्न नही था। दासी की बात को सुनकर सब सामन्तो के चेहरे उतर गये और सोचने लगे कि इससे तो दासी से प्रश्न न ही किया जाता तो अच्छा था। किवदन्ती के अनुसार अर्जुन के स्तन के चिह्न नही थे। तीर्थंकरो के और घोडे के भी स्तन के चिह्न नही होते। आजकल तीर्थंकरो की प्रतिमाओ के लोग स्तन-चिह्न बनाने लगे है, जो अनुचित है।

प्रसगवश हम प्रस्तुत विषय से बहुत दूर चले गये है। हम कह रहे थे कि निर्णय करने की सामर्थ्य हर एक मे नही होती, जो निर्णय करना जानता है वही नर है। चित्त की चचलता का अभाव या दूसरे शब्दो मे मन की एकाग्रता का निर्णायक मे होना परमावश्क है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए भी दृढ श्रद्धा की जननी मन की स्थिरता का अस्तित्व परमावश्यक है। बहुत-से लोग श्रद्धा को दिल की दुर्बलता मानते है किन्तु वास्तव मे श्रद्धा का अभाव ही दिल की दुर्बलता है। अस्थिर मन मे श्रद्धा निवास नही किया करती। ऐसे लोग जो अवसरवादी होते है और जहाँ गये वही के रग मे रग जाते है, वे श्रद्धा जैसी पावन भावना को अपने मन मे स्थान नही दे सकते। गगा गये तो गगादास, जमना गये तो जमनादास और मथुरा गये तो मथुरादास—बस, सर्वत्र दास बनने वाले अपने व्यक्तित्व के अस्तित्व को क्या पहचान सकते है? ऐसे व्यक्तियो मे दृढ श्रद्धा को स्थान कैसे मिल सकता है? अपने ध्येय पर दृढ रहने की क्षमता

उनमे नही हो सकती ।

व्याख्यान के प्रारभ मे जो चर्चा चली थी उसमे हमने कहा था कि ससार के सब प्राणी सुख की अभिलाषा करते है, दु ख किसी को प्रिय नही है । आगम का कथन है

"सव्वे पाणा पिआउआ ।
सुहसाया दुक्खपडिकूला ।।"

आचाराग १/२/३

अर्थात्—सब प्राणियो को अपना जीवन प्रिय होता है सुख सबको अच्छा लगता है और दु ख सबको बुरा लगता है। सूत्रकृताग मे भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है

"सव्वे अकतदुक्खा य ।"

जिनमे मानवता है, मननशीलता है और चिन्तनशीलता है वे ही शाश्वत सुख की प्राप्ति करना चाहेगे । सांसारिक सुख-दु ख की वे किंचिन्मात्र भी परवाह रही करेंगे । ससार के सुख दु ख का कोई महत्त्व भी नहीं है ।

लोगो ने सुख और दु ख—ये शब्द तो सुन रखे है किन्तु वे इन शब्दो के वास्तविक अर्थ से सर्वथा अनभिज्ञ है । सु और दु—ये दो अक्षर है जिनके साथ 'ख' लगा हुआ है । 'सु' का अर्थ है अच्छा और 'दु' का अर्थ है बुरा । 'ख' का अर्थ कोश के अनुसार आकाश होता है । आकाश शून्य स्थान को कहते है । जैन सिद्धान्त मे जो छह द्रव्य माने गये है, वे सभी आकाश या शून्य मे रहते है । जीव एव पुद्गलो को, जिनकी सख्या अनन्तानन्त है, ठहरने के लिए आकाश स्थान देता है । आकाश नाम का द्रव्य सर्वथा शून्य माना जाता है । वह पूर्ण रूप से कभी भी नही भरता । आकाश की कोई सीमा नही है, वह तो सर्वत्र व्यापक है । ऊपर नीचे सर्वत्र आकाश फैला हुआ है । लोटा दूध से या पानी से भरा दिखाई देता है किन्तु आकाश उसमे भी विद्यमान है, यदि आकाश वहाँ न होता तो चीनी वहाँ कैसे समा जाती । दीवार मे भी यदि आकाश न होता तो कील कैसे ठुक सकती ? धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छह द्रव्यो से सारा विश्व भरा हुआ है ।

सु+ख, अच्छा खाली स्थान और दु+ख, बुरा खाली स्थान । कोई व्यक्ति एक वर्ष तक निरन्तर दु ख भोगता है, बडा व्याकुल रहता है किन्तु वर्ष की समाप्ति पर उसे जब सुख मिल जाता है तो अपना सारा दु ख भूल जाता है। एक वर्ष तक दु ख ने अपनी उपस्थिति द्वारा किसी रिक्त स्थान को नही भरा । एक क्षण का सुख मिलते ही दु ख ऐसे चला गया जैसे उसका

समान थी। डील-डौल मे भी वे पृथ्वीराज के ही समान थे। सभी के सभी परम स्वामीभक्त और स्वामी के सकेत पर चलने वाले थे। पृथ्वीराज अलग और सौ सामन्त अलग। पृथ्वीराज की एक दासी थी जो केवल पृथ्वीराज से ही घूघट निकाला करती थी। शेष सौ सामन्तो से वह खुलकर बात किया करती थी। यह बात उन सौ सामन्तो को बहुत अखरती थी। सब सामन्त यह सोचा करते थे कि "हम मे और पृथ्वीराज मे क्या अन्तर है, सब एक से ही तो है फिर इस दासी का हमसे खुलकर बात करना और पृथ्वीराज से घूघट निकालना ऐसा क्यो है? क्या हम में किसी प्रकार की कमी है?" उनको कुछ भी इसका रहस्य समझ मे नही आया। आखिर एक दिन एक सामन्त दासी से पूछ ही बैठा, "क्या बात है, तुम हमसे तो घूघट निकालती नही और पृथ्वीराज से घूघट निकाला करती हो। क्या हमारे प्रति तुम्हारे मन मे आदर-मान नही है?"

"तुम सब व्यक्तियो में कोई नर हो तो घूघट निकालूं! तुम सबमें तो केवल एक पृथ्वीराज ही नर है, मै उससे घूघट निकाला करती हूँ।" सामुद्रिकशास्त्र मे नर का भी एक लक्षण बताया गया है। जिसकी छाती पर स्तन का चिह्न न हो वह नर कहलाता है। कहते हैं कि पृथ्वीराज की छाती पर स्तन का चिह्न नही था। दासी की बात को सुनकर सब सामन्तो के चेहरे उतर गये और सोचने लगे कि इससे तो दासी से प्रश्न न ही किया जाता तो अच्छा था। किंवदन्ती के अनुसार अर्जुन के स्तन के चिह्न नही थे। तीर्थंकरो के और घोडे के भी स्तन के चिह्न नही होते। आजकल तीर्थकरो की प्रतिमाओ के लोग स्तन-चिह्न बनाने लगे है, जो अनुचित है।

प्रसगवश हम प्रस्तुत विषय से बहुत दूर चले गये हे। हम कह रहे थे कि निर्णय करने की सामर्थ्य हर एक में नही होती, जो निर्णय करना जानता है वही नर है। चित्त की चचलता का अभाव या दूसरे शब्दो मे मन की एकाग्रता का निर्णायक में होना परमावश्क है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए भी दृढ श्रद्धा की जननी मन की स्थिरता का अस्तित्व परमावश्यक है। बहुत-से लोग श्रद्धा को दिल की दुर्बलता मानते है किन्तु वास्तव मे श्रद्धा का अभाव ही दिल की दुर्बलता है। अस्थिर मन मे श्रद्धा निवास नही किया करती। ऐसे लोग जो अवसरवादी होते है और जहाँ गये वही के रग में रग जाते है, वे श्रद्धा जैसी पावन भावना को अपने मन मे स्थान नही दे सकते। गगा गये तो गगादास, जमना गये तो जमनादास और मथुरा गये तो मथुरादास—बस, सर्वत्र दास बनने वाले अपने व्यक्तित्व के अस्तित्व को क्या पहचान सकते है? ऐसे व्यक्तियो में दृढ श्रद्धा को स्थान कैसे मिल सकता है? अपने ध्येय पर दृढ रहने की क्षमता

उनमे नही हो सकती।

व्याख्यान के प्रारभ मे जो चर्चा चली थी उसमे हमने कहा था कि ससार के सब प्राणी सुख की अभिलाषा करते है, दु ख किसी को प्रिय नही है। आगम का कथन है

"सव्वे पाणा पिआउआ।
सुहसाया दुक्खपडिकूला॥"

आचाराग १/२/३

अर्थात्—सब प्राणियो को अपना जीवन प्रिय होता है सुख सबको अच्छा लगता है और दु ख सबको बुरा लगता है। सूत्रकृताग मे भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है

"सव्वे अकतदुक्खा य।"

जिनमे मानवता है, मननशीलता है और चिन्तनशीलता है वे ही शाश्वत सुख की प्राप्ति करना चाहेगे। साँसारिक सुख-दु ख की वे किंचिन्मात्र भी परवाह रही करेंगे। ससार के सुख दु ख का कोई महत्त्व भी नही है।

लोगो ने सुख और दु ख—ये शब्द तो सुन रखे है किन्तु वे इन शब्दो के वास्तविक अर्थ से सवथा अनभिज्ञ है। सु और दु—ये दो अक्षर है जिनके साथ 'ख' लगा हुआ है। 'सु' का अर्थ है अच्छा और 'दु' का अर्थ है बुरा। 'ख' का अर्थ कोश के अनुसार आकाश होता है। आकाश शून्य स्थान को कहते है। जैन सिद्धान्त मे जो छह द्रव्य माने गये हैं, वे सभी आकाश या शून्य मे रहते है। जीव एव पुद्गलो को, जिनकी सख्या अनन्तानन्त है, ठहरने के लिए आकाश स्थान देता है। आकाश नाम का द्रव्य सर्वथा शून्य माना जाता है। वह पूर्ण रूप से कभी भी नही भरता। आकाश की कोई सीमा नहीं है, वह तो सर्वत्र व्यापक है। ऊपर नीचे सर्वत्र आकाश फैला हुआ है। लोटा दूध से या पानी से भरा दिखाई देता है किन्तु आकाश उसमे भी विद्यमान है, यदि आकाश वहाँ न होता तो चीनी वहाँ कैसे समा जाती। दीवार मे भी यदि आकाश न होता तो कील कैसे ठुक सकती ? धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छह द्रव्यो से सारा विश्व भरा हुआ है।

सु+ख, अच्छा खाली स्थान और दु+ख, बुरा खाली स्थान। कोई व्यक्ति एक वर्ष तक निरन्तर दु ख भोगता है, बडा व्याकुल रहता है किन्तु वर्ष की समाप्ति पर उसे जब सुख मिल जाता है तो अपना सारा दु ख भूल जाता है। एक वर्ष तक दु ख ने अपनी उपस्थिति द्वारा किसी रिक्त स्थान को नही भरा। एक क्षण का सुख मिलते ही दु ख ऐसे चला गया जैसे उसका

सदा से ही अभाव था। थोडा-सा आराम मिलते ही लोग अफलातून बन जाते है। सोने का, जागने का, खाने का, पीने का कुछ भी ध्यान नही करते। निरतर बीस वर्ष तक भी यदि आपने सब प्रकार के सुख को भोगा है, जीवन का पूरा आनन्द लिया है तो उस आनन्द की कुछ तो स्थिरता होनी चाहिए, परन्तु वह स्थिरता दृष्टिगोचर नही होती। एक क्षण के लिए भी यदि दुख की अवस्था आ जाती है तो बीस वर्ष का सुख एक क्षण मे ही लुप्त जाता है। थोडे-से दुख से ही लोग यहाँ तक कहते सुने गये है, "मैंने तो माता के गर्भ से जन्म लेने के पश्चात् कभी सुख का मुँह देखा ही नही।" इतना सुख पाने के पश्चात् आखिर खालीपना का खालीपना ही रहा। अन्तर केवल इतना है कि दुख का खालीपना हमे अधिक अखरता है और सुख का खाली-पना कम अखरता है। वास्तव मे खाली स्थान को न दुख ही भरने मे समर्थ है और न सुख ही।

इसी कारण ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि ससार के सुख-दुख का कोई महत्त्व नही है। मोक्ष का सुख शाश्वत सुख है, सार्वकालिक सुख है, अत उसी की प्राप्ति का प्रयत्न मानव को करना चाहिए। सासारिक उपकरण हमारे पास रहे चाहे न रहे, इसकी चिन्ता छोडकर हमे शाश्वत सुख की उस अवस्था तक पहुँचना चाहिए जहाँ न्यूनाधिकता न होकर एकरसात्मकता है। यह एकरसात्मकता मोक्ष के अतिरिक्त कही पर नही है। मोक्ष को पाने के लिए सम्यक्त्व का उद्बोध होना अत्यावश्यक है।

जैन-भवन, डेह (नागौर)                                    १८ जुलाई, १९७९

# जाति-चाण्डाल और कर्म-चाण्डाल

शाश्वत सुखो की प्राप्ति जीव के मुक्त होने के पश्चात् ही हुआ करती है। उस शाश्वत सुख की अनुभूति अनुपम है और अनिर्वचनीय है। सासारिक सुखो के समान शाश्वत सुख क्षणिक अथवा अचिरस्थायी नही होते। शाश्वत सुखो की उपलब्धि के लिए विरले जन ही प्रयत्नशील होते है। अधिसत्य लोग तो सासारिक सुखो के लिए ही लालायित पाये जाते है। हमारे सामने अब प्रश्न यह है कि यदि हमे अशाश्वत सुख भी प्राप्त ह तो क्या उनके प्रति भी कुछ लोगो के मन मे ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होती है? इसका उत्तर स्वीकारात्मक है। हम अपने दैनिक जीवन मे देखते है कि यदि कोई व्यक्ति सुखी है, सम्पन्न है तो लोग उसे देखकर जलते है, कुढते हे और तरह-तरह की दुर्भावनायें उसके प्रति मन में लाते ह। मारवाडी भाषा की यह कहावत कि

**"परसुखे दुखिया"**

इसी सत्य की पुष्टि करती है। उदाहरण के लिए किसी ने किसी साई से पूछा, "कुतिया क्यो भौक रही है?" उत्तर मिला, "साली का पेट दुख रहा है।" क्यो दुख रहा है, "इसलिए कि साई जी को तो लोग घर घर से रोटी डालते हैं, बुलाकर भी देते है, उसे कोई एक टुकडा भी नही डालता। दर-दर भटकती हे, सब जगह लोग 'धुत्धुत्' करके दुत्कारते हैं।"

दूसरे के सुख को देखकर दुखी होने की, इस उदाहरण मे झलक है। दूसरे के सुख को देखकर मन मे जो जलन होती है उसका आधार ईर्ष्या की भावना है। ईर्ष्या की भावना को शास्त्र में महापाप माना है। यहाँ तक कि ईर्ष्यालु मनुष्य को चाण्डाल की सज्ञा दी है

ईर्ष्यालु पिशुनश्चैव, कृतघ्नो दीर्घरोषक ।<br>
चत्वार कर्मचाण्डाला, जातिचाण्डालपचम ॥

यद्यपि मूलरूप मे चाण्डाल दो ही प्रकार के होते है— कर्म-चाण्डाल, और जाति-चाण्डाल, किन्तु सख्या की दृष्टि से वे पाँच प्रकार के माने गये है— ईर्ष्या करने वाला, चुगलखोर, कृतघ्न, चिरक्रोधी और जाति का चाण्डाल। इन सबमें ईर्ष्यालु का स्थान सर्वप्रथम है। दूसरे को सुखी, सम्पन्न, उन्नत, यशस्वी और प्रतिष्ठित देखकर उसके प्रति जो मन मे ईर्ष्या रखता है या जलता है, उसे ईर्ष्यालु कहते है। ईर्ष्या से बढकर कोई बुरी वात नही है। उन्नति, यश और प्रतिष्ठा के पीछे मनुष्य का अपना अध्यवसाय और पुरुषार्थ छिपा होता है। पता नही किन-किन कष्टो को झेलकर वह इनकी प्राप्ति करता है। वह किसी का माल छीन-झपटकर तो आगे नही बढा है, अपने पुरुषार्थ से उसने जीवन मे प्रगति की है। विना किसी को हानि पहुचाये प्रगतिपथ पर बढना कोई अपराध नही माना जा सकता। नैतिक सहिता भी उसका समर्थन करती है। अपने साहस से और साधनो से उसने प्रतिष्ठा प्राप्त की है। ऐसा व्यक्ति तो समाज के लिए, धर्म के लिए अनुकरणीय है। सब का कर्तव्य है कि उसके प्रति सद्भाव रखें और उसकी मगलकामना करे किन्तु ऐसा न करके कुछ लोग उसे देखकर जलते है, ईर्ष्या करते हे और उसका बुरा चाहते हैं। यह अनुचित है, निन्दनीय है और हेय है। दूसरे के यश को देखकर जलने वालो के लिए तभी तो शास्त्रकार कहते है

"दह्यमाना सुतीव्रेण नीचा परयशोऽग्निना।
अशक्तास्तत्पद गन्तु ततो निन्दा प्रकुर्वते॥"

**शार्ङ्गधर पद्धति, ३७५**

अर्थात्—

दूसरे के यशरूपी तीव्र अग्नि से जलते हुए ईर्ष्यालु नीच पुरुष, यशस्वी व्यक्ति के उच्च पद को प्राप्त करने की स्वय मे सामर्थ्य न पाकर उसकी निन्दा पर उतारू हो जाया करते है।

ईर्ष्यालु पुरुष अपनी दुष्टता का त्याग नही किया करते। स्वय तो उनमे यश-लाभ की शक्ति होती नही, दूसरो की वे सहन नही करते। जबकि यशस्वी पुरुष तो समाज, जाति और राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बढाने वाले होते है, फिर भला उनकी निन्दा करने का या उनके प्रति ईर्ष्या करने का क्या लाभ है?

इसके अतिरिक्त, यह तो सर्वसम्मत बात है कि जिसका पुण्य प्रबल होता है, जो प्राणी भाग्यवान होता है, वही जीवन के क्षेत्र मे आगे बढता है, उन्नति करता है और फलता-फूलता है। ऐसे पुण्यवान व्यक्ति से ईर्ष्या

करना, व्यक्ति के प्रति नही किन्तु पुण्य के प्रति ईर्ष्या है। व्यक्ति तो एक माध्यम है, गुणो का परिचायक है। लोगो को धर्म का और गुणो का व्यक्ति द्वारा ही तो ज्ञान होता है। मुख्य वस्तु तो गुण है, धर्म है, पुण्य है जिनका आश्रय लेकर व्यक्ति उन्नति करता है। मारवाडी भाषा मे एक कहावत बडी प्रसिद्ध है

**"दाल री बाफ मे ढोकलिया सीझे"**

ढोकलियो के लिए अलग से आदण चढाने की आवश्यकता नही होती। वह तो दाल के साथ मे ही सीझ जाती है।

व्यक्ति ढोकलियो के समान है। आगे बढते हुए व्यक्ति से जो ईर्ष्या करता है, जलता है, वह पुण्य और धर्म से ईर्ष्या करता है, या दूसरे शब्दो मे पुण्य और धर्म की अवहेलना करता है। धर्म और पुण्य की अवहेलना करने वाला व्यक्ति जन्मजन्मान्तरो मे भी अपनी उन्नति के सस्कारो का सचय नही कर सकता। उत्तर भवो मे भी उसका निरन्तर पतन होता चला जाएगा। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषो ने ईर्ष्यालु पुरुष को कर्म-चाण्डाल के नाम से अभिहित किया है।

दूसरे नम्बर पर आता है 'पिशुन'। पिशुन कहते है 'चुगली करने वाले को या चुगलखोर को'। चुगली उगली हुई चीज होती है। उगली वमन की हुई वस्तु को कहते है। वास्तविक बात तो व्यक्ति के द्वारा किया गया कृत्य है। झूठ बोला होगा किसी के शिकजे मे फसकर, मुसीबत के फदे मे फसकर। झूठ बोलकर उससे छुटकारा पा गया। पर-स्त्री-सेवन करके आया, वहाँ भी झूठ बोलकर थोडी देर के लिए बच गया। किसी भी अकृत्य का सेवन करके व्यक्ति को अस्थायी रूप मे ही सही कुछ तो सुख की प्राप्ति होगी किन्तु चुगली करने वाला तो इन क्षणिक सुखो से भी कोसो दूर है। चुगली करने वाले चुगलखोर के हाथ चुगली करने से कुछ नही आता। चुगली करना शास्त्र मे बहुत बडा पाप माना गया है।

पापो की सख्या १८ है। इन १८ पापो मे से एक पाप है—पैशुन्य। इसी पैशुन्य को हिन्दी भाषा मे चुगली के नाम से जाना जाता है। पैशुन्य से मिलते-जुलते कुछ और भी पाप है। जैसे मृषावाद, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद और मिथ्यादर्शनशल्य। कमश इनका क्रम इस प्रकार है— दूसरा, तेरहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ और अठारहवाँ। मिथ्या भाषण करना या झूठ बोलना मृषावाद है। किसी पर झूठा कलक लगाना अभ्याख्यान है। चुगली करना पैशुन्य एव झूठी या सच्ची निंदा करना परपरिवाद

कहलाता है। मान्यता अर्थात् किसी भी वस्तु के प्रति अपनी धारणा को यथार्थ न रखना मिथ्यादर्शनशल्य है। दूसरे पाप मे केवल झूठ बोलने की क्रिया है, जबकि अठारहवे पाप मे व्यक्ति की मान्यता व धारणा ही झूठी होती है। इसीलिए अठारहवें पाप को आत्मा के लिए सबसे अधिक घातक माना गया है। शास्त्रकारो ने अठारह पापो का जो यह क्रम प्रतिपादित किया है उसमे यह भी एक हेतु है कि ये पाप उत्तरोत्तर अधिकाधिक घातक है। इस दृष्टि से चुगली करने का पाप भी झूठ बोलने व कलक लगाने के पाप से अधिक घातक सिद्ध हो जाता है।

हाँ, तो प्रसग चल रहा था पाँच प्रकार के चाण्डालो का। इनमे ईर्ष्यालु और पिशुन नाम के चाण्डालो का विवरण तो आपके सामने प्रस्तुत किया जा चुका है। अब तीसरा है—कृतघ्न नाम का चाण्डाल। किये हुए उपकार को न मानने वाला कृतघ्न कहलाता है। इस प्रसग पर एक कथा स्मरण हो आई। जगल के मार्ग से होता हुआ एक पण्डित जा रहा था। मार्ग में वृक्ष के नीचे एक कुत्ता बैठा हुआ था, बहुत उदास और अत्यन्त निराश। पण्डित मन में सोचने लगा

"यह प्राणी जगल का निवासी तो नही है। यह तो ग्राम्य पशु है। मनुष्यो के सम्पर्क में रहने वाला है, फिर यह जगल का आश्रय लेकर क्यो बैठा है और बैठा भी ऐसे है जैसे ससार से तग आ गया हो, जीवन इसे भारभूत हो गया हो और आत्महत्या के लिए उद्यत हो।" पण्डितजी कुत्ते के समीप गये और उसकी उदासी का कारण पूछा। कुत्ते ने कहा, "मैंने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया है। मैं महान् और असह्य दुख से सन्तप्त हूँ। मैं जहाँ भी जाता हूँ लोग मुझे दुत्कारते है। लोग जिस पर नाराज होते है, क्रुद्ध होते हैं उसके प्रति गहरी घृणा प्रकट करते हुए कहा करते हें 'अरे! कुत्ते, हट यहाँ से' इस वाक्य मे कुत्ता जाति के लिए कितना अपमानजनक भाव व्यक्त होता है? ससार में मेरे से अधिक कोई प्राणी घृणित नही है। सबसे अधिक तिरस्कार मेरा ही होता है। यह बात मेरे दिल में काँटे की तरह चुभ रही है। मै यह सोच रहा हूँ कि ऐसी अपमानपूर्ण जिन्दगी से तो मरना ही अच्छा है। मारवाडी भाषा की कहावत है

**जीविया रे जीविया, धूल खाके जीविया।**

ऐसी जिन्दगी मे रखा ही क्या है? एक सुलगती अग्नि के समान होता है ऐसा जीवन तो। ऐसी अग्नि से निराशाओ का धुआँ उठा करता है जिससे सम्पर्क मे आने वालो की आँखें और श्वास भी दूषित हो जाया करते हे। ऐसी धुआँधार जिन्दगी यदि चिरकाल तक भी चले तो उससे क्या लाभ? एक

नीतिकार का कथन है

"क्षण प्रज्वलित श्रेय, न च धूमायित चिरात्।"

अर्थात्—धधकती अग्नि के समान क्षण भर जीना अच्छा किन्तु धुधुआती आग की तरह चिरकाल तक जीना किसी काम का नही। अच्छा तो यही है कि जीवन धधकती ज्वाला के समान प्रकाशमान हो। जिनको गरमी की आवश्यकता है उनको गर्मी मिले, जहाँ अधेरा हो वहाँ प्रकाश हो जाये, जो सिझोना चाहते है उनको ताप की प्राप्ति हो। ऐसा उपयोगी जीवन तो क्षण-भर का भी अच्छा होता है, इसके विपरीत सुलगने वाले जीवन का तो कुछ भी महत्त्व नही।

पण्डित ने कुत्ते की वात को बडे ही ध्यान से सुना। वह सोचने लगा, "इसके भीतर इतना ज्ञान कहाँ से आ गया ? कुत्ता होकर भी यह तो बडा समझदार और बुद्धिमान है।" पण्डित ने कुत्ते से कहा

शोक मा कुरु कुक्कुर !
सत्वेष्वहमधम इति मुधा साधो !
त्वत्तोऽपि हि स नीच,
य परकृतमुपकार न जानाति ॥

अरे कुत्ते ! तुम शोक मत करो और यह मत सोचो कि मै सब प्राणियो मे अधम हूँ। तुमसे भी कही बढकर ससार मे वह नीच व्यक्ति है जा दूसरे के द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकार को भुला देता है।

शास्त्रकार तो गुणग्राहकता पर बल देते है, यही कारण है कि उन्होने कुत्ते को भी निकृष्ट नही माना है किन्तु उसके भी गुणो का बखान करते हुए लिखा है'

बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्ट, सुनिद्र शीघ्रचेतन।
प्रभुभक्तश्च शूरश्च, ज्ञातव्या षट्शुनो गुणा ॥

चाणक्यनीतिसार, ६९

अर्थात्—कुत्ता यद्यपि बहुत आहार करने वाला प्राणी है किन्तु उसे थोडा भी मिल जाये तो उससे भी सन्तुष्ट हो जाता है। अच्छी नीद लेने वाला होते हुए भी उचित अवसर पर तुरन्त जग जाता है। अपने स्वामी का पक्का भक्त होता है और वीरात्मा होता है। ये छह गुण कुत्ते मे होते है।

ये छह गुण तो सामान्य रूप से मनुष्य मे भी मिलने कठिन है। पडित ने कुत्ते से कहा, "तेरे अन्दर तो इतने अच्छे गुण हे जो मनुष्यो के लिए भी अनु-

करणीय है, फिर तू इतना निराश क्यो हो रहा है ? इतने लम्बे-चौडे ससार मे तेरी कद्र करने वाले भी अवश्य मिलेंगे।"

इस प्रकार शास्त्र मे कृतघ्न की वडी निन्दा की गई है और कृतघ्नता को बहुत वडा पाप माना गया है। इतना वडा पाप कि

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता लोके कृतघ्ने नास्ति निष्कृति ॥

पचतन्त्र, ४/११

अर्थात्—ब्रह्महत्या करने वाले व्यक्ति की, शराब पीने वाले की और लिए गये व्रत का भग करने वाले की तो पाप से मुक्ति सम्भव है किन्तु कृतघ्न व्यक्ति तो कभी भी पाप से मुक्ति नही प्राप्त कर सकता।

चौथा चाण्डाल होता है 'दीर्घरोषक'। दीर्घरोषक उसे कहते है जो चिर-काल तक वैर को बनाये रखता है, उसे कभी भूलता नही है। इस प्रसग पर एक उदाहरण स्मरण हो आया है

दो ब्राह्मण थे, जो खेती का काम किया करते थे। दोनो के खेत पास-पास थे। एक ब्राह्मण जब हल चला रहा था तो उसका वैल थककर या किसी रोग के कारण चलते-चलते वैठ गया। ब्राह्मण ने बैल को उठाने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु वह बैल उठ नही सका। वह क्रोध से भर गया और उसने बैल को डडे से इतना मारा कि डडा भी टूट गया। अब उसने मिट्टी के ढेलो से बैल को मारना आरम्भ कर दिया। इतना मारा कि वैल के प्राण निकल गये। आसपास के हल चलाने वालो ने उसे देखा और उससे कहा, "तूने यह बहुत बुरा काम किया है। एक तो ब्राह्मण को खेती करने का ही निषेध है, दूसरे तुमने इतना क्रोध किया कि बैल की जान ही ले ली। यह तो तुमने 'गोहत्या' कर डाली जो महापाप है। बिजली की गति के समान यह बात सारे गाँव में पहुँच गई। बडे-बूढे ब्राह्मणो ने पचो को एकत्रित किया और सब के निणय के अनुसार उस गोहत्यारे ब्राह्मण को जाति से बहिष्कृत कर दिया। पचायत ने कहा, "अपराधी को दण्ड तो मिलना ही चाहिए, अन्यथा और लोगो को भी ऐसे महापाप के लिए प्रेरणा मिलेगी। जाति से बाहर कर देना भी कोई सामान्य दड नही होता। गोहत्यारे ब्राह्मण का सारा परिवार बडे सकट में पड गया। पचो के समक्ष पुन विचाराथ प्राथना-पत्र पेश किया गया। सुनाई के पश्चात् पचो ने अपना निर्णय देते हुए कहा, "यह गोघातक विधिपूर्वक गगा-स्नान करे। पचो की पगरखियो का गट्ठर बाँधकर अपने सिर पर रखे हुए पचो से कहे कि जो भी दड आप मुझे देंगे, मुझे स्वीकार होगा, किन्तु आप मेरा जाति से बहिष्कार न करे। इस प्रकार की क्रिया और प्रार्थना करने पर

ही पुन और निर्णय लिया जा सकता है।"

पचो के कथनानुसार ब्राह्मण ने सारा क्रियाकाण्ड यथावत् किया। इसके पश्चात् पुन विचार के लिए अनेक वेद-पुराणो के पाठी ब्राह्मण बहुत बडी सख्या में एकत्रित हुए, गोहत्यारे ब्राह्मण को बुलाया गया। उसने सब ब्राह्मणो की पगरखियो का गट्ठर बाँधकर सिर पर उठाया और प्रार्थना की अपने को जाति में पुन सम्मिलित करने की। पचायत बैठ गई और निर्णय पर विचार आरम्भ हो गया। एक वृद्ध ब्राह्मण ने कहा, "पचो! आपके निर्णय के अनुसार यह पापी ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत रहा, गगा स्नान भी इसने किया, विधिविधानपूर्वक अपना शुद्धिकरण भी किया, आप सबकी पगरखियो को भी सिर पर रखा। यह सब देखकर आप सब पचो की ऐसी राय मुझे प्रतीत होती है कि आप इसे पुन जाति मे मिलाने का निर्णय देंगे। मैं इससे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ।" "पूछिये" सब ने एक स्वर मे उत्तर दिया। वृद्ध ब्राह्मण ने गोघातक ब्राह्मण से पूछा, "यदि वह मृत बैल तुम्हारे सामने जीवित अवस्था मे उपस्थित हो जाये तो तुम उसके साथ कैसा व्यवहार करोगे?"

वृद्ध ब्राह्मण की बात सुनते ही हत्यारे ब्राह्मण की आँखे लाल हो गई और वह क्रोध से भर गया। बोला, "यदि वह बैल अब मेरे सामने आ जाये तो मैं उसके टुकडे टुकडे कर दूँ। जिस दुष्ट के कारण मुझे जाति से बहिष्कृत होना पडा, जूतियाँ उठाकर बुरी तरह से अपमानित होना पडा, उसके साथ मैं वैसा ही व्यवहार करूँगा जैसा पहले किया था।"

पचो को सम्बोधित करते हुए वृद्ध ब्राह्मण ने कहा, "इस व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत करने से, गगा स्नान करने से और पचो की जूतियाँ उठाने से कोई लाभ नही हुआ। ये सारी क्रियाएँ तो इसलिए थी कि इसको अपने किये गये पाप पर पश्चात्ताप होता, इसके हृदय का परिवर्तन होता, पाप के प्रति इसके मन मे ग्लानि उत्पन्न होती, और भविष्य मे ऐसा पाप न करने की प्रेरणा मिलती। यह तो वैसा का वैसा ही कठोर हृदय है जैसा पहले था। इसके मन मे वही क्रोध और वही दुर्भावना है। अतएव पचो द्वारा दिया गया गगा-स्नान आदि दड सब व्यर्थ गया है। दड के द्वारा इसकी आत्मा मे तनिक भी परिवर्तन नही आया है। जो समता, सद्भावना, सहानुभूति और करुणा उस बैल के प्रति जागृत होनी चाहिए थी, वे तो हुई नही। बाह्य-शुद्धि होने पर भी इसकी अन्तरात्मा सर्वथा अशुद्ध है। अब आपकी इच्छा है, जैसा चाहो वैसा निर्णय लो।"

शास्त्रकारो ने ऐसे व्यक्ति को 'दीघरोषी' कहा है। स्थान, समय और रिस्थिति मे परिवर्तन आने पर ही जिसकी कलुषित मन स्थिति मे कुछ भी

अन्तर नही आ पाता, कोई कमी नही आती, वह 'दीघरोपी' चाण्डाल ही माना जाता है ।

पूर्वोक्त ईर्ष्यालु, पिशुन, कृतघ्न और दीर्घरोपी इन चारो को शास्त्रकार चाण्डाल मानते है । जो जाति से चाण्डाल होता है उसको तो पाँचवाँ चाण्डाल बताया गया है । इन पाँचो को 'कर्म-चाण्डाल' और 'जाति-चाण्डाल' इन दो भागो मे बाँटा है । इन दोनो प्रकार के चाण्डालो मे जाति-चाण्डाल शुद्ध होते है । वे तपश्चर्या द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण करके देवताओ द्वारा भी वन्दनीय बन जाते है और राजदरबारो मे भी वे सम्मान प्राप्त किया करते है, किन्तु जो कर्म-चाण्डाल होते है उनका सुधार इसलिए सभव नही क्योकि उनमे कषायो की उग्रता होती है ।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि सम्पन्न व्यक्तियो को देखकर लोग ईर्ष्या किया करते है । परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि वह ईर्ष्या उत्पन्न नही होती । जो व्यक्ति चिरकाल तक अनेक कष्टो को झेलकर सुख प्राप्त करता है उसके सुख के प्रति लोगो की सहानुभूति भी देखी जाती है । "बडे कष्ट के पश्चात् बेचारे को सुख मिला है ।" ऐसा लोग कहने लगते है । आज हमारे समक्ष जो तपस्या करते है, इन्द्रियो का दमन करते है, शरीर का शमन करते है और अनेक प्रकार के पहले कष्ट उठाते है, उनको बाद मे जब धर्म के प्रभाव से पुण्योदयरूपी फल मिलता है, सुख मिलता है उसके प्रति किसी को भी ईर्ष्या नही होती । इसी प्रकार धर्मध्यान एव आत्मरमणता के फलस्वरूप मिलने वाले शाश्वत सुखो के प्रति भी किसी को ईर्ष्या नही हो सकती । शाश्वत सुख या आनन्द व्यक्ति को अपने ही अन्दर से प्राप्त होता है, इसलिए उसमे बाधा डालने का किसी को अधिकार ही नही रहता । अशाश्वत व क्षणिक सुखो के लिए यह बात नही है, क्योकि इन सुखो के साधन सीमित है । ये सुख जब एक ओर एकत्र होते है तो दूसरी ओर कमी पड जाती है । अभाव-ग्रस्त व्यक्ति अबुद्धावस्था मे ईर्ष्या कर बैठता है । अभावग्रस्तता ईर्ष्या की जननी है । इसलिए साराश यही कि प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत सुखो की प्राप्ति के लिए ही सदा प्रयत्नशील रहे ।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १६ जुलाई, १६७६

१३

# शाश्वत सुख की पृष्ठभूमि

शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए 'वास्तव में सुख क्या है ?' इसकी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसके साथ-साथ 'सुख का प्रतिद्वन्द्वी दुःख क्या है ?' 'क्यो होता है ?' इसका जानना भी मानव-मन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। मानव-मन मे सुख की चाह मात्र स्वपरितोष के लिए होती है अथवा उसमे परपरितोष का तत्त्व भी विद्यमान होता है, यह विचारणीय विषय है। यदि सुख की चाह मात्र स्वपरितुष्टि के लिये है तो व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा और यदि उस सुख मे औरो के सुख का भी मिश्रण है तो फिर व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा। अब विचाराधीन बात यह है कि क्या व्यक्ति का सुख मात्र उसी तक सीमित होना चाहिए या उसके सुख के भागी उसके सम्पर्क मे आने वाले अन्य व्यक्ति भी बन सकते है ? मानव का यह दृष्टिकोण कि उसका सुख केवल उसके लिए है, सकुचित-हृदयता है, तुच्छता है एव स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा है। 'स्वार्थ-लोलुपता' की भावना बडी घातक है। यदि हम केवल अपनी ही चिन्ता करेंगे, दूसरो के सुख की उपेक्षा करेंगे, तो दूसरे भी तो वैसा कर सकते है। ऐसी स्थिति मे मानव के सामाजिक जीवन मे बडी विषमता उत्पन्न हो जायेगी, मानव की मानवता का ह्रास होने लगेगा। मानवता, वास्तव मे, इसी मे है कि हमारे सुख मे दूसरे भी हिस्सेदार हो और हम दूसरो के सुख में हिस्सेदार बनें। आम प्रचलित कहावत

**"राख पत रखाय पत"**

अर्थात्—

आप हमारी पत रखो और हम आपकी पत रखेंगे। इसी प्रकार की भावना पारस्परिक सुख के आदान-प्रदान की ओर प्रेरित करती है।

मानव के इस सुख के आदान-प्रदान मे मानवजीवन के हित की सुरक्षा भी विद्यमान है। दूसरो का हित सोचोगे तो दूसरे भी तुम्हारा हित सोचेंगे,

१२

# शाश्वत सुख की पृष्ठभूमि

शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए 'वास्तव में सुख क्या है ?' इसकी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसके साथ-साथ 'सुख का प्रतिद्वन्द्वी दु ख क्या है ?' 'क्यो होता है ?' इसका जानना भी मानव-मन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। मानव-मन मे सुख की चाह मात्र स्वपरितोष के लिए होती है अथवा उसमे परपरितोष का तत्व भी विद्यमान होता है, यह विचारणीय विषय है। यदि सुख की चाह मात्र स्वपरितुष्टि के लिये है तो व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा और यदि उस सुख मे औरो के सुख का भी मिश्रण है तो फिर व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा। अब विचाराधीन बात यह है कि क्या व्यक्ति का सुख मात्र उसी तक सीमित होना चाहिए या उसके सुख के भागी उसके सम्पर्क मे आने वाले अन्य व्यक्ति भी बन सकते है ? मानव का यह दृष्टिकोण कि उसका सुख केवल उसके लिए है, सकुचित-हृदयता है, तुच्छता है एव स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा है। 'स्वार्थ-लोलुपता' की भावना बडी घातक है। यदि हम केवल अपनी ही चिन्ता करेगे, दूसरो के सुख की उपेक्षा करेंगे, तो दूसरे भी तो वैसा कर सकते है। ऐसी स्थिति मे मानव के सामाजिक जीवन मे बडी विषमता उत्पन्न हो जायेगी, मानव की मानवता का ह्रास होने लगेगा। मानवता, वास्तव मे, इसी मे है कि हमारे सुख मे दूसरे भी हिस्सेदार हो और हम दूसरो के सुख मे हिस्सेदार बनें। आम प्रचलित कहावत

"राख पत रखाय पत"

अर्थात्—

आप हमारी पत रखो और हम आपकी पत रखेंगे। इसी प्रकार की भावना पारस्परिक सुख के आदान-प्रदान की ओर प्रेरित करती है।

मानव के इस सुख के आदान-प्रदान मे मानवजीवन के हित की सुरक्षा भी विद्यमान है। दूसरो का हित सोचोगे तो दूसरे भी तुम्हारा हित सोचेंगे,

तुम दूसरो के हित की उपेक्षा करोगे तो दूसरे भी तुम्हारी उपेक्षा करेगे। मान देने से मान मिलता है और अधिकतर ही मिलता है। इस ससार मे सुख की प्राप्ति 'परस्परभावयन्त' एक दूसरे की कल्याण-कामना से ही होती है। इस ससार का क्रम ही ऐसा है कि कभी किसी पुरुष की स्थिति एक जैसी नही रहा करती। कभी हमे किसी की आवश्यकता रहती है और कभी हमारी किसी को। नीतिकार का कथन है

**"कभी नाव गाडे मे, कभी गाडा नाव मे"**

अर्थात्—

स्थल का मार्ग हो तो नौका को गाडे मे रखकर ले जाना पडता है और नदी पार करनी हो तो गाडे को नौका मे रखकर ले जाना पडता है।

यह तो समय की बात है कि किस समय किस पर कैसा समय आ जाये। समय एक सरीखा कभी नही रहता। तभी तो किसी कवि ने कहा है

**"सम्मन सत्ता पुरुष की, रहे नही इकसार ॥<br>तृण डूबे पत्थर तिरे, अपनी-अपनी बार ॥"**

अर्थात्—

सम्मन नाम के कवि कहते है कि पुरुष की दशा सदा एक-सी नही रहती। जब उसके बुरे दिन आते है, तो उसके हाथ का तिनका भी पानी मे डूब जाता है, उसका भाग्य जो डूबा होता है। जब अच्छे दिन आते है तो उसके हाथ का पानी मे डाला हुआ पत्थर भी तैरने लगता है। समय-समय की बातें है।

रामकथा का प्रसग इसका प्रमाण है। राम को लका मे पहुँचना था, समुद्र बीच मे था। पत्थरो पर राम लिख कर समुद्र मे डाला जाने लगा। पत्थर तिरने लग गये, पुल बन गया और राम समुद्र पार कर गये। यदि कोई कहे कि अकेले राम ने यह सब कैसे किया ? तो यह कोई बात नही, अकेले हो, दो हो, नियम तो सब के लिए समान ही होते है। यह तो समय की बात है

**"तुलसी नर का क्या बडा, समय बडा बलवान्।<br>काबा लूंटी गोपिका, वे अर्जुन वे बान ॥"**

अर्थात्—

अर्जुन भी वही थे और उनके वे बाण भी वही किन्तु गोपियो ने मिलकर काबा को लूट लिया था।

इस वैष्णव कथा के समान ही, जैन शास्त्र मे भी एक कथा आती है।

घातकी-खड के राजा पद्मोत्तर ने देवता की सहायता से द्रौपदी को अपने महल मे बुलवा लिया था। पाँचो पाण्डव और श्री कृष्ण उसकी मुक्ति के लिये गये थे। श्री कृष्ण ने पाण्डवो से कहा, "तुम यही ठहरो, मैं अकेला ही जाता हूँ।" तब पाँचो पाण्डवो ने एकस्वर मे कहा, "हमे ही जाने दो, हम यदि हार गये तो आप चले जाना।" पाँचो पाण्डव भला हारने वाले कहाँ थे। वे अब तक कभी भी किसी से नही हारे थे। अठारह-दिवसीय युद्ध मे जहाँ कर्ण, द्रोणाचार्य और भीष्म-पितामह जैसे भयानक, दुर्जेय योद्धा सीना ताने खडे थे, वहाँ भी विजयश्री पाण्डवो ने प्राप्त की थी। ऐसे कभी न हारने वाले पाण्डवो के मुख से यह वचन निकलने कि "हम को जाने दो और हमारे हारने के बाद आप जाना" सारगर्भित थे। मारवाडी भाषा मे इस पर एक कहावत है

"रोवता जाही, जिको मरियोडा री खबर लाही"

श्री कृष्ण ने कहा, "तुम्हारे मुख से ऐसी वाणी निकल गई है कि अब तुम्हारा जाना मै उचित नही समझता हू।" पाण्डव तब भी जाने का हठ करने लगे। यदि वे चले भी जाते तो पद्मोत्तर उन पाचो से अधिक शक्तिशाली नही था। इसके अतिरिक्त वह तो अपराधी भी था। चोर हुआ, जार हुआ, इनके पैरो के तले से मिट्टी खिसकते देर नही लगा करती। किन्तु यह तो मुँह से निकली अविवेकपूर्ण वाणी की बात थी। उसका परिणाम यह हुआ कि पाँचो पाण्डवो को पद्मोत्तर की शक्ति के सामने झुकना पडा और मैदान छोडकर भागना पडा। इतने शक्तिशाली पाण्डवो को भी पराजय का मुख देखना पडा। यह बात वास्तव में बडे ही आश्चर्य की है। हम पहले ही इस बात का सकेत कर आये है कि समय सदा किसी का एक सरीखा नहीं रहा करता, इसी पर तो किसी कवि की उक्ति है

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"

जैसे रथ के पहिये का वही भाग कभी नीचे और कभी ऊँचे होता रहता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य के भाग्य की दशा है। कभी वह ऊची चढ जाती है और कभी नीचे चली जाती है।

इसी विश्व सत्य को दृष्टि मे रखकर हमारे हृदय मे सबके प्रति प्रेम की भावना होनी चाहिए, सहानुभूति होनी चाहिए और सद्व्यवहार की सुगन्धि होनी चाहिए। यदि हम बडे है तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने अनुभवो को अपने से छोटो में बाँटे। बडो का बडप्पन इसी मे है कि वे छोटो का मार्ग-प्रदर्शन करें। महाभारत के एक प्रसग मे द्रोणाचार्य का कथन है कि कोई भी

व्यक्ति न तो आयु से बडप्पन प्राप्त कर सकता है और न ही अनेक ग्रंथो के अध्ययन से। उनकी बात सर्वथा उचित प्रतीत होती है। आयु मे भीष्म पितामह बडे थे, शास्त्र ज्ञान मे द्रोणाचार्य बडे थे, परन्तु युधिष्ठिर उन दोनो से छोटे होते हुए भी, बडप्पन की दृष्टि से बडे थे। क्षमा और सहनशीलता की उनमे पराकाष्ठा थी और यही कारण था कि शत्रुपक्ष के लोग भी उनकी भूरि-भूरि प्रशसा किया करते थे। युधिष्ठिर अपने पक्ष का समर्थन करते हुए भी शत्रुपक्ष के साथ सद्व्यवहार से पेश आते थे। उनमे यह एक महान गुण था।

हम पहले अपने व्याख्यान मे यह कह आये है कि हमारा सबके प्रति अच्छा व्यवहार होना चाहिए। पता नही हमारे ऊपर किस समय कैसा सकट आ जाये। यदि हमारा व्यवहार भूतकाल मे दूसरो के प्रति अच्छा रहा होगा तो निश्चित रूप से दूसरे हमारा सकट मे हाथ बँटायेंगे। किसी कवि ने ठीक ही तो लिखा है

**"निज पेट भरने के लिए तो उद्यमी है श्वान भी।**
**पर आज तक पाया कहाँ उसने कहो सम्मान भी॥"**

आप कहेगे कि बहुत से परिवारो मे कुत्तो की भी बडी सेवा होते देखी गई है। आपका कथन सत्य है परन्तु जिन कुत्तो का आदर-सम्मान होता है वे विशिष्ट गुण सम्पन्न कुत्ते होते है, सामान्य प्रकार से गलियो मे आवारा फिरते कुत्तो से वे भिन्न प्रकार के होते है। एक ऐसे भी कुत्ते होते है कि घर मे खाद्य सामग्री भले ही खुली पडी हो, वे उसमे मुह नही डालते, उल्टा उसकी रक्षा करते है। एक ऐसे भी होते है जो केवल स्वामी के द्वारा दिया गया भोजन ही खाते है, दूसरो द्वारा दिया गया नही। एक ऐसे भी होते है कि स्वामी की जान खतरे मे हो तो अपने प्राण न्यौछावर कर देते है। इस प्रकार हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य नियम, सामान्य प्राणियो पर लागू होते है, विशिष्ट व्यक्ति तो स्वय ही नियम-स्वरूप होते है। इस प्रसग मे हमे भगवान् ऋषभदेव का उदाहरण स्मरण हो आया है। भगवान् ऋषभदेव ने जब दीक्षा ली तो चार हजार राजाओ ने भी उनके साथ दीक्षा ली। तीर्थंकर दीक्षा लेते ही बेलो की तपस्या आरभ कर देते है। तपस्या के पारणे का दिन आया। घर-घर गोचरी जाने लगे किन्तु लोग आहार की विधि से अनभिज्ञ थे अत उन्हे ऐषणिक आहार नही दे सके। एक, दो, तीन, चार दिन बीते तो चेलो ने भगवान् से पूछा

"भगवन्! कब तक आहार नही लेना है, कैसे लेना है और किसके यहाँ से लेना है?"

भगवान् मौन रहे। परिणाम यह हुआ कि एक-एक करके चेले खिसकने लगे और एक साल के भीतर सभी चार हजार के चार हजार छोडकर चले गये। बस रह गये, अकेले बाबा जी। चले गये तो चले गये, भगवान् ने अपने मौन के नियम को भग नही किया। भगवान् ने तो अपने चार हजार चेलो की भी परवाह नही की किन्तु आजकल तो एक-एक चेले के लिए समाज मे क्या-क्या काण्ड होते है—यह बात किसी श्रावक से छिपी हुई नही है। हमारा कहने का आशय यही है कि सामान्य नियम तो सर्वसाधारण व्यक्तियो पर ही लागू होते है, विशिष्ट व्यक्तियो पर नही।

हमारा मुख्य विषय, जिसको लेकर हम चले थे, यह था कि हमारे सुख मे सबका भाग होना चाहिए। हम जिस कारण से सुखी है, उसमे भी तो अनेक व्यक्तियो का सहयोग है फिर हमे ऐसे स्वार्थी कभी नही बनना चाहिए कि हमारा सुख स्वकेन्द्रित ही हो। स्वसुख के साथ साथ परसुख की भावना मानव को अहङ्कार से और घृणा से मुक्त रखती है। जो लोग मोक्ष के अभिलाषी होते हैं, शाश्वत सुख की जिन्हे चाह है, वे सदा परसुख के सिद्धान्त मे आस्था रखते है। सम्यक्त्वी का सिद्धान्त सदा सर्वसुख की प्रवृत्ति है। मिथ्यात्वी की विचार-धारा, इसके सर्वथा विपरीत होती है। वे तो मात्र यह जानते है

"मै न म्हारो मोहनीयो,
दूजो आवै तो फोडूं तावणियो।"

इस प्रकार की विचारधारा अत्यन्त सकुचित है और मिथ्यादृष्टि से परिपूर्ण है। ऐसे स्वार्थपरायण लोग यह नही समझते कि सामूहिक प्रवृत्ति पुण्य-प्रवृत्ति है, इसलिए स्थायी है और व्यष्टि प्रवृत्ति पाप-प्रवृत्ति है और परिणाम मे दुखो की जननी है। ससार का सारा व्यवहार समवाय या सामूहिक प्रवृत्ति से ही चलता है। समवाय का अर्थ है जिसके बिना जो रह न सके। उदाहरण के लिए आप एक मकान को ले लीजिये। मकान मे अनेक वस्तुओ का समवाय है। दूसरे शब्दो मे मकान मे अनेक वस्तुओ का पारस्परिक सम्बन्ध है। प्रत्येक वस्तु के यथास्थान सम्बन्ध से ही मकान का निर्माण होता है। इसीप्रकार वस्त्र-निर्माण मे भी ताने और बाने की यथोचित लम्बाई-चौडाई का समवाय होगा तभी यथाभिलषित-वस्त्र का निर्माण हो पायेगा। ऐसी स्थिति मे किसी मिथ्यादृष्टि की एकान्तवादी विचारधारा को कदापि सिद्धान्त की कोटि मे नही रखा जा सकता। अनेकान्तवादी विचारधारा ही समवाय के सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करती है। निज सुख के साथ, परसुख का समवाय या एकीकरण ही शाश्वत सुख की पृष्ठभूमि है।

जैन-भवन, डेह(नागौर) २१ जुलाई, १९७९

●●●

# मै एकाकी कोई न मेरा

सम्यक्त्वी जीव ही शाश्वत सुखो को प्राप्त करने मे समर्थ होता है। सम्यक्त्व दो प्रकार के होते है एक व्यवहार-सम्यक्त्व और दूसरा निश्चय-सम्यक्त्व। जिसके आचार से, विचार से, व्यवहार से और क्रियाकलाप से लोग यह समझे कि यह सम्यक्त्वी है, वह व्यवहार-सम्यक्त्वी कहलाता है। अतरग मे जिसकी आत्मा शुद्ध होती है और जो आन्तरिक आराधना मे लीन रहता है, वह निश्चय-सम्यक्त्वी होता है। सम्यक्त्व की आराधना मे देव, गुरु और धर्म की आवश्यकता पड़ती है। व्यवहार सम्यक्त्व मे अरिहन्त देव है, निर्ग्रन्थ गुरु है, और अरिहन्त जिसका प्रतिपादन करते है, वह धर्म कहलाता है। प्रतिक्रमण-सूत्र मे सम्यक्त्व का पाठ आता है

**अरिहतो महदेवो,**
**जावज्जीव सुसाहुणो गुरुणो।**
**जिणपण्णत्त तत्त**
**एय मए गहिय॥**

जब तक मैं जीऊँ(यावज्जीव)तब तक अरिहन्त मेरे देव है। यदि आप यह कहे कि क्या मरने के पश्चात् अरिहन्त देव नही रहते तो उसका उत्तर है कि अरिहन्त देव तो रहते ही है किन्तु अरिहन्त देव मे जो देवत्व है उसका मनुष्य के जीवन से कोई सम्बन्ध नही रहता। मनुष्य के जीवन का तो यदि कल आरम्भ हुआ है तो आज अन्त भी हो सकता है परन्तु अरिहन्त का जो देवत्व है वह तो किसी मनुष्य के जीवन से पहले भी था, अब भी है और भविष्य मे भी रहेगा। प्रतिक्रमण के पाठ का भी सार यही है कि मैं प्रतिक्रमण करने वाला जो साधक हूँ उसके जीवन का और अरिहन्त भगवान् के देवत्व का कोई साम्य नही है। उस साम्य के अभाव मे भी मैं जब तक जीऊँ तब तक अरि-

हन्त भगवान् को ही अपना देव मानता रहूँ। मरने के पश्चात् मेरी स्मरण-शक्ति और मेरा बोध कहाँ होगा, इसके विषय मे कुछ भी कहा नही जा सकता। जीवन की समाप्ति पर तो स्मरण-शक्ति पर आवरण छा जाता है।

शास्त्रकारो का कथन है कि हमारी ली हुई प्रतिज्ञायें, अपनाई हुई धार्मिक मर्यादायें, कभी भग न हो जाये, अक्षुण्णरूप से उनका पालन होता रहे इसलिए प्रतिज्ञा के साथ 'यावज्जीव' शब्द को जोडा गया है। यदि 'यावज्जीव' शब्द का प्रयोग न किया गया होता, मर्यादा की रेखा न खीची होती तो केवल यही कहा गया होता कि 'मैं अरिहन्तो के सिवाय और किसी को अपना भगवान् न मानूगा।' आप सब सामायिक करते है। सामायिक की मर्यादा ४८ मिनट की है, जिसे एक मुहूर्त कहना चाहिए। इस प्रकार सामायिक की आप एक अवधि डालते हैं। दूसरे व्रतो की अवधि इससे भिन्न प्रकार की होती है। कभी "दिवस पज्जुवासामि" मात्र दिन-भर की तो कभी 'अहोरत्त' दिन और रात-भर की अवधि निर्धारित होती है। आठ पहर का दिन-रात होता है। आठ पहर की अवधि वाला व्रत पौषध-व्रत कहलाता है। इस प्रकार आपके व्रतो मे अनेक प्रकार की अवधियाँ मानी गई है। इसी कारण ये व्रत शिक्षाव्रत कहलाते है। व्रत तीन प्रकार के होते है (१) अणुव्रत, (२) गुणव्रत, और (३) शिक्षाव्रत। अणुव्रत पाँच है और गुण-व्रत तीन हैं। शिक्षाव्रत चार प्रकार के होते है। इस प्रकार गृहस्थो के लिए बारह प्रकार के व्रतो का विधान है। शिक्षाव्रतो की अवधि थोडी होती है। 'जावज्जीव' की अवधि जिन व्रतो की होती है, वे मूलगुण कहलाते है। शेष शिक्षाव्रत उत्तरगुण है। हमारे पच्चक्खाणो की जो भी मर्यादा है, जो प्रतिज्ञा है, वह भग न हो जाये, उसमे किसी प्रकार त्रुटि न आने पाये, इस-लिए मर्यादा बाँधनी पडती है। इस मर्यादा के कारण ही पच्चक्खाण अन्त तक चलता रहता है। यदि हम उस निश्चित मर्यादा के अनुसार आराधना मे प्रवृत्त नही होते तो 'पच्चक्खाण' भग समझा जाता है और हम दोष के भागी बनते है। इसलिए सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा मे भी

**"अरिहन्तो महदेवो, जावज्जीव—**
**सुसाहुणो गुरुणो, जिण पण्णत्त तत्त"**

के पाठ का उच्चारण हम करते है जिसका अर्थ है कि जीवन पयन्त के लिए भगवान् अरिहन्त मेरे देव है, सुसाधु मेरे गुरु है और अरिहन्त के द्वारा प्ररूपित धर्म मेरा धर्म है और फिर कहा जाता है

**"एय सम्मत्त मए गहिय"**

इस प्रकार का सम्यक्त्व मैंने ग्रहण कर लिया है। प्रतिक्रमण में आने वाले सम्यक्त्व का यह विवरण मैंने आपके सामने प्रस्तुत किया। यो व्यवहार-सम्यक्त्व को पहचानने के लिए शास्त्रकारो ने ६७ बोल बताये है।

निश्चय सम्यक्त्व मे भी देव, गुरु, धर्म यही तीन तत्त्व होते है किन्तु वे दूसरे होते है। अभी अपने भरत क्षेत्र में अरिहन्त देव तो विद्यमान है नही, निर्ग्रन्थ गुरुओ का योग भी हमे सदा नही मिल पाता। कभी-कभी विचरण करते हुए आ गये तो धर्म श्रवण का लाभ मिल जाता है, अन्यथा दैनिक जीवन मे उनके दर्शनो और व्याख्यानो से वचित ही रहना पडता है। तीसरे अरिहन्त-भाषित धर्म को भी सही रूप में समझाने वाला व्यक्ति बडी कठिनाई से ही मिल पाता है। अरिहन्त प्रतिपादित धर्म को समझाना भी कोई सरल काम नही है। इस प्रकार ये तीनो बातें दूर की हो गई है। निश्चय सम्यक्त्व में तो सारी चीजे सर्वथा पास होनी चाहिए। निश्चय सम्यक्त्व में हमारा आत्मा ही हमारा देव है। मारवाडी भाषा में तो मन को भी देव माना गया है। प्राय ऐसा होता है कि जैसी बात हमारे मन मे होती है वैसी ही हमारे घनिष्ठ व्यक्ति के मन मे भी उत्पन्न हो जाया करती है। सभवत इसी कारण मन को देव की सज्ञा दी गई है। इस पर एक दृष्टान्त स्मरण हो आया है

एक बुढिया अपनी नवयुवती पौत्री के साथ जगल की पगडडी पर चल रही थी। जगल बडा भयानक था। अचानक ही एक घुडसवार पास में से गुजरा। बुढिया ने कहा, "अरे भाई यह मेरी पोती है, बेचारी थक गई है, तू इसे अपने घोडे पर बिठा ले और साथ मे इसके वस्त्रो और आभूषणो की गठरी भी रख ले, मैं तो धीरे धीरे चलती चलती पहुँच जाऊँगी।" घुडसवार ने कहा, "न तो मैं इस छोकरी को ही घोडे पर बैठाऊँगा और न ही इसकी गठरी का भार ही लूगा।" ऐसा कहकर वह चलता बना। बीस पच्चीस मिनट बाद उस घुडसवार के मन में आया, "आज मैंने बडा अच्छा मौका अपने हाथ से खो दिया। कितनी सुन्दर थी वह नौजवान लडकी और साथ-साथ उसके आभूषण। ऐसा अवसर क्या रोज-रोज आया करता है! लेकर चम्पत हो जाता, मौज करता, बुढिया क्या मुझे पा सकती थी! मेरे घोडे का तो वेग भी बडा तेज है।" इन विचारो के मन मे आते ही घुडसवार रुक गया। इस आशा से कि बुढिया आयेगी तो मन का मनोरथ पूर्ण होगा। उधर बुढिया मन में सोचने लगी, "मेरी बुद्धि पर क्या पत्थर पड गये थे कि मैंने एक अजनबी व्यक्ति से अपनी जवान पोती को घोडे पर बैठा कर ले जाने के लिए कहा और साथ साथ उसके जेवर भी सँभालने के लिए कहा। यदि वह मेरी बात मानकर लडकी को लेकर चल देता तो मैं उसको कहाँ ढूंढती

फिरती, फिर क्या वह मेरे हाथ आने का था ? अच्छा ही हुआ जो उसने मना कर दिया। मै इसको अपने किसी पूर्वजन्म के पुण्य का ही उदय समझती हूँ अन्यथा आज कही की भी न रह गई होती।"

इस प्रकार विचार करती हुई वह चली जा रही थी, उसने देखा कि वही घुडसवार मार्ग मे खडा है। घुडसवार ने कहा, "आओ माजी, आओ, मै इस छोकरी को घोडे पर बैठा लेता हूँ और सामान को भी सँभाल लेता हूँ।" बुढिया ने घुडसवार के मन की बात को जानकर कहा, "नही वीरा, तुमको जिसने कह दिया, उसने मुझे भी कह दिया, अब मुझे लडकी को नही बैठाना है।"

अभिप्राय है कि मन देवता है और आत्मा के पास रहने वाला है। आत्मा राजा है और मन उसका प्रधानमन्त्री है। जब आत्मा का प्रधानमन्त्री भी अनुमान से दूसरे के मन की बात को जान सकता है तो क्या हमारा आत्मा छिपी से छिपी आन्तरिक बात को नही जान सकता ? कभी-कभी आपको हिचकी आती है। पास मे बैठा हुआ व्यक्ति कहता है कि कोई आपको याद कर रहा है। उस समय याद करने वाले व्यक्ति को आनुमानिक शक्ति से आप स्मरण करते है तो हिचकी बन्द हो जाती है। मन की गति कितनी रहस्यात्मक है ! एक क्षण में कही का कही चला जाता है। बेतार के तार के समान है वास्तव मे मन की गति। रेडियो और टेलीविजन की तरह यहाँ बैठा हुआ मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति से दूर से दूर बैठे हुए व्यक्ति के पास अपने विचारो को संप्रेपित कर सकता है। कोई अपना अत्यन्त हितैषी हो, अनन्य मित्र हो या अत्यन्त घनिष्ठ सगा सम्बन्धी हो, उसका कही दूर अहित हो रहा हो या होने वाला हो तो हमारे मन मे अनेक प्रकार के चिन्ताजनक विचार उत्पन्न होने लगते है। मन उचाट-सा हो जाता है और सवत्र शून्य-सा लगने लगता है। कुछ ही समय के बाद हमारे पास सूचना पहुँच जाती है कि हमारे अमुक घनिष्ठ व्यक्ति का अनिष्ट हो गया। ऐसी है मन की शक्ति, इसीलिए मन को देव माना गया है। जब मन देव है तो उसका राजा आत्मा देव कैसे नही होगा !

आत्मा तो देवाधिदेव है, भगवान् है। भगवान् का दूसरा नाम ही तो परमात्मा है। परम अर्थात् उत्कृष्ट जिससे बढकर आत्मा की कोई ऊची स्थिति न हो। इस उच्च अवस्था को पहुँचा हुआ आत्मा ही परमात्मा होता है। ऐसा शुद्ध, सर्वज्ञ, परमात्मा व्यवहार सम्यक्त्व मे देव माना जाता है। परन्तु निश्चय सम्यक्त्व के अनुसार तो जैसा शुद्धातिशुद्ध स्वरूप परमात्मा का है वैसा ही स्वरूप हमारे आत्मा का भी माना जाता है। आत्मा के अपने सहज स्वरूप मे पहुँचने के पश्चात् आत्मा और परमात्मा का अन्तर समाप्त हो जाता

है। यह काल्पनिक बात नही है, यह यथार्थता है। इस सत्य की पुष्टि बडे-बडे दार्शनिको ने यह कहकर की है कि हमारा जीव सिद्धो जैसा है। जैसे सिद्ध सब प्रकार से उच्चकोटि की भूमिका मे रहने वाले है, उनके आत्मा मे आत्मा के सिवाय कोई वस्तु नही रहती ठीक उसीप्रकार की दशा हमारे आत्मा की भी हो सकती है यदि हम उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करें। अपने स्वरूप को पहचान कर हम भी परमात्मा बन जायेंगे। उसके लिए हमें निर्विकार और ससार से निर्लेप होकर रहना होगा। यदि हम केवल दूसरे-दूसरे उच्चकोटि के आत्माओ को नमस्कार करते रहेगे, उनका गुणगान करते रहेगे और उनकी प्रशसा मे ही अपना सारा समय यापन करते रहेगे तो परमात्मा बनना तो दरकिनार, हम परमात्मत्व की ओर एक कदम भी नही बढा पायेंगे। आखिर तो हमे अपनी आत्मा के ही वास्तविक स्वरूप की पहचान करनी है और उसे उन्नत बनाना है। निश्चयनय के अनुसार हमारा आत्मा ही परमात्मा है और देव है। हम उसकी ही पूजा करें, आराधना करें और देव के समान ही उसे ही चाहते रहे। आत्मा की पूजा परमात्मा की ही सेवा है और परमात्मा की ही आराधना है। हमारा यथार्थ कर्तव्य यही है कि हम अपने आत्मा को ही उत्तरोत्तर शुद्ध बनाते जायें, निर्दोष बनाते जायें और कर्मरहित करते जायें। इस प्रकार की क्रिया से निश्चयनय के अनुसार आत्मदेव की ही आराधना मानी जायेगी। आत्मा तो हमारे अन्दर ही विद्यमान है जबकि अरिहन्त देव तो हमारे से बहुत दूर है।

निश्चयनय के अनुसार निर्ग्रन्थ गुरु भी हमारे गुरु नही है। वे तो व्यवहार-नय की दृष्टि से ही हमारे गुरु है। निश्चय से तो ज्ञान ही हमारा गुरु है। गुरु भी तो ज्ञान ही देते है। ज्ञान की महिमा और ज्ञान-ग्रहण की पद्धति को ही तो गुरु बताते हे। ज्ञान का भी हमारे से कोई अन्तर नही है, जहाँ आत्मा है वही ज्ञान भी मौजूद है। जहाँ दीपक होगा, वही प्रकाश भी होगा। दीपक का अभाव है तो प्रकाश का भी अभाव है। जहाँ फूल है, वहाँ सुगन्धि है और जहाँ अग्नि है, वहाँ उष्णता निश्चित रूप से रहेगी। ज्ञान का और आत्मा का, इसी प्रकार अभिन्न सम्बन्ध है। हमने निर्ग्रन्थ को गुरु भी मान लिया, दर्शन भी कर लिए और व्याख्यान भी सुन लिया, उसकी सेवा मे कुछ समय भी बिता दिया और वन्दना भी कर ली किन्तु ज्ञान कुछ भी ग्रहण नही किया तो हमारी ऊपर की सारी क्रियाये सारहीन है, धोखा है और पाखण्ड है। ऐसा यदि आप अनन्त जन्मो तक भी करते रहेगे तो उससे कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है। लाभ तभी होगा जब आप गुरुओ के ज्ञान को भलीभाँति समझ कर अपने जीवन मे उतारेंगे, उस पर आचरण करेंगे और अपने अन्दर सोए ज्ञान को जागृत करेंगे। यह सब होते हुए भी वे गुरु बाहर है, हम से दूर है, निश्चय

से तो ज्ञान ही गुरु हैं।

यदि हम निश्चय दृष्टि से आत्मा को देव समझकर चलते है, अपने आत्मा की आराधना करते हे, उसे निर्दोष और शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं तो यह दूसरे शब्दो में अरिहन्त देव की ही आराधना है। यदि हम अपने लिए तो कुछ करते नही, केवल अरिहन्त देव के गुण गाया करते है, उनके दर्शन कर लेते है और सभी प्रकार की कर्मकाण्ड मे प्रतिपादित क्रियाये करते हे तो वह अरिहन्त देव की वास्तविक आराधना नही है। केवल समय का यापन है। हमने समय का उपयोगमात्र तो किया किन्तु उससे हमारे आत्मा का कुछ भी कल्याण नही हो पाया है। पारस पत्थर लोहे को सोना तो बनाता है परन्तु तभी बनाता है जब हम पारस का लोहे के साथ स्पर्श करा दें। हम अरिहन्त की उपासना करें और अरिहन्त हमारे आत्मा को स्पर्श भी न करें तो उपासना कैसे फलवती हो सकेगी ? हमें यह सोचना चाहिए कि अरिहन्त देव जिस प्रकार शुद्ध है, निर्दोष है और अपने आत्मा से कर्मो के आवरण को हटाने वाले है उसी प्रकार कर्मो के आवरण का कुछ भाग ही सही, हम भी तो अपने आत्मा से हटाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से ही अरिहन्त की उपासना सारभूत हो सकती है। यही बात गुरु के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। गुरुओ की आज्ञा का पालन करना, उनके द्वारा दी गई शिक्षा को ग्रहण करना, उनके उपदेश के एक एक शब्द को श्रद्धा की दृष्टि से, प्ररूपणा की दृष्टि से और स्पर्शना की दृष्टि से थोडा-बहुत अपने आचरण मे उतारना ही वास्तव मे गुरुओ की आराधना होती है। गुरु ज्ञान के ही तो प्रतीक होते है।

इसी प्रकार निश्चयनय के अनुसार आत्मरमणता ही धर्म है। पुद्गलो के साथ या पर वस्तुओ के साथ हमारी जो ममता है, अन्यान्य पदार्थो के अधिगमन की जो हमारे मन में चाह है, उसका हम त्याग करे और उसके स्थान मे अपने सहज स्वरूप की पहचान के लिए अपने में रमण करने का प्रयत्न करें। आत्मरमणता इसी को कहते है। दूसरे शब्दो मे उसे आत्मधर्म भी कहा जाता है। अथवा आत्मा का पतन हो रहा हो उससे आत्मा को बचाना भी आत्म धम होता है। ससार की सभी प्रकार की वस्तुओ से ध्यान को हटाकर अपने ध्यान को आत्मा मे ही केन्द्रित कर लेना भी आत्मरमणता है। सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध और उपवासादि त्याग की सारी क्रियाये सासारिक पदार्थो से आत्मा को अलग करने के लिए ही की जाती है। इन त्यागमयी क्रियाओ के पीछे स्वावलम्बन की भावना है। सासारिक वस्तुओ के प्रति जो जीव का भ्रान्तिपूर्ण मोह है उसके त्याग के बिना जीव कदापि स्वावलम्बी नही बन सकता। ये ऊपर निर्दिष्ट सारी धार्मिक क्रियायें व्यवहार धर्म कहलाती है।

मनुष्य को सदा यह सोचना चाहिए, "ससार की जितनी बाह्य क्रियाएँ

है इनको मैं इसलिए कर रहा हूँ कि यह मेरा सासारिक उत्तरदायित्व है। वास्तव मे तो मेरा इनमे कुछ भी सम्बन्ध नही है। मैं इन सब वस्तुओ से अलग तत्त्व हूँ।" ऐसा सोचने वाला व्यक्ति ही आत्मकेन्द्रित हो सकता है। वास्तव मे देखा जाये तो यह बात सत्य भी है। यह ससार स्वार्थ का जाल है, यहाँ कोई किसी का नही है। सब अकेले आते हैं और अकेले जाते ह। सबको अपने अपने शुभ अशुभ कर्मो के फलो को भोगना पडता है। ससार उन कर्म-फलो के भुगतान का माध्यम है। जब किसी के अशुभकम का उदय होता है तो उसका फल तो उसे ही भोगना पडता है। उसके माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री-पुत्र कोई भी उसके अशुभकर्म के फल को भोगने नही आते, उसे तो वह अकेला ही भोगता है। मूल एक होते हुए भी जब एक अँगुली की पीडा को दूसरी नही भोगती फिर भला एक जीव के कर्म का फल अन्य जीव क्यो भोगेंगे? जब ऐसा है तो हमारी ससारी व्यक्तियो के साथ जो ममता है, मोह है, राग है और लगाव है वे सब हमारे क्या काम आये? काम नही आये तो ये सब मिथ्या हैं। इसीलिए तो सम्यगदृष्टि जीव यही सोचा करता है कि ससार का सम्बन्ध तो एक प्रकार का जाल है, दिखावा है, और ढोग है। वास्तव मे तो

**"एगोऽह नत्थि मे कोई"**

मै अकेला ही हूँ, ससार मे मेरा कोई नही है।

**"नाह अन्नस्स कस्सवि"**

मै भी किसी दूसरे का नही हूँ।

आत्मा इस प्रकार की धारणा से सदा रजित होना चाहिए। किन्ही विशेष कटु परिस्थितियो मे तो यह भावना सामान्य व्यक्ति के मन भी आती है। जब हम अपने ही परिवार वालो के द्वारा स्वार्थवश ठुकराये जाते है, जब हमारे अपने अत्यन्त निकट के सम्बन्धी हमारे साथ विश्वासघात करते हे, धोखा देते हे और हमारे विनाश की परिस्थितिया पैदा कर देते है तब हमारे मुख से ये शब्द अचानक ही निकल जाया करते है कि "ससार मे न मैं किसी का हूँ और न ही कोई मेरा हे।" परिस्थितिवश मन मे आये हुए इस प्रकार के निराशा के विचार किसी काम के नही होते, उनका कोई महत्त्व नही है और वे आत्मा को उन्नतावस्था मे लाने की कोई प्रेरणा नही देते। ऐसे भाव '**एव अदीण मनसा**' अदीन मन से आने चाहिए। दीनता से उसका महत्त्व कम हो जाता है। अनुकूल परिस्थितियो मे यदि ऐसे विचार मन मे आते है कि 'न मै किसी का न कोई मेरा' तो उनका बडा महत्त्व है। महत्त्व इसलिए कि उस समय हमारो

आत्मा में दीनता और हीनता की भावना नही होती। मनुष्य को सदा यह चिन्तन करना चाहिए "शुभ कर्मो के उदय के समय ससार मे सभी हां मे हां मिलाया करते है, चापलूसी करते हे, प्रशसा के पुल बांधते हे और रिश्ता न होने पर भी रिश्तेदारी का दम भरने लगते ह। किन्तु अशुभ कर्म के उदय के समय कोई वात करना भी अपना अपमान समभता है। ऐसी स्थिति मे यह स्पष्ट है कि यहां कोई किसी का नही है। यह ससार एक मुसाफिरखाने के समान है जहाँ पता नही किन-किन प्रदेशो के यात्री गाडी आने की प्रतीक्षा किया करते हे। जब तक गाडी नही आती तब तक आपस मे वातचीत करते है, पारस्परिक प्रेम की भावना भी उत्पन्न हो जाती है, एक दूसरे की सहायता भी करते है और सुख-दु ख मे प्रसन्नता और सहानुभूति भी प्रकट करते हे किन्तु गाडी के आते ही सब अपने अपने उद्दिष्ट स्थानो के लिए रवाना हो जाते है, सबका रिश्ता वही समाप्त हो जाता है। ससार के इसी मायाजाल को देखकर शास्त्रकार ने कहा है

**एगोऽह नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सवि।**
**एव अदीणमणसा, अप्पाणमणुसासई॥**

भिन्न-भिन्न प्रलोभनो से जब हमारी आत्मा अपने सही मार्ग से भटक गई हो, ऐसे समय मे आत्मा पर अनुशासन करने का या आत्मा को नियन्त्रित करने का यही शास्त्र-निर्दिष्ट उपाय है। ससार के सब प्रलोभनो को त्यागकर आत्मा को स्थिर करना और उसमें लीन रहना निश्चय-धम है। व्यवहारनय से अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अरिहन्तो द्वारा प्रतिपादित धम आराधनीय है। निश्चयनय से आत्म देव, ज्ञान गुरु और आत्मरमण धर्म है। व्यवहार अपने हाथ की चीज़ नही है, दूर की है किन्तु निश्चयनय की चीज तो अपने पास की ही है, उसके लिए कही दूर भटकने की आवश्यकता नही है। इससे सिद्ध है कि व्यवहार-सम्यक्त्व की अपेक्षा निश्चय-सम्यक्त्व की आराधना बहुत सरल है। अब देखना यह है कि आपके जीवन को कौन सी प्रभावित करती है। साराश यह कि व्यवहार-सम्यक्त्व की आराधना हम कितनी ही वार कर लें किन्तु निश्चय-सम्यक्त्व की आराधना यदि एक बार भी कर लेंगे तो शाश्वत सुखो की प्राप्ति सभव है। इसलिए हमें इसी दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २२ जुलाई, १९७९

# नवतत्त्व-विवेचन और तपश्चर्या

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही शाश्वत सुखो की प्राप्ति होती है, ऐसा हमने अनेक बार आपको समझा रखा है। 'सम्यग्दर्शन' शब्द सम्यक् और दर्शन इन दो शब्दो के मेल से बनता है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है 'अच्छा दृष्टिकोण'। या ठीक प्रकार की समझने की, देखने की प्रक्रिया। शास्त्र के अनुसार

"तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्"

तत्त्वार्थ का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन होता है। जिसका कार्य तो सामने हो किन्तु कारण परोक्ष हो, वह तत्त्व है। इस भाव को और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते है कि जो क्रियाए हो रही है वे तो हमारे सामने है परन्तु वे क्रियाए जिससे जन्म लेती है वह परोक्ष मे है। तत् यानी वह, त्व यानी पन। 'त्व' प्रत्यय सस्कृत मे 'भाव' अर्थ को प्रकट करने के लिए होता है। सक्षेप में वस्तुमात्र या पदाथमात्र के भाव या सार को 'तत्त्व' कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष मे हम जो कुछ देख रहे है, वह सार नही है। सार तो परोक्ष मे है एव सार का विस्तार ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। दूसरे शब्दो मे परोक्ष मूल है एव प्रत्यक्ष वृक्ष। प्रत्यक्ष मे हम जिन जिन क्रियाओ को देख रहे है, उन सब का करने वाला जीव है जो प्रत्यक्ष रूप मे दिखाई नही देता। इसीलिए शास्त्रकारो ने परोक्षवर्ती चीजो को समझाने के लिए 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग किया है।

पहला तत्त्व जीव है। जीव शब्द बडा ही व्यापक है। ससार में जीव अनन्त योनियो मे उत्पन्न होता रहता है और मरता रहता है, ऐसा लोक-व्यवहार मे कहा जाता है किन्तु वास्तव मे जीव तो अजर-अमर और अविनाशी है। तभी तो गीता मे कहा गया है

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि,
नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो,
न शोषयति मारुत ॥

गीता, २/२३

अर्थात्—

इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, अग्नि इसको जला नही सकती, जल इसको गीला नही कर सकता और वायु इसका शोषण नही कर सकता। आत्मा अविनाशी है और अपने स्वरूप से सदा अस्तित्व-रूप है।

इस आकाश मे अनन्तानन्त जीव ठसाठस भरे पडे है। जीव हमें दृष्टि-गोचर तभी होते है, जब वे किसी न किसी शरीर-विशेष का आश्रय ले लेते है। इनमें से कुछ को तो, जिनका शरीर स्थूल है, हमारी आँखें देखने मे समर्थ है किन्तु जो अतिसूक्ष्म है उन्हे हम देख नही पाते। शास्त्रकारो ने ऐसे शरीरो को तैजस् और कार्मण के नामो से पुकारा है।

"औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि"

अर्थात्—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण—इन पाँच प्रकार के शरीरो का अवलम्बन लेकर जीव ससार मे परिभ्रमण करता है। सदा के लिए शरीर से मुक्ति उसकी 'मुक्तदशा' कहलाती है।

सामान्यरूप से ससारी जीव को चार भागो में विभक्त किया गया है (१) मनुष्य, (२) तिर्यंच, (३) देव, (४) नारक। यह जीव कहाँ-कहाँ रहता है, क्या-क्या करता है, इसकी सख्या कितनी है—आदि-आदि बातो का बडा विस्तृत विवरण दिया है जैनशास्त्रो मे। यहाँ तो हमको केवल इतना ही जानना है कि चलते-फिरते, खाते-पीते, बोलते, सोचते, समझते आदि जो भी दिखाई देते है वे सब जीव है। अपनी इन्द्रियो के द्वारा हमको उनका प्रत्यक्षी-करण हो रहा है।

दूसरा तत्त्व 'अजीव' है जिसे जड भी कहते हैं। इसमें स्वय चलने-फिरने की कोई शक्ति नही होती किन्तु वह हमारी इन्द्रियो के द्वारा किसी न किसी रूप मे अवश्य पहचानी जाती है। कर्ण-इन्द्रिय के द्वारा शब्द प्रत्यक्ष हो जाता है। यो शब्द को न तो हम पकड ही सकते है और न देख ही सकते है, किन्तु कानो से जब शब्द टकराता है तो उसका बोध हो जाता है। वैज्ञानिक आविष्कारो के माध्यम (रेडियो आदि) से हम दूरातिदूर सचारित ध्वनि को भी सुन लेते है। किसी भी व्यक्ति द्वारा उच्चारित शब्दो को हम टेपरिकॉर्डर मे भर लेते है और इच्छानुसार जब चाहे उसके सुनने का आनन्द

ले सकते है। आँखो के द्वारा हम सब प्रकार के रगो—लाल, नीला, काला, पीला आदि को तथा मिश्रित रगो को परख लेते है। घ्राणेन्द्रिय द्वारा सब प्रकार की गध का हमे अनुभव होता है। जिह्वा हमे सब प्रकार के रसो का ज्ञान कराती है। खट्टी, मीठी, कषैली, चपरी, कडवी आदि वस्तु का भेद हमें जिह्वा तुरन्त करा देती है। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श का प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द—ये इन्द्रिय-विषय है। इनका विस्तृत विवरण यहाँ देना सभव नही है। यह तो हुई इन्द्रियगोचर पदार्थों के सम्बन्ध मे किंचित् चर्चा। इनके अतिरिक्त लोक मे गतिमान, स्थितिमान व अस्तित्व रखने वाली वस्तुओ के लिए सहायभूत कुछ ऐसी भी शक्तियाँ है जो कि सब इन्द्रियातीत है। इन्द्रियगोचर एव इन्द्रियातीत इन सब जडपदार्थो का जिसमे समावेश हो जाता है उसका नाम है 'अजीव'। इस वैज्ञानिक युग मे वैज्ञानिको ने अजीव पदार्थो का भी सजीव पदार्थो के समान उपयोग कर दिखाया है। अन्तर केवल इतना है कि वैज्ञानिक उन-उन पदार्थो मे प्राण नही डाल सके है। उसके अजीवत्व को सजीवत्व में परिवर्तित नही कर सके है। अजीव की अजीव रूप मे स्वतन्त्र सत्ता है जो अविनाशी है और अमिट है। ससार में हमारे समक्ष जो कुछ भी अभिनय हो रहा है वह सब अजीव तत्त्व की ही क्रिया है।

हम किसी को रूपवान देखते है, किसी के स्वर में माधुर्य पाते है, किसी के व्यक्तित्व में और किसी के शरीर मे जो आकर्षण पाते है, उन सबका नेतृत्व करने वाला पुण्य होता है। या दूसरे शब्दो मे पुण्य के प्रताप से ही उक्त गुणो की प्राप्ति होती है। इसी का नाम पुण्य तत्त्व है। जो व्यक्ति हमें अनिष्ट लग रहा है, भद्दा लग रहा है, आकर्षणहीन लग रहा है, असन्तुष्ट और दुःखो से व्याकुल प्रतीत हो रहा है, उन सब दुर्गुणो का सचालन पाप द्वारा होता है। यह पाप भी एक तत्त्व है।

विश्व मे अनेक स्थानो पर अनेक काम हो रहे है जिनके विषय मे हम जानते है, सुनते है। विश्व में जितनी भी प्रवृत्तियाँ चल रही है उनमे कुछ हमे अच्छी लगती है और कुछ बुरी। कुछ के प्रति हम उदासीन रहते है, न हम उनको हेय कहते है और न ही उपादेय। उनका त्याग न करने के कारण, अवसर आने पर कभी हम उनमे प्रवृत्त भी हो जाते है। त्याग के अभाव में उन प्रवृत्तियो से होने वाली क्रियाओ से हम व्यर्थ ही लिप्त हो जाते है। इन सब क्रियाओ का नेतृत्व करने वाला तत्त्व आस्रव कहलाता है। ससार के सचरणशील कार्यो के प्रति हमारा सम्बन्ध चाहे डाइरेक्ट हो, चाहे इनडाइरेक्ट, उन सबका नियन्त्रण करने वाला 'आस्रव' तत्त्व है।

ससार मे ऐसे भी अनेक काम है, अनेक वस्तुएँ है जिनका न तो कभी

हमारे जीवन मे उपयोग हुआ है और न ही होने की सम्भावना है। उनसे हम हमारा सम्बन्ध विच्छेद कर देते है और उनका त्याग भी कर देते है। अपनी सम्पूर्ण इच्छाओ को मर्यादित कर लेते है, रोक लेते है और इस कारण उन कामो के प्रति और वस्तुओ के प्रति हमारा लगाव समाप्त हो जाता है। लगाव के समाप्त होते ही लगाव से होने वाला कर्मास्रव रुक जाता है। कर्मास्रव के रुक जाने से हमारी आत्मा कर्मास्रव के भार से बोभिल नहीं हो पाती और उसका अधोगति मे जाने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वस्तुतत्त्व को समझने वाले व्यक्ति, इस इच्छानिरोध को बहुत बडा महत्त्व देते है। हमारे प्राचीन आचार्यो ने तो इस 'इच्छानिरोध' को एक बहुत बडा तप माना है

"इच्छानिरोधस्तप"

अर्थात्—इच्छाओ का निरोध करना तप है।

इस तप के द्वारा केवल कर्मास्रव ही नही रुकता किन्तु पूवबद्ध-कर्मो की भी निर्जरा हो जाती है।

"तपसा निर्जरा च"

उमास्वाति ने उक्त वचन से इसी सत्य की पुष्टि की है। और यह भी कहा है कि इच्छा-निरोध नाम का तप सवर और निजरा का कारण है।

कुछ व्यक्ति ससार मे ऐसे भी होते है जो आशावादी बने रहना अधिक पसन्द करते है। 'जिस वस्तु का वर्तमान मे उन्हे योग नही मिला वह कभी न कभी अवश्य प्राप्त होगी' ऐसा सोचकर वे उनके प्रति आशावान बने रहते हैं, किन्तु आशा का गड्ढा इतना विशाल है कि जिसकी पूर्ति त्रिकाल मे भी सम्भव नही है। कोई भी ससार का व्यक्ति इससे मुक्त नही है। नीतिकार कहते है

आशागर्त प्रतिप्राणि,<br>
यस्मिन् विश्वमणूपमम्।

अर्थात्—हर एक प्राणी अपने अन्दर आशाओ का ससार बटोरे बैठा है, ऐसा ससार कि जिसकी पूर्ति कदापि सम्भव नही है। आशाओ के महासागर मे यह सारा ससार एक छोटे से अणु के समान प्रतीत होता है। किसी विद्वान् ने आशा का नदी के रूप मे बडा ही सुन्दर रूपक बाँधा है

आशा नाम नदी मनोरथजला, तृष्णा-तरंगाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा, धैर्यद्रुमध्वसिनी ।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना, प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,
तस्या पारगता विशुद्धमनसो, नन्दन्ति योगीश्वरा ॥
भर्तृहरि, ३/११

अर्थात्—
आशा नाम की एक ऐसी नदी है जिसमे मनुष्य के अनेक मनोरथ ही जल के समान है, वह आशा नदी तृष्णा की तरगो से सदा आकुल रहती है। राग-ममता रूपी बडे-बडे मकर (मगरमच्छ) उसमे निवास करते है और कुतर्क रूपी पक्षी सदा उस पर मडराया करते है। धैर्यरूपी वृक्षो को वह जड से उखाडने वाली है। मोह के बडे-बडे भवर उसमे चला करते है। इस कारण अत्यन्त गहरी उस नदी को पार करना बहुत ही कठिन है। मानव मन मे उत्पन्न होने वाली बडी ऊँची चिन्तायें ही उस नदी के ऊँचे तट है। पवित्र मन वाले योगीराज ही उस आशानदी को पार करके आनन्द का अनुभव किया करते है।

सक्षेप मे अनेक प्रकार के मनोरथो को, तृष्णा को, ममता को, मानसिक विकृतियो को और चिन्ताओ को जन्म देने वाली आशा ही होती है। उक्त विकारो से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन यही है कि आशाओ को सीमित किया जाए और उन पर पूरा नियन्त्रण रखा जाये। आशाओ पर नियन्त्रण ही सुख और शान्ति का मूल है। आशाओ पर मर्यादा रखने वाला व्यक्ति अन्य सब व्यक्तियो से उत्तम माना जाता है।

'पुरिसुत्तमाण' (पुरुषो मे उत्तम) यह पाठ 'नमोत्थुण' मे आया है। पौरुष और साहस का आश्रय लेने वालो मे वह उत्तम है जो मर्यादा मे रहता है। अमर्यादित जीवन जीने वाला व्यक्ति पुरुषोत्तम नही कहला सकता। अपनी आशाओ, इच्छाओ और तृष्णाओ का विजेता ही अपने मन, वाणी और कर्म को मर्यादा मे रख सकता है। अपने को मर्यादित रखने के लिए बडे साहस, शक्ति और उद्यम की आवश्यकता है। जीवन की अमर्यादित दशा मे सब कुछ बिखर जाया करता है। मन कल्पनाओ के जाल मे फस जाता है, वाणी शब्दो के आडम्बर मे उलझकर रह जाती है और शरीर मे फूहडपन आ जाता है। मन, वाणी और कर्म की मर्यादा रखने वाला पुरुष ही 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' कहलाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम न तो आशावादी ही होता हम ऐसे अनेक त्यागियो, व्रतियो, मुनियो और महात्माओ को देखते है जिनका है और न ही परमुखापेक्षी। सारा जीवन त्यागमय होता है। जिनके मन, वाणी और कर्म मे त्याग की ही प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार की सम्पूर्ण क्रिया-

कलापो का सचालन करने वाला 'तत्त्व' सवर कहलाता है। सवर करने वाला साधक अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओ का सवरण कर लेता है। सवरण का अर्थ है 'बाहर की वस्तुओ के अदर की ओर आने का जो मार्ग है उसे बन्द कर देना।' ऐसी अवस्था मे हमारे अन्दर जो अतीत के सचित कर्म विद्यमान है, उनकी निर्जरा होने लगती है।

इस 'सवर' के पूर्व आस्रव के कारण बहुत-से कर्म-परमाणु हमारे भीतर सचित थे—अच्छे के रूप मे और बुरे के रूप मे। वे शुभ के रूप मे और अशुभ के रूप मे हमारे आत्मा के साथ एकाकार होकर रह रहे थे या दूसरे शब्दो में आत्मा व कर्मपरमाणुओ में कोई स्पष्ट अन्तर नही दिखाई दे रहा था। जैसे लोहे के गोले को अग्नि मे डालकर गर्म किया जाये तो वह अग्नि के प्रवेश से लाल हो जाता है और अग्नि का ही रूप धारण कर लेता है। यह पहचानना कठिन हो जाता है कि यह अग्नि का गोला है या लोहे का। लोहा और अग्नि दोनो एकमेक हो जाते है। इसी प्रकार कर्म-परमाणु भी आत्मा के साथ एकमेक होकर रहते हैं। आत्मप्रदेश और कर्म-परमाणुओ के इस प्रकार मिलजुल कर रहने का नाम 'बन्ध' तत्त्व है।

सवरण के पहले हमने अच्छे कर्मो को भी बाँधा था और बुरे कर्मों को भी। बुरे कर्मो को बुरा जानकर नही बाँधा था किन्तु उन्हे भी अच्छा जानकर ही बाँधा था। इन कर्मो में कौन सा कर्म पुण्यरूप था और कौन-सा पापरूप था, इस बात का भी हमे कोई ज्ञान नही था। हम मिथ्यादृष्टि के कारण अशुभ को भी शुभ मानकर चलते रहे। बँधे हुए कर्मो को तब तक प्रोत्साहन मिलता रहता है जब तक नये नये कर्मो का आस्रव होता है। जब नई आय समाप्त हो जाती है तो अक्सर मूलपूजी की ओर ध्यान जाता है। नकद रकम भी जब व्यय हो जाती है तो आभूषणो को बेचकर जीवन का निर्वाह करना पडता है। भूख ऐसी चीज है जो प्रिय से प्रिय वस्तु को भी खा जाती है। जिसने सवरण कर लिया—आने वाले कर्मो को रोक लिया, उसके सचित कर्म भोग मे आने लगते है। पहले का जो सग्रह है उसमे से मूल भोगा जाता है—अच्छे का भी और बुरे का भी। कर्मो के आस्रवकाल का जो भोग होता था वह अलग प्रकार का होता था और कर्मो के आगमन के रुक जाने पर जो मूल भोग होता है उसका प्रकार भिन्न है। त्यागी का भोगना और प्रकार का होता है और जिसने त्याग नही किया उसका भोगना भिन्न प्रकार का होता है। त्यागरहित व्यक्ति बँधी हुई कर्मप्रकृतियो को भोगता है इसलिए उसका भोगना और न भोगना कोई महत्त्व नही रखता। महत्त्व इसलिए नही कि उसकी आस्रव की क्रिया तो चालू ही है। पहले का भोगेगा और नया बँध जायेगा। इस प्रकार यह भोग और बध का क्रम निरन्तर चलता रहेगा और

कभी समाप्त नही होगा। जिसने सवरण कर लिया, नवीन कर्मास्रव को रोक दिया है, उसका भोग निराले ही ढग का होगा, उसे तो नया भोग करने की आवश्यकता ही नही रह जायेगी।

कर्मप्रकृतिया उदय मे आकर अपना फल दे देती है और तत्पश्चात् वे आत्मा के साथ चिपटी नही रहती। चिपटे रहने की स्थिति भी तभी तक बनी रहती है जब तक शक्ति का सद्भाव रहता है, शक्ति के नष्ट होते ही आत्मा के साथ एकाकार होकर रहना सम्भव नही होता। भोगी हुई कर्मवर्गणाएँ और कर्मप्रकृतियाँ जब अलग-अलग होने लगती है, तो आत्मा शुद्ध होता जाता है, उत्तरोत्तर पवित्र बनता जाता है और आत्मिक तेज बढने लगता है। इस कमक्षय मे जो तत्त्व काम करता है उसे निर्जरा कहते है। कर्मक्षय का सचालन और तन्त्र चलाने वाला यही 'निजरा' नाम का तत्त्व है।

इस निर्जरा नाम के तत्त्व के भी अनेक भेद ह। दूसरे शब्दो मे कर्म-वर्गणाओ को आत्मा से अलग करने के अनेक प्रकार है। इनमे पहला प्रकार है 'अनशन'। अनशन को सामान्य भाषा मे तपश्चर्या कहते ह। तपश्चर्या का आरम्भ नवकारसी से होता है। इसके बाद पौरसी और डेढ पौरसी के पचक्खान आते हें। पौरसी से डेढ पौरसी तक के पचक्खाण एक है, फिर दो पौरसी, ढाई पौरसी एव तीन पौरसी तक के पचक्खाण लगभग एक-से है। इसके पश्चात् तप की मात्रा बढती जाती है। अनशन का अर्थ है, उपवास। सामान्य रूप से उपवास का अर्थ 'एक दिन की क्षुधा का समभाव-पूर्वक सहन कर लेना' समझा जाता है किन्तु उपवास का वास्तविक अथ कुछ और ही है। 'उप' यानी समीप, 'वास' यानी रहना, अर्थात् पास मे रहना। किसी व्यक्ति-विशेष के पास नही किन्तु आत्मा के पास रहना। खाना-पीना, ओढना-पहनना, शृगार-प्रसाधन, विषय-कषाय आदि सभी से दूर रहकर आत्मा के पास रहना। खाने-पीने आदि की क्रियाओ को करने वाला व्यक्ति आत्मा से दूर रहता है। आत्मा का मार्ग पृथक् है और शरीर का पृथक् है। यद्यपि दोनो का निवास एक स्थान पर है किन्तु दोनो का धर्म अलग-अलग है। शरीर का पोषण भिन्न प्रकार की क्रियाओ से होता है और आत्मा का पोषण अलग ही प्रकार के कार्यो से होता है। जिन कार्यो से आत्मा का पोषण होता है उन्ही कार्यो से शरीर का शोषण होता है, जिन कार्यो से आत्मा को बल मिलता है, शान्ति मिलती है, विश्राम मिलता है, ज्ञान, ध्यान और समाधि मे अधिकाधिक चित्त लगाने का अवसर मिलता है, उन्ही कार्यो से शरीर को क्लेश मिलता है, और शरीर मे दुर्बलता आ जाती है। आत्मा चैतन्य है, शरीर जड है। चैतन्य का स्वभाव अलग है और जड का अलग। चैतन्य ऊर्ध्वगामी है और जड अधोगामी है। जिन बातो से एक का

पोषण होता है, उन्ही से दूसरे का शोषण। दोनो की दिशा भी अलग है और कार्य भी अलग है। पहले कहा गया है 'तपसा निर्जरा च' अर्थात, तपश्चरण से सवर और निर्जरा दोनो ही होते है। आते हुए कर्म रुक जाते है और बन्धे हुए कर्मो की निर्जरा हो जाती है। क्रम-क्रम से कर्मवर्गणाओ का क्षय हो जाता है और फलस्वरूप आत्मा उत्तरोत्तर विशुद्ध होता चला जाता है। अधिकाधिक कर्मो की निर्जरा होने से आत्म-परिणाम विशुद्ध से विशुद्धतर होते चले जाते हैं। जब सम्यक्त्व के कारण तपश्चर्या मे वृद्धि होती है तो उत्तरोत्तर भावना शुभ और शुद्ध की ओर बढने लगती है। जिसने दो दिन का लगातार उपवास किया है उसे पाँच उपवास का फल मिलता है। तीन दिन के तेले का तपश्चरण करने वाले को पाँच गुने के हिसाब से फल मिलता है। अर्थात्-पचीस उपवासो का उसे फल मिलता है। इसी प्रकार पाँच दिन का 'पचोला' करने वाले व्यक्ति को १२५ × ५ = ६२५ उपवासो का फल मिलता है। एक साथ छह करने वाले को ६२५ × ५ = ३१२५ उपवासो का फल मिलेगा। सात की एक साथ तपस्या की तो ३१२५ × ५ = १५६२५ उपवासो का लाभ होगा। इस प्रकार अन्त तक पाच गुने का हिसाब करते जाओ, लाभ बढता ही जायेगा। हमें यहाँ भी ज्ञातव्य है कि जितनी तपश्चर्या की जाती है, उसके पारणे के दिन, एक पोरसी की, तो जितने उपवास के दिन बीते है उतने ही उपवास का लाभ उसे उस पारणा वाली एक पोरसी करने से मिलेगा। किसी भी आत्मा को उसकी उन्नत अवस्था में लाने वाला जो तत्त्व है वह निर्जरा तत्त्व है। आत्मा की कर्मो से निर्जरा होते ही आत्मा स्वभाव मे स्थित हो जाता है, मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।

कुल तत्त्वो की सख्या नौ है, जिनका सक्षिप्त परिचय आपके सामने प्रस्तुत किया गया है। इन तत्त्वो में दृढ श्रद्धा रखना, दृढ विश्वास रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन नव तत्त्वो मे जो तत्त्व त्यागने योग्य है, उनका त्याग करना चाहिए और जो ग्राह्य है, उनको ग्रहण करना चाहिए। यदि इन नव तत्त्वो के प्रति हमारे मन मे श्रद्धा का अभाव है, विश्वास का अभाव है तो बडा से बडा ज्ञान प्राप्त करके भी हम मिथ्यादृष्टि ही रह जायेंगे। सम्यग्-ज्ञान की प्राप्ति के लिए नवतत्त्वो का गभीर चिन्तन, मनन और उनमे से हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण परमावश्यक है।

शाश्वत सुखो की प्राप्ति सम्यग्दर्शन से ही सभव है और सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नवतत्त्वो के ज्ञान पर आधारित है। इसलिए यदि जीवन मे सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो नवतत्त्व के ज्ञान के माध्यम से सम्यग्दृष्टि बनो।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २३ जुलाई, १९७९

OO

कभी समाप्त नही होगा। जिसने सवरण कर लिया, नवीन कर्मास्रव को रोक दिया है, उसका भोग निराले ही ढग का होगा, उसे तो नया भोग करने की आवश्यकता ही नही रह जायेगी।

कर्मप्रकृतिया उदय मे आकर अपना फल दे देती है और तत्पश्चात् वे आत्मा के साथ चिपटी नही रहती। चिपटे रहने की स्थिति भी तभी तक बनी रहती है जब तक शक्ति का सद्भाव रहता है, शक्ति के नष्ट होते ही आत्मा के साथ एकाकार होकर रहना सम्भव नही होता। भोगी हुई कर्मवगणाएँ और कर्मप्रकृतियाँ जब अलग-अलग होने लगती हे, तो आत्मा शुद्ध होता जाता है, उत्तरोत्तर पवित्र बनता जाता है और आत्मिक तेज बढने लगता है। इस कमक्षय मे जो तत्त्व काम करता है उसे निर्जरा कहते है। कर्मक्षय का सचालन और तन्त्र चलाने वाला यही 'निजरा' नाम का तत्त्व है।

इस निर्जरा नाम के तत्त्व के भी अनेक भेद हे। दूसरे शब्दो मे कर्म-वर्गणाओ को आत्मा से अलग करने के अनेक प्रकार है। इनमे पहला प्रकार है 'अनशन'। अनशन को सामान्य भाषा मे तपश्चर्या कहते हे। तपश्चर्या का आरम्भ नवकारसी से होता है। इसके बाद पौरसी और डेढ पौरसी के पचक्खान आते हे। पौरसी से डेढ पौरसी तक के पचक्खाण एक हैं, फिर दो पौरसी, ढाई पौरसी एव तीन पौरसी तक के पचक्खाण लगभग एक-से है। इसके पश्चात् तप की मात्रा बढती जाती है। अनशन का अर्थ है, उपवास। सामान्य रूप से उपवास का अर्थ 'एक दिन की क्षुधा का समभाव-पूवक सहन कर लेना' समझा जाता है किन्तु उपवास का वास्तविक अर्थ कुछ और ही है। 'उप' यानी समीप, 'वास' यानी रहना, अर्थात् पास मे रहना। किसी व्यक्ति-विशेष के पास नही किन्तु आत्मा के पास रहना। खाना-पीना, ओढना-पहनना, शृगार-प्रसाधन, विषय-कषाय आदि सभी से दूर रहकर आत्मा के पास रहना। खाने-पीने आदि की क्रियाओ को करने वाला व्यक्ति आत्मा से दूर रहता है। आत्मा का मार्ग पृथक् है और शरीर का पृथक् है। यद्यपि दोनो का निवास एक स्थान पर है किन्तु दोनो का धर्म अलग-अलग है। शरीर का पोषण भिन्न प्रकार की क्रियाओ से होता है और आत्मा का पोषण अलग ही प्रकार के कार्यो से होता है। जिन कार्यो से आत्मा का पोषण होता है उन्ही कार्यो से शरीर का शोषण होता है, जिन कार्यो से आत्मा को बल मिलता है, शान्ति मिलती है, विश्राम मिलता है, ज्ञान, ध्यान और समाधि मे अधिकाधिक चित्त लगाने का अवसर मिलता है, उन्ही कार्यो से शरीर को क्लेश मिलता है, और शरीर मे दुर्बलता आ जाती है। आत्मा चैतन्य है, शरीर जड है। चैतन्य का स्वभाव अलग है और जड का अलग। चैतन्य ऊर्ध्वगामी है और जड अधोगामी है। जिन बातो से एक का

पोषण होता है, उन्ही से दूसरे का शोषण । दोनो की दिशा भी अलग है और कार्य भी अलग है । पहले कहा गया है 'तपसा निर्जरा च' अर्थात्, तपश्चरण से सवर और निर्जरा दोनो ही होते हे । आते हुए कर्म रुक जाते है और वन्धे हुए कर्मो की निर्जरा हो जाती है । क्रम-क्रम से कर्मवर्गणाओ का क्षय हो जाता है और फलस्वरूप आत्मा उत्तरोत्तर विशुद्ध होता चला जाता है । अधिकाधिक कर्मो की निर्जरा होने से आत्म-परिणाम विशुद्ध से विशुद्धतर होते चले जाते है । जब सम्यक्त्व के कारण तपश्चर्या मे वृद्धि होती है तो उत्तरोत्तर भावना शुभ और शुद्ध की ओर बढने लगती है । जिसने दो दिन का लगातार उपवास किया है उसे पाँच उपवास का फल मिलता है । तीन दिन के तेले का तपश्चरण करने वाले को पाँच गुने के हिसाव मे फल मिलता है । अर्थात्-पचीस उपवासो का उसे फल मिलता है । इसी प्रकार पाँच दिन का 'पचोला' करने वाले व्यक्ति को १२५×५=६२५ उपवासो का फल मिलता है । एक साथ छह करने वाले को ६२५×५=३१२५ उपवासो का फल मिलेगा । सात की एक साथ तपस्या की तो ३१२५×५=१५६२५ उपवासो का लाभ होगा । इस प्रकार अन्त तक पाच गुने का हिसाब करते जाओ, लाभ वढता ही जायेगा । हमे यहाँ भी ज्ञातव्य है कि जितनी तपश्चर्या की जाती है, उसके पारणे के दिन, एक पोरसी की, तो जितने उपवास के दिन बीते हे उतने ही उपवास का लाभ उसे उस पारणा वाली एक पोरसी करने से मिलेगा । किसी भी आत्मा को उसकी उन्नत अवस्था मे लाने वाला जो तत्त्व है वह निर्जरा तत्त्व है । आत्मा की कर्मो से निर्जरा होते ही आत्मा स्वभाव मे स्थित हो जाता है, मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है ।

कुल तत्त्वो की सख्या नौ है, जिनका सक्षिप्त परिचय आपके सामने प्रस्तुत किया गया है । इन तत्त्वो मे दृढ श्रद्धा रखना, दृढ विश्वास रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है । इन नव तत्त्वो मे जो तत्त्व त्यागने योग्य हे, उनका त्याग करना चाहिए और जो ग्राह्य है, उनको ग्रहण करना चाहिए । यदि इन नव तत्त्वो के प्रति हमारे मन मे श्रद्धा का अभाव है, विश्वास का अभाव है तो वडा से वडा ज्ञान प्राप्त करके भी हम मिथ्यादृष्टि ही रह जायेंगे । सम्यग्-ज्ञान की प्राप्ति के लिए नवतत्त्वो का गभीर चिन्तन, मनन और उनमे से हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण परमावश्यक है ।

शाश्वत सुखो की प्राप्ति सम्यग्दर्शन से ही सभव है और सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नवतत्त्वो के ज्ञान पर आधारित है । इसलिए यदि जीवन मे सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो नवतत्त्व के ज्ञान के माध्यम से सम्यग्दृष्टि वनो ।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २३ जुलाई, १६७६

# सम्यक्त्व और मिथ्यात्व-विवेचन

सासारिक या भौतिक सुखो एव क्षणिक आकर्षणो मे खोए हुए मानव को सचेत करते हुए यदि यह कहा जाये, 'अय मानव ! जिन सुखो को तुम शाश्वत सुख मान रहे हो वे वास्तव मे शाश्वत नही है, जिनको तुमने सत्य समझ रखा है वे कपटमय है, माया है' तो वह इस प्रकार के प्रशिक्षण को कोरा प्रलाप और पागलपन समझता है। परन्तु ज्ञान के निधि, तत्त्वचिन्तको का बार-बार यही कहना है कि सारा ससार, शरीर और भौतिक ऐश्वर्य सब नश्वर—नाशवान है। इनमे ही लीन रहने वाला मानव मृगतृष्णा मे भाग रहा है और परिणाम-स्वरूप भटक कर अपना विनाश कर रहा है। भौतिक सुखो का आकर्षण इतना प्रभावशाली है कि अज्ञानी जीव अनायास ही उनमे फंस जाता है और पाप का अर्जन करता है। कषायो (क्रोध, मान, माया और लोभ) के बन्धन मे उलझा हुआ जीव अनादि काल से चोरासी के चक्कर मे भटक रहा है। मिथ्यात्व तथा मोह से विमुग्ध जीव सासारिक सुखो मे ठीक उसी प्रकार आनन्द का अनुभव किया करता है, जैसे गोबर का कीडा गोबर मे और मल का कीडा मैले मे। शास्त्रकार सदा से मानव को सचेत करते आये है और प्रेरणा देते आये है कि उसको ससार के सुखो को त्यागकर, राग-द्वेष के बन्धनो को काटकर और मिथ्यात्व के अन्धकार से मुक्ति पाकर सम्यक्त्व के प्रकाश की ओर बढना चाहिए। सम्यक्त्व मानव के गन्तव्य का पथ है और उसको अनन्त-शाश्वत-सुख की प्राप्ति इसी पथ पर चलने से मिल सकती है। फिर भी यदि अज्ञानवश मानव उस सत्य की उपेक्षा करता है तो इसमे वीतरागों का या शास्त्रकारो का क्या दोष है ?

सम्यक्त्व का विरोधी शब्द है, मिथ्यात्व। इन दोनो की अनादिकाल से तीन और छह के अक की तरह विमुखता रही है। जहाँ सम्यक्त्व की सत्ता है वहाँ मिथ्यात्व नही टिक सकता, ठीक वैसे ही जैसे प्रकाश के सद्भाव मे अन्धकार का अस्तित्व सभव नही है। मिथ्यात्व आत्मा का निजी गुण नही है

फिर भी वह तो बिना निमत्रण के अतिथि के समान आत्मप्रदेशो में छा जाता है। सम्यक्त्व की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न प्रकार की है। बिना बुलाये आने की तो बात दूर रही वह तो प्रयत्न करने पर और साधना करने पर भी बडी कठिनाई से आ पाता है। सम्यक्त्व एक प्रकार का प्रकाश है जिसकी उपलब्धि के लिए गहरी खोज करनी पडती है। जो खोजी हैं वे तो आध्यात्मिक तत्त्व की गहराई मे पहुँच, उसे पाते ही है। तभी तो किसी ने कहा है

"जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"

इस सम्यक्त्व की प्राप्ति का पहला कदम सम्यक्त्व की वास्तविकता को समझना है और दूसरा कदम है सम्यक्त्य को ग्रहण करना या जीवन मे उतारना। मिथ्यात्व को जीवन से सर्वथा निकाल देने पर ही सम्यक्त्व का ग्रहण सभव है।

शास्त्रकारो ने किसी भी बात को सर्वागीण रूप से समझने के लिए दो मार्गों का निर्देश किया है। पहला मार्ग यह है कि जिस वस्तु या तत्त्व को आप समझना चाहते है उसके विरोधी तत्त्व का ज्ञान आपको होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे सम्यक्त्व को जानने के लिए मिथ्यात्व को समझना परमावश्यक है। हम आपको मिथ्यात्व के स्वरूप को बताकर मिथ्यात्व के आचरण की शिक्षा नही दे रहे हैं, हम तो मिथ्यात्व की रूपरेखा आपके सामने इसलिए प्रस्तुत कर रहे है कि बिना मिथ्यात्व के ज्ञान के आपको सम्यक्त्व का सही स्वरूप समझ मे नही आ सकेगा। इसके विपरीत मिथ्यात्व के स्वरूप का ज्ञान होने पर सत्यासत्य का निर्णय भी आप स्वय बडी सरलता से कर सकेंगे। विष और अमृत दो पदार्थ हैं। अमृत का ज्ञान तो आपको होना ही चाहिए क्योकि वह अमरता प्रदान करता है परन्तु उसके साथ-साथ आपको विष का भी ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है क्योकि विष का ज्ञान होने से आप अपने को उससे बचा सकेंगे। ससार मे अनेक प्रकार के खाद्यपदार्थ है, जब तक आपको उनके स्वाद और गुण-दोष का पता नही होगा तब तक आप यह निर्णय कैसे कर सकेंगे कि अमुक पदार्थ ग्राह्य है और अमुक त्याज्य है। इसीलिए हमने आपको कहा कि सम्यक्त्व के सही ज्ञान के लिए हमे उसके विरोधी तत्त्व मिथ्यात्व का भी ज्ञान होना चाहिए। मिथ्यात्व के ज्ञान से आपको भली प्रकार पता चल जायेगा कि अमुक प्रकार का विचार या पदार्थ मिथ्यात्व के घेरे मे आता है, अत' उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए और अमुक विचार सम्यक्त्व की ओर प्रेरणा देने वाला है, अत उसको जीवन मे उतारना चाहिए।

अनादि काल से जो हमारे स्वभाव का एक अग बनकर हमारे साथ चिपका

हुआ है और हमे जन्म-मरण के चक्कर मे भटका रहा है वह मिथ्यात्व है। तीव्र राग और द्वेष भी मिथ्यात्व के दूसरे नाम हे। यह राग-द्वेष की शृखला भी अनादिकाल से जीव के साथ जुडी हुई है जो मिथ्यात्व को जन्म देने वाली है तथा इसे उत्तरोत्तर बढाने वाली है। मिथ्यात्व के साथ कषायो का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रसगानुकूल होने से यहाँ थोडा प्रकाश 'कषाय' शब्द पर भी डालना आवश्यक है। कषाय शब्द का निर्माण दो शब्दो की सन्धि से होता है कष+आय। लोक भाषा मे मूर्धन्य 'ष' का दन्त्य 'स' बन जाना एक सामान्य बात है जैसे कृष्ण का किसन और भाषा का भासा। लोक मे कस का प्रचलित अर्थ है—सार। कचन और कामिनी को ही जगत् मे सारभूत माना जाता है। किन्तु वास्तव मे ये दोनो, लोभ और वासना के पोषक होने के कारण, निस्सार है—सारहीन है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कस शब्द सारहीनता का द्योतक है। आय का अर्थ आप जानते ही है, आमदनी होता है। तो कषाय का अर्थ हुआ सारहीनता की वृद्धि करने वाला। यह सारा का सारा ससार सारहीनता का ही तो जीता-जागता रूप है। सस्कृत मे ससार का अर्थ ससरण-परिभ्रमण करना है, जाना और आना है। यह जाना-आना, आवागमन किसी उद्देश्य मे नही किन्तु निरुद्देश्य है। जीवो को कोई दिशा ज्ञान नही होता और न ही कोई मजिल ही उनके लक्ष्य मे होती है। ससारी जीव मात्र भटकते रहते हे ठीक वैसे ही जैसे वस्त्र से जल को छानते समय जल के जीव नीचे-ऊपर, दायें-बायें निरुद्देश्य बिलबिलाया करते है। जन्म-मरण, कभी इस योनि मे, कभी दूसरी मे, कभी नरक, कभी तिर्यच, कभी मनुष्य और कभी देवगति मे भटकने को ही ससार कहते हे। जन्म-मरण की वृद्धि ससार की वृद्धि है और जन्म-मरण की कमी ससार का ह्रास है।

जिनके कारण से ससार का प्रवाह चल रहा है, जन्म-मरण की शृखला प्रगतिशील है और आवागमन का उत्तरोत्तर विकास होता चला जा रहा है, उनको कषाय कहा जाता है। उन कषायो की सख्या चार हे क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारो कषाय आत्मा को आवागमन के लिए शक्ति भी प्रदान करते है और प्रेरणा भी। इन चारो कषायो के बढने से आत्मा का आवागमन घटता है। क्रोध के मन्द पडने से क्षमा की भावना प्रतिष्ठित होती है, मान को कम करने से आत्मा मे विनय का गुण उजागर होता है, मान नामक कषाय की मन्दता के आने से आत्म-प्रदेशो मे विनम्रता छा जाती है, माया-कषाय की मन्दता से-न्यूनता से आत्मा मे सरलता का गुण उत्पन्न हो जाता है और कपट की प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार इन तीनो योगो मे एकरूपता आ जाती है। दूसरे शब्दो मे मन मे उद्भूत भावना, वाणी द्वारा

अभिव्यक्त शब्द और काया द्वारा अनुष्ठित कर्म—इन तीनो मे समरूपता प्रकट हो जाती है। ऐसी स्थिति में आत्मा मात्र आत्मा न रहकर 'महात्मा' के पद को प्राप्त करता है। उस महात्मा का लक्षण करते हुए ही किसी मनीषी ने लिखा है

"मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्"

अर्थात्—

महात्मा लोग तो मन से, वाणी से और कर्म से एकरूप होते है। दूसरे शब्दो मे उनके जो मन में होता है, वही वाणी मे अभिव्यक्त होता है और जो वाणी मे अभिव्यक्त होता है, वही कार्यरूप मे परिणत होता है।

यहाँ 'महात्मा' शब्द से हमारा अभिप्राय भिन्न-भिन्न वेशधारी साधुओ से नही है किन्तु महात्मा का यहाँ अर्थ है 'वह व्यक्ति जो अपनी आत्मा को मन, वचन और काया की एकरूपता से उत्तरोत्तर उन्नत बनाता है।' उदाहरण के लिए एक तीन हाथ लम्बी लकडी है। हम उसे एक आख से सीधा करके देखे तो वह अपने आदि, मध्य और अन्त तक के रूप मे सर्वथा सीधी दिखाई देगी। हम उसे कहेगे सरल यष्टि या सीधी लकडी। उतनी ही लम्बी किन्तु बाँकी एक दूसरी लकडी को उसी प्रक्रिया से हम देखेंगे तो वह आदि, मध्य और अन्त मे वक्रता लिए दिखाई देगी। तो हमारे प्रिय श्रोताओ! हम भी सभी तीन हाथ की लम्बी इस शरीर रूपी लकडी को धारण करने वाले है। यदि शरीर मे मन, वचन और काया के योग समरूप है तो हम जैसा सोचते हे, वैसा ही कहते भी है और जैसा कहते है वैसा ही आचरण भी करते है। ऐसा हम इस-लिए कर पाते है कि हमारे में नम्रता, निरभिमानता और निष्कपटता जैसे गुणो की विद्यमानता रहती है। इन गुणो का हमारी वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन और सामाजिक रीति-रिवाजो से कोई सम्बन्ध नही है, इनका सम्बन्ध तो चेतन से है। यदि हमारे मन, वचन और काया—तीनो आत्मा मे एकाकार हो चुके हे तो हम निश्चय ही महात्मा की कोटि मे आ जायेगे। अन्यथा यदि

"मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्"

हमारे मन मे कुछ और है, वचन मे मन से भिन्न वस्तु है और कर्म मे दोनो से भिन्न है तो हमारी गणना दुरात्माओ में होगी।

कषायो मे चौथा स्थान है लोभ का। निरन्तर बढने वाली तृष्णा या लालच को लोभ कहते ह। किसी कवि ने ठीक ही कहा है

"लोभ लाय लागी अति, भूल्यो जिनराज को।"

जिनराज को भूल जाना तो बहुत दूर की बात है यह लोभाग्नि तो आत्मा के निजी गुणो को जलाने की भी शक्ति रखती है। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है

"लोभश्चेद् अगुणेन किम्"

अर्थात्—तुममें यदि लोभ नाम का दुर्गुण है तो वह अकेला ही पर्याप्त है, फिर दूसरे दुर्गुणो की आवश्यकता नही होती। वह तो अकेला ही सब दुर्गुणं की पूर्ति करने वाला है।

सस्कृत के विद्वानो ने भी लोभ के दुष्परिणाम पर प्रकाश डालते हुए लिखा है

"लोभात्क्रोध प्रभवति लोभात्काम प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभ पापस्य कारणम् ।।
लोभात्क्रोध प्रभवति क्रोधात् द्रोह प्रवर्तते।
द्रोहेण नरक याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षण ।।

सु० र० भा०, पृष्ठ १०१

अर्थात्—

लोभ से क्रोध की उत्पत्ति होती है और लोभ से ही कामवासना भी जन्म लेती है। जीव को भ्रान्ति मे डालने वाला मोह नाम का विकार भी लोभ से पैदा होता है। लोभ पाप का कारण भी है और मनुष्य का नाश करने वाला है।

लोभ से क्रोध पैदा होता है और उसी क्रोध के परिणामस्वरूप दूसरो के प्रति शत्रुता उत्पन्न होती है। यह शत्रुता तो ऐसा दुर्गुण है कि इसके आ जाने से बडा से वडा शास्त्र का ज्ञाता विद्वान् भी नरकगामी बनता है।

लोभ अन्तहीन होता है और अनेक प्रकार का होता है। धन, परिवार, यश-प्रतिष्ठा आदि अनेक प्रकार के लोभो से प्राणी घिरा रहता है। लोभ किसी भी प्रकार का हो वह आत्मा को पतनोन्मुख बनाने वाला है और जन्म-मरण के चक्कर मे डालने वाला है। अधिक से अधिक लाभ अधिक से अधिक लोभ के सवर्धन का कारण है। तभी शास्त्रकार कहते है :

"लाहा लोहो पवड्ढई"

उत्तर० ८/१७

अर्थात्—

जितना अधिक से अधिक लाभ होता जायेगा उतना ही लोभ और बढता

जायेगा। यहाँ तक कि

"कसिण पि जो इम लोय, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण सतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥
वही, ८/१६

धन-धान्य से परिपूर्ण यह सारा का सारा विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौप दिया जाये, तब भी वह सन्तुष्ट नही हो सकता। इस प्रकार लोभी व्यक्ति या आत्मा की दुष्पूर—अर्थात् कभी भी तृप्त न होने वाली लालसा को कोई भी पूरा नही कर सकता।

यदि आप लोभ से पिंड छुडाना चाहते हैं, लोभ की ज्वाला मे धर्म-रत्न आत्मगुणो को भस्म होने से बचाना चाहते है और आत्मा को उच्च आत्मिक भूमिका मे पहुचाना चाहते है, तो आपको नफे की भावना को कम करना होगा, लाभ की सख्या को कम करना होगा। लाभ का त्याग करने से ही लोभ से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र के आठवें अध्ययन मे कपिल ब्राह्मण का प्रसग आता है। वहाँ कहा गया है

"दो मासकय कज्ज, कोडिए वि न निट्ठिय॥"
उत्तर० ८/१७

अर्थात्—दो माशे सोने से सन्तुष्ट होनेवाला करोडो स्वर्णमुद्राओ से भी सन्तुष्ट नही हो पाया था। यह लाभ की तृष्णा तो ऐसी है जो द्रौपदी के चीर की भाँति बढती ही जाया करती है। भगवान् ने इसीलिए इस पर नियत्रण रखने का आदेश दिया है।

क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारो कषायो का सम्यक्त्व से सीधा सम्बन्ध है। इन चारो कषायो की तीव्रता की अवस्था मे सम्यक्त्व को ठेस पहुँचती है। इन चारो के मद पडने से ही सम्यक्त्व को लाभ पहुँचता है। ये मन्द तभी पड सकती हैं जब साधक की सुगुरु, सुदेव और सुधर्म पर दृढ श्रद्धा हो। ऐसी दृढ श्रद्धा जीव को कषायो से रोकती है और सम्यक्त्व की ओर प्रवृत्त कराती है।

पूर्ववर्णित चार कषायो के भी प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं (१) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, (२) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, (३) प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ और (४) सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

**अनन्तानुबन्ध**

यह शब्द दो शब्दो की सन्धि से बना है अनन्त+अनुबन्ध मे मूल शब्द बन्ध है और अनु उपसग है। बन्ध का अथ है 'बन्धन या गाँठ।' तो अनुबन्ध का अर्थ हुआ बन्ध के पीछे बन्ध। ऐसे बन्ध अन्तहीन होते है। इन अनुबन्धो की सख्या अनन्त होने के कारण इनको 'अनन्तानुबन्धी' कहा जाता है। जब तक इन अनन्तानुबन्धो की सत्ता जीव मे रहती है, तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति सभव नही होती। सुगुरु, सुदेव और सुधर्म के प्रति श्रद्धा प्रकट होती ही नही। ऐसी अवस्था मे तो मिथ्यात्व का राज्य रहता है। इस अवस्था मे रहने वाला मिथ्यात्वी व्यक्ति यदि व्रत प्रत्यारयान आदि धार्मिक क्रियाए करता भी है तो उनका कोई भी मूल्य नही होता। इन व्रत-प्रत्यारयानादि क्रियाओ के पहले तीव्र कपायो का परित्याग अत्यावश्यक है। मिथ्यात्वी की सभी क्रियाए पापरूप मानी जाती है और सम्यक्त्वी की धर्म-रूप।

**अप्रत्याख्यानावरण**

जिस क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण व्रत-प्रत्यारयानादि का सम्पादन सभव न हो सके और जिनके मिटने से ही प्रत्याख्यान आये, वह प्रत्याख्यानावरण कपाय कहलाता है। भगवान् महावीर से गौतम गणधर पूछते है

गौतम "कोई व्यक्ति आकर कहता है कि मैने अमुक वस्तु का त्याग कर दिया है। तो प्रभु! वह सुप्रत्यारयानी है अथवा दुष्प्रत्यारयानी? उसका कथन सत्य है अथवा असत्य?"

भगवान् महावीर "अय गौतम! वह व्यक्ति सच्चा भी है और झूठा भी। उसका कथन सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। वह सुप्रत्यारयानी भी हो सकता है और दुष्प्रत्यारयानी भी।"

गौतम "भगवन्! ऐसा कैसे? यह तो द्विपक्षीय उत्तर हुआ। इससे निर्णय कैसे लिया जा सकेगा?"

भगवान् महावीर "गौतम, तुमने भी अपने प्रश्न को स्पष्ट रूप से व्यक्त नही किया है। यदि उस व्यक्ति को अपने प्रत्यारयान के प्रति, अपने त्याग प्रति सम्पूर्ण जानकारी है, उसके नियम, आगार और व्रत-भग के कारणो का उसे बोध है और जीवादि नवतत्त्वो का उसे ज्ञान है, तो वह सुप्रत्यारयानी है, सच्चा है, अन्यथा वह झूठा है, असत्यानुगामी है और दुष्प्रत्याख्यानी है।"

स्वामी जी श्री चौथमल जी महाराज अपने व्यारयानो मे फरमाया करते थे कि पचखाण तीन प्रकार के होते हे (१) अन्धे पचखाण, (२) काणे पचखाण और (३) सूझते पचखाण। अन्धे पचखाण का अर्थ होता है कि न तो पचखाण लेने वाले को पचखाण के सम्बन्ध मे जानकारी होती है और न ही

पचखाण करानेवाले को। पचखाण कराते समय राजगत, देवगत, गाव-गोठ, सुख समाधि, कारण विशेष आदि आगार रखते है। इस प्रकार पचखाण करते-कराते समय सभी आगार रख लिये जाते है। करने और कराने वाले खुश तो दोनो हो जाते है किन्तु उस प्रत्याख्यान का कोई लाभ नही होता। इस प्रकार के प्रत्याख्यानो को अन्धे प्रत्याख्यान ही कहना चाहिए। एक मारवाडी भाषा का उदाहरण इस बात को और भी स्पष्ट कर देगा

"किसी महाजन के घर एक अतिथि आ गया। उसका महाजन ने बडा स्वागत किया। उसको अच्छा भोजन खिलाया। शाम हुई तो ज्ञात हुआ कि अतिथि साहब रात्रि को भी महाजन के यहाँ ही विश्राम करेंगे। महाजन के घर अतिरिक्त खाट नही थी। महाजन पडौसी के घर गया और अतिथि के लिए खाट मागी। उत्तर मे पडौसी ने कहा

"खाट तो है सा पण ईसा कोनी।"

महाजन "कोई बात नही, कोई लम्बी लकडी लेकर फसा लेंगे।"

पडौसी 'जणा म्हा सा, म्हारी तो ना कोनी पण उपला भी आपने ई ज घालणा पडसी।"

महाजन "उपला ई घाल देस्या।"

पडौसी "वा सा वा जरे तो आप चारो पागा भी डाल दीजो ने विचलो झामलझोल भी।"

"ईस नही, उपला नही, नहीं है चारू पाया।
विचलो झामल झोल नही, ओ साचो लेरे भाया॥"

आप स्वय सोचिये कि खाट देने वाले पर क्या जोर पडा? और खाट लेने वाले के हाथ मे भी क्या आया? ठीक इसी प्रकार के होते है अन्धे प्रत्याख्यान, बिना सार के और बिना महत्त्व के। ऐसे प्रत्याख्यान न तो दिलाने का कोई लाभ है और न ही लेने का।

दूसरा पचखाण है 'काणे पचखाण'। दिलाने वाला और लेन वाला —दोनो मे से यदि एक ही व्रत के सम्बन्ध मे अच्छी जानकारी रखते हो तो वह काणा पचखाण होता है। यदि दोनो पचखाण के भली प्रकार जानने वाले हो तो वे 'सूझते पचखाण' होते है। अब हमारी स्थिति क्या है—यह विचारणीय बात है। हम पचखाण दिलाने वाले है और आप लेने वाले है। हमे इस बात का पूरा ध्यान रखना है कि हमारे द्वारा दिलाये गये और आप द्वारा लिये गये पचखाण अन्धे और काणे नही होने चाहिए।

**प्रत्याख्यानावरण**

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो का यह प्रकार ऐसा है, जिसे

प्रत्याख्यान द्वारा छोडा जा सकता है। सद्गुरु के उपदेश से, शास्त्र के पठन-पाठन से, सत्सगति से अथवा अन्य किसी अच्छे बाह्य निमित्त से उक्त प्रत्याख्यानावरण कषाय से मुक्ति पाई जा सकती है।

सज्वलन

क्रोध, मानादि का यह प्रकार पानी के बुलबुले की तरह क्षणस्थायी होता है। क्रोधादि कषाय सिर तो उठाते है परन्तु भव्यात्माएँ उन्हे शमन कर देती हैं, वे चिरकाल तक टिक नही सकते। सज्वलन कषायो मे मन्दता के कारण मिथ्यात्व लुप्त हो जाता है और सम्यक्त्व का प्रकाश स्वत प्राप्त हो जाता है।

सम्यक्त्व-प्राप्ति तो प्रथम अनन्तानुबन्ध प्रकार के कषाय के नाश से ही हो जाया करती है किन्तु शाश्वत सुख प्राप्ति तक के लक्ष्य की पूर्ति अप्रत्याख्यानादि शेष तीन प्रकारो के कषायो के नाश से ही हो सकती है।

तीव्र कषाय, मिथ्यात्व के कारण होते है अत क्रोध को वश मे कीजिये, मान मे मन्दता लाइये, माया का त्याग करिये और लोभ को मिटाइये। ऐसा करने से आपका हृदय सम्यक्त्व के प्रकाश से जगमगा उठेगा। उसी प्रकाश से प्रकशित आत्मा ही मुक्ति के शाश्वत सुख का आनन्द देगा। सम्यक्त्व इस लोक मे भी और परलोक मे भी अनन्त सुख का कारण बनेगा। सम्यक्त्व का ज्ञान प्राप्त कीजिये और उसे अपने जीवन मे उतारिये।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २४ जुलाई, १९७९

# क्या हास्य कषायों का बीज है ?

अणथोव वणथोव, अग्गीथोव कसायथोव च ।
ण हु मे वीससियव्व, थोव पि हु ते बहुं होइ ।।
आवश्यक निर्युक्ति, १२०

अर्थात्—ऋण, व्रण (घाव), अग्नि और कषाय—इनका यदि थोडा-सा अश भी अवशिष्ट रह जाये तो उसकी भी कदापि उपेक्षा नही करनी चाहिए। इनका अल्प अस्तित्व भी बढता-बढता विशाल रूप ग्रहण कर लिया करता है।

कोह् माण च माय च, लोभ च पाववड्ढण।
इमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हियमप्पणो ।।
दशवैकालिक ८/३७

अर्थात्—

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो कषाय पाप की वृद्धि करने वाले हैं, अत अपनी आत्मा का हित चाहने वाला साधक इनका परित्याग कर दे।

हां, तो मैं आपसे कल कह रहा था कि जीव सासारिक सुखो से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् ही शाश्वत सुख प्राप्त कर सकता है। बन्धनो से मुक्त हो जाना ही मोक्ष की दशा कहलाती है। बन्धन के विपरीतार्थक शब्द को ही मोक्ष कहा जाता है। बन्धन के जो अनेक भेद-प्रभेद है उनमे कषायो का भी उल्लेख है।

कषायो को भी यदि भेदो मे विभक्त किया जाये तो एक-एक कषाय के चार-चार भेद बन जाते हैं। आत्मा मे क्रोध की उत्पत्ति से लेकर अन्त तक एक जैसी स्थिति बने रहना—क्रोध का एक भेद है। "क्रोध के आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्त लक्षणो से क्रोध का सतुलितरूप मे एक ही स्थिति मे बने रहना कैसे सम्भव हो सकता है ?' ऐसा सदेह करने की आवश्यकता नही। हमारा कहने का अभिप्राय क्रोध की आन्तरिक और बाह्य दशा की सतत एकरूपता से

नही है। क्रोध के आने की स्थिति को 'उदय' कहते है और क्रोध के शान्त होने की अवस्था को 'उपशम' कहते है। उदय और उपशम इन दो शब्दो के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए शास्त्रकारो ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। मिट्टी से घुले-मिले पानी को गन्दा पानी कहते है। मिट्टी के मिश्रण के कारण वह पानी मिट्टी के रग का दिखाई देता है। गदीले पानी के गन्देपन की स्थिति को हम उदय स्थिति कह सकते है। ठीक इसी प्रकार क्रोध नाम का विकार मानसिक स्थिति से गुजरता हुआ मन और वचन मे घुलता-मिलता, काया मे अभिव्यक्त होता है। मनुष्य को जब क्रोध आता है तो उसके शरीर मे क्रोध के सारे चिह्न प्रकट हो जाते है। ओठो मे फडफडाहट आरम्भ हो जाती है, आखे लाल हो जाती है और नसो मे रक्त का प्रवाह तीव्र गति पकड जाता है। क्रोधी व्यक्ति सामने आने वाले प्रतिपक्षी को चुनौती देने लगता है। यह क्रोध का जागृत रूप है। क्रोध मन मे आया तो मन को विकृत किया, वाणी मे अभिव्यक्त हुआ तो अपशब्द निकलने लगे और शरीर मे सचरित हुआ तो शरीर की सारी चेष्टाएँ ही विकृत रूप मे सामने आई। इसी को क्रोध की उदय स्थिति कहते है। अपने उदय की स्थिति मे क्रोध ने मन, वचन और काया इन तीनो की स्वच्छता, पवित्रता और निर्दोषता नष्ट कर दी और उनको गन्दा और अपवित्र बना दिया।

शास्त्रकारो ने क्रोध की तुलना अग्नि से की है। पानी को चूल्हे पर रखकर नीचे आग जला दी जाती है। आग की गरमी से जल अधिकाधिक गर्म होता हुआ अन्त मे उबलने लगता है। उबलने की स्थिति मे नीचे के परमाणु ऊपर और ऊपर के नीचे जाने लगते है। ठीक इसी प्रकार क्रोध नाम की अग्नि की गर्मी से मनुष्य के मन, वचन और काया तीनो उबलने लगते है। यही कारण है कि क्रोधी मनुष्य को देखकर लोग सहसा कहने लगते है "इसे तो आज बहुत उबाल आ गया है।" क्रोध की यह उदय स्थिति अच्छी नही होती क्योकि इसमे वह विवेकशून्य और हिंसक बन जाता है।

पानी अपने वास्तविक स्वरूप मे स्फटिक के समान अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल होता है परन्तु मिट्टी के मिश्रण से वह गन्दला हो जाता है। यही पानी के विकार की उदय स्थिति है। यदि गन्दे पानी के पात्र को कुछ समय तक निश्चल अवस्था मे रखा जाये तो उसके रजकण नीचे बैठते जाते है और पानी उत्तरोत्तर स्वच्छ होता जाता है। जो कण पानी को गन्दला कर रहे थे वे पानी से बाहर नही निकले है, केवल नीचे जाकर जम गये है। रजकणो के नीचे जमने की यही अवस्था जल के विकार की उपशम अवस्था है। अब यदि उस स्वच्छ जल का किसी अन्य बर्तन मे निकाल लिया जाये और उसमे जमे धूल कणो को दूर फेंक दिया जाये, तो जल को अनेक प्रकार से हिलाने-

विधि विधानो का उसने अनुष्ठान किया। अन्त में जब उसने पचो के सामने जाति में पुन सम्मिलित करने की प्रार्थना की तो पचो मे से किसी ने उससे पूछा, "जिस बैल की हत्या करने के कारण तुमको इतना कठोर दण्ड भुगतना पडा है, वह बैल यदि इस समय तुम्हारे सामने आ जाये तो तुम क्या करोगे ?" यह सुनते ही गोहत्यारे ब्राह्मण की क्रोध से आखें लाल हो गई और कहने लगा, "जिस बैल के कारण मुझे इतनी शारीरिक और मानसिक यातनाएं भोगनी पडी है और बुरी तरह से अपमानित होना पडा है, वह यदि मेरे सामने आ जाये तो मैं पुन उसकी हत्या कर दूंगा।" सरपच ने कहा, "यह व्यक्ति क्षमा के योग्य नही है क्योंकि पश्चात्ताप की क्रिया के बाद भी इसका क्रोध जैसा बैल की हत्या के समय था वैसा ही बना हुआ है।" क्रोध की ऐसी आजीवन स्थिति क्रोध का प्रथम प्रकार है।

क्रोध की दूसरी अवस्था एक वर्ष तक एक-सी रहती है। वर्ष की समाप्ति के पश्चात् यदि कोई व्यक्ति बीते प्रसग की चर्चा भी करे तो भी उसका मन विकृत नही होता।

तीसरे प्रकार का क्रोध चार मास पर्यन्त एक सरीखा रहता है। चार महीने के पश्चात् उसकी क्रोध की प्रकृति समाप्त हो जाती है। उसके मन मे महान् परिवर्तन आ जाता है।

चौथे प्रकार के क्रोध की स्थिति केवल पन्द्रह दिन तक ही रहती है। पन्द्रह दिन के पश्चात् यदि क्रोध उत्पन्न हो जाये तो वह तुरन्त इसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे पानी में खीची गयी लकीर। यह पानी की लकीर का-सा क्रोध प्राय उत्तम व्यक्तियो मे ही देखने को मिलता है।

उत्तमोत्तम व्यक्तियो मे तो क्रोध उत्पन्न ही नही होता। इसका कारण है कि क्रोध को उत्पन्न करने वाला उनका मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका होता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने के बाद अन्तर्मुहूर्त मे ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म भी क्षय हो जाते हैं। ऐसे महापुरुषो में कभी क्रोध उत्पन्न होता ही नही। ऐसे ही व्यक्तियो को सर्वज्ञ, वीतरागी, केवलज्ञानी आदि नामो से पुकारा जाता है।

शास्त्रकारो ने कषायो की एक विशाल वृक्ष से तुलना की है जिसका केवल तना ही नही होता किन्तु शाखाएँ व प्रशाखाएँ भी होती है, जिनके फैल जाने से कषाय विस्तार रूप धारण कर लेता है। कषायो का सकुचित रूप 'नोकषाय' है। यहाँ नो का अर्थ निषेध नही है किन्तु थोडा या अल्प है। दूसरे शब्दो मे हम इसे थोडा-थोडा कषाय कह सकते है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये बुरे कषाय है। इनके उदय मे आते ही व्यक्ति क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी के रूप मे हमारे सामने आता है। नौ बातें ऐसी हैं जिनसे

यह नही प्रतीत हो पाता कि कषाय उदय मे है । वे सोलह कषायो के बीज रूप मे हैं । जिसने वृक्ष के बीज को नही देखा वह ऐसा अनुमान नही लगा सकता कि इतने बडे वृक्ष का इतना छोटा बीज भी हो सकता है । 'नोकषाय' कषायो का बीज रूप है । आशिक रूप मे जो कषाय है, वे नौ प्रकार के है । इनमे से पहला नोकषाय 'हास्य' है । यह कषाय नही 'नो कषाय' है । कषायो के फैलाव की 'हास्य' आधारशिला है । या फिर यो भी कहा जा सकता है कि 'हास्य' कषायो का बीज है । जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही हास्य से कषाय उत्पन्न होते है । हास्य से क्रोध की उत्पत्ति भी होती है । हम किसी की हसी करें, मजाक उडायें तो हसी के लक्ष्य को क्रोध आ जाता है । मारवाडी भाषा मे एक कहावत प्रसिद्ध है .

**"एक मसखरी री सौ गाल"**

एक मसखरी करने वाले को सौ गालियाँ खानी पडती है ।

क्रोध का प्रकरण चल रहा है । कई बार क्रोध बिना कारण भी आ जाता है । जब वह उदयावस्था मे होता है तो बाहरी निमित्त चाहे मिले, चाहे न मिले, क्रोध की अभिव्यक्ति हुए बिना नही रहती । शास्त्रकारो ने क्रोध का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"आयट्ठयाए, परट्ठयाए, तदुभयट्ठयाए," कि क्रोध अपने लिए भी उत्पन्न होता है, दूसरे के लिए भी उत्पन्न हो सकता है, अपने और पराये दोनो के लिए भी उत्पन्न हो जाता है और बिना कारण भी उसकी उत्पत्ति सभाव्य है । इस प्रकार क्रोध के चार भेद होते है । सोलह मे चार का गुणा करने पर ६४ भेद हो जाते है । शास्त्रकारो ने प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा से भेद करते-करते १३०० भेद कर दिये है और सभी कषायो के मिलकर ५२०० भेद होते है । इस प्रकार जैसा कि हम पहले जिक्र कर आये हे कषायो का एक विशाल वृक्ष हमारे सामने आता है ।

हास्य नामक नोकषाय मे यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय प्रत्यक्षरूप मे हमे प्रतीत नही होते किन्तु तो भी हास्य इन सभी कषायो का बीज है । हास्य से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है इसका उदाहरण हम दे चुके है । हास्य से मान की उत्पत्ति भी होती है । किसी को देखकर हसने का अर्थ होता है कि हम उसको तुच्छ समझते है और अपने-आपको उससे बडा समझते है । इस भावना मे छिपा हुआ मान या अभिमान स्पष्ट झलक रहा है । माया भी हास्य से उत्पन्न होती है । मायावी मनुष्य ऊपर से सदा प्रसन्नचित रहता है । उसके मन मे चाहे कितना ही कपट भरा हो किन्तु ऊपर से वह हसमुख रहता है । एक विद्वान् ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है

**"मुख पद्मदलाकार वाणी चदनशीतला"**

अर्थात्—उसका मुख कमल की पखुडी के समान खिला हुआ रहता है और वाणी चन्दन जैसी शीतलता प्रदान किया करता है। परन्तु

"हृदय कर्तरीयुक्तम्"

उसके हृदय मे कतरनी छिपी रहती है। मौका पाते ही वह सर्वनाश तक कर देता है। यह तीसरा लक्षण हृदय के अन्दर गुप्त रहता है, बाहर प्रकट नही होता। ऐसा मायावी व्यक्ति मूर्खो या भोले लोगो को ही ठगने में समर्थ होता है, मतिमानो को नही। विचक्षण लोग तो अपनी प्रतिभा के बल से उसके अन्तर में छिपी माया को पहचान लेते है। वे कदापि मायाजाल में फसकर अपना नाश नही करते। मायावी लोगो के चक्कर मे प्राय ऐसे लोग फस जाते है जिनको तृष्णा या लालच होती है। जो परिग्रह-परिमाण-व्रत को लेकर चलते है और अनेक प्रकार के व्रत, पचखानो का पालन करते है, वे ही वस्तुत चतुर या विचक्षण कहलाने के योग्य है। ऐसे ही लोगो की प्रशसा करते हुए तुलसीदास जी ने लिखा है

"तुलसी सोई चतुरता, ईश-शरण जिन लीन"

अर्थात्—जिसने ईश्वर की शरण ले ली है, वही वास्तव में चतुर है।

हमारी आज की चर्चा का विषय था कि हास्य एक नोकषाय है जिसमे सभी कषायो के बीज निहित है। हास्य से क्रोध, मान, माया और लोभ सभी उत्पन्न होते है। शास्त्रकारो का कथन है कि जो बन्धनो से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हे उनको सर्वप्रथम कषायो से मुक्ति प्राप्त करनी होगी। सामान्यरूप से मुमुक्षु के लिए तो सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्ति पाना आवश्यक है। मुख्यरूप से बन्धन का कारण राग है। राग से ही द्वेष की उत्पत्ति होती है। बाह्य रूप में तो हास्य भी राग का कारण प्रतीत होता है किन्तु इसमे विद्वेष का समावेश है। जब हम किसी को तुच्छ दृष्टि से देखा करते है तब भी हमें हसी आ जाती है। ऐसी स्थिति मे हास्य राग का कारण न होकर द्वेष का कारण बनता है। राग और द्वेष के साथ भी नोकषायो का सम्बन्ध है। ये सब मोहनीय कर्म की ही प्रकृतियाँ है। अठाईस प्रकार से मोहनीय कर्म आत्मा का लालन-पालन करता है—ठीक वैसे ही जैसे बालक का लालन-पालन किया जाता है। इसी प्रकार यह मोहनीय कर्म अठाईस प्रकार से आत्मा को ललचाता रहता है। मुमुक्षु को इस कर्मवीर मोह से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से ही जीव शाश्वत सुख की ओर अग्रसर हो सकता है।

जैन भवन, डेह (नागौर) २५ जुलाई, १९७९

●●

१८

# चमत्कार को नमस्कार

कल हमने आपके समक्ष क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायो का जिक्र किया था। कषायो के भेद-उपभेदो की सक्षिप्त रूपरेखा पर भी प्रकाश डाला था। कुछ बाते रह गयी थी जिनकी चर्चा आज की जायेगी। प्रत्येक कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के रूप मे चार प्रकार का होता है। अनन्तानुबन्धी का अर्थ है अनुबन्ध का अनन्त रूप मे होना। बन्ध के बाद बन्ध की शृखला चलती रहती है। इस प्रकार अनुबन्ध अनन्त है।

ग्रथो मे मानतुगाचार्य का एक प्रसग आता है। मानतुगाचार्य को राजा ने द्वेषवश अडतालीस कोठरियो मे बन्द कर दिया था, पैरो मे और हाथो मे बेडियाँ तथा हथकडियाँ डाल दी। गले मे तोखें डाल दी, सारा शरीर जजीरो से जकड दिया। आचार्य निरपराध थे। कारण यह था कि उस समय के पडित राजा के सामने अपने-अपने देवी-देवताओ की स्तुति करते थे और उसको अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाते थे। राजा उनके चमत्कारो से बडा ही प्रभावित था। वे पण्डित अपने हाथ पैर काट कर देवी देवताओ के सामने रख देते थे और फिर देवी-देवताओ की ऐसी स्तुति करते थे कि उनकी स्तुति के परिणामस्वरूप उनके कटे हुए हाथ-पैर पुन शरीर के साथ जुड जाते थे। राजा उनके इस प्रकार के चमत्कारो को देखकर आश्चर्यचकित रह जाता था। वे पण्डित जो कुछ भी आदेश देते थे राजा उसका पालन करता था। पण्डित लोग अपने चमत्कारो द्वारा राजा को अपनी ओर आकर्षित ही नही करते थे किन्तु उसमे मिथ्याचार की भावना भी भरते थे। वे अपने धर्म की अभिवृद्धि के लिए निजधर्म की तो मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते थे और दूसरे धर्मों को घोर निन्दा करके राजा के मन मे उनके प्रति घृणा उत्पन्न करते थे। जैन धर्म की बुराई करना तो उनकी दैनिकचर्या मे सम्मिलित था। इसका कारण राजा के प्रधानमन्त्री का जैन होना था। कई अवसरो पर तो पण्डित लोग मन्त्री को उपस्थिति मे राजा को कह देते कि "जैन धर्म मे कोई सार

अर्थात्—उसका मुख कमल की पखुडी के समान खिला हुआ रहता है और वाणी चन्दन जैसी शीतलता प्रदान किया करता है। परन्तु

"हृदय कर्तरीयुक्तम्"

उसके हृदय मे कतरनी छिपी रहती है। मौका पाते ही वह सर्वनाश तक कर देता है। यह तीसरा लक्षण हृदय के अन्दर गुप्त रहता है, बाहर प्रकट नही होता। ऐसा मायावी व्यक्ति मूर्खो या भोले लोगो को ही ठगने मे समर्थ होता है, मतिमानो को नही। विचक्षण लोग तो अपनी प्रतिभा के बल से उसके अन्तर मे छिपी माया को पहचान लेते है। वे कदापि मायाजाल मे फसकर अपना नाश नही करते। मायावी लोगो के चक्कर मे प्राय ऐसे लोग फस जाते है जिनको तृष्णा या लालच होती है। जो परिग्रह-परिमाण-व्रत को लेकर चलते हे और अनेक प्रकार के व्रत, पचखानो का पालन करते है, वे ही वस्तुत चतुर या विचक्षण कहलाने के योग्य है। ऐसे ही लोगो की प्रशसा करते हुए तुलसीदास जी ने लिखा है

"तुलसी सोई चतुरता, ईश-शरण जिन लीन"

अर्थात्—जिमने ईश्वर की शरण ले ली है, वही वास्तव मे चतुर है।

हमारी आज की चर्चा का विषय था कि हास्य एक नोकषाय है जिसमे सभी कषायो के बीज निहित है। हास्य से क्रोध, मान, माया और लोभ सभी उत्पन्न होते है। शास्त्रकारो का कथन है कि जो बन्धनो से मुक्ति प्राप्त करना चाहते है उनको सर्वप्रथम कषायो से मुक्ति प्राप्त करनी होगी। सामान्यरूप से मुमुक्षु के लिए तो सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्ति पाना आवश्यक है। मुख्यरूप से बन्धन का कारण राग है। राग से ही द्वेष की उत्पत्ति होती है। बाह्य रूप मे तो हास्य भी राग का कारण प्रतीत होता है किन्तु इसमे विद्वेष का समावेश है। जब हम किसी को तुच्छ दृष्टि से देखा करते हैं तब भी हमे हसी आ जाती है। ऐसी स्थिति मे हास्य राग का कारण न होकर द्वेष का कारण बनता है। राग और द्वेप के साथ भी नोकषायो का सम्बन्ध है। ये सब मोहनीय कर्म की ही प्रकृतियाँ हे। अठाईस प्रकार से मोहनीय कर्म आत्मा का लालन-पालन करता है—ठीक वैसे ही जैसे बालक का लालन-पालन किया जाता है। इसी प्रकार यह मोहनीय कर्म अठाईस प्रकार से आत्मा को ललचाता रहता है। मुमुक्षु को इस कमवीर मोह से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से ही जीव शाश्वत सुख की ओर अग्रसर हो सकता है।

जैन भवन, डेह (नागौर) २५ जुलाई, १९७९

●●

१८

# चमत्कार को नमस्कार

कल हमने आपके समक्ष क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायो का जिक्र किया था। कषायो के भेद-उपभेदो की सक्षिप्त रूपरेखा पर भी प्रकाश डाला था। कुछ बाते रह गयी थी जिनकी चर्चा आज की जायेगी। प्रत्येक कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के रूप मे चार प्रकार का होता है। अनन्तानुबन्धी का अथ है अनुबन्ध का अनन्त रूप मे होना। वन्ध के बाद बन्ध की शृखला चलती रहती है। इस प्रकार अनुबन्ध अनन्त है।

ग्रथो मे मानतुगाचार्य का एक प्रसग आता है। मानतुगाचार्य को राजा ने द्वेषवश अडतालीस कोठरियो में बन्द कर दिया था, पैरो मे और हाथो मे बेडियाँ तथा हथकडियाँ डाल दी। गले मे तोखें डाल दी, सारा शरीर जजीरो से जकड दिया। आचार्य निरपराध थे। कारण यह था कि उस समय के पडित राजा के सामने अपने-अपने देवी-देवताओ की स्तुति करते थे और उसको अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाते थे। राजा उनके चमत्कारो से बडा ही प्रभावित था। वे पण्डित अपने हाथ पैर काट कर देवी देवताओ के सामने रख देते थे और फिर देवी-देवताओ की ऐसी स्तुति करते थे कि उनकी स्तुति के परिणामस्वरूप उनके कटे हुए हाथ-पैर पुन शरीर के साथ जुड जाते थे। राजा उनके इस प्रकार के चमत्कारो को देखकर आश्चर्यचकित रह जाता था। वे पण्डित जो कुछ भी आदेश देते थे राजा उसका पालन करता था। पण्डित लोग अपने चमत्कारो द्वारा राजा को अपनी ओर आकर्षित ही नही करते थे किन्तु उसमे मिथ्याचार की भावना भी भरते थे। वे अपने धर्म की अभिवृद्धि के लिए निजधर्म की तो मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते थे और दूसरे धर्मो को घोर निन्दा करके राजा के मन मे उनके प्रति घृणा उत्पन्न करते थे। जैन धम की बुराई करना तो उनकी दैनिकचर्या मे सम्मिलित था। इसका कारण राजा के प्रधानमत्री का जैन होना था। कई अवसरो पर तो पण्डित लोग मन्त्री की उपस्थिति मे राजा को कह देते कि "जैन धर्म मे कोई सार

चमत्कार का ही महत्त्व है। तुम हमारी मान्यता का प्रत्याख्यान करके हमारे ऊपर अपना सिक्का जमाना चाहते हो। इस प्रकार राजधर्म की तौहीन कभी भी सहन नही की जा सकती।"

राजा ने क्रोधपूर्ण आवेश मे आचार्य को कहा और दण्डाधिकारियो को आदेश दिया, "इस जैनाचार्य को बेडियो और हथकडियो से कसकर कोठरी मे कोठरी इस प्रकार अडतालीसवी कोठरी मे बन्द कर दिया जाये। अडतालीस बेडियो और अडतालीस ही तोखो से इसको ऐसे जकड दिया जाये कि तनिक भी हिलने-डुलने न पाये। वहा पर इसको भली प्रकार से समझ आ जायेगा कि चमत्कार का क्या महत्त्व होता है।"

राजाज्ञा का पालन किया गया। आचार्य को यथादिष्टरूप मे कोठरियो मे बन्द कर दिया गया। आचार्य ध्यानस्थ होकर सोचने लगे, "आखिर इन कोठो की सख्या अडतालीस ही तो है। कोई अधिक नही। यहाँ तो जिसकी गिनती भी नहीं, अन्त भी नही ऐसे अनन्तानन्त अनुबन्धो से बंधे हुए आत्मा की मुक्ति हो जाती है। अनन्तानन्त अनुबन्धो से बँधा हुआ आत्मा भी जब छूटकर स्वतन्त्र हो सकता है तो फिर इन अडतालीस कोठरियो और अडतालीस बेडियो और जजीरो का बन्धन तो महत्त्व ही क्या रखता है? हमारा आत्मा वास्तव मे अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओ से बन्धा हुआ है। शास्त्र मे इसके लिए 'आवेलीय पवेलीय' इन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। एक तार के पास ही बिना किसी अन्तराल के दूसरे तीसरे आदि तारो को लपेटते जाना और उन लपेटे हुए तारो पर उसी क्रम से दूसरी ओर से बन्धन फिर लपेटने को 'आवेलीय पवेलीय' कहते है।

ठीक इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशो पर अनन्तानन्त कर्मवर्गणाओ की आवेली-पवेली लगी हुई है। "उन कर्मवर्गणाओ से आवेष्टित-परिवेष्टित जब यह आत्मा भी बन्धनमुक्त हो सकता है तो फिर उसके सामने यह शारीरिक बन्धन तो नगण्य ही समझना चाहिए।"

ऐसा सोचकर मानतुगाचार्य ने बैठे-बैठे ही किसी सामान्य देवी-देवता की नही, ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे, नुन्नर-जुन्नर, टूर-जूर देवी-देवताओ की नही किन्तु भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की। स्तुति भी किसी और की बनाई हुई नही थी किन्तु स्वरचित थी। भक्तामर या आदिनाथ स्तोत्र के एक-एक श्लोक की रचना के साथ-साथ क्रमश एक-एक हथकडी, बेडी व तोख टूटती गई तथा साथ ही एक-एक कर कोठरियाँ खुलती गईं। इस प्रकार अडतालीसवें श्लोक की रचना के साथ ही अन्तिम कोठरी का ताला भी टूट गया और म [illegible] बाहर आ गये। राजा एव प्रजा सभी इस आश्चर्यजनक घटना या च [illegible] से हैरान रह गये। किसने किया, कैसे किया, कैसे हुआ, किसको बुलाया अ

नही है, यह तो नास्तिको का धर्म है।" आखिर किसी की बुराई सुनते-सुनते, बुराई का भी मन पर असर हो ही जाता है। एक दिन राजा ने अपने जैन मन्त्री से कहा, "देखो, ये वैष्णव पण्डित कितने पहुँचे हुए हे, कितने बडे-बडे चमत्कारो के ये लोग धनी है। क्या आपके धम मे चमत्कार की शक्ति नही है? यदि है तो आप भी वह शक्ति दिखाइये या अपने किसी सन्त-महात्मा को लाइये जो हमे चमत्कार दिखाये।" उत्तर मे प्रधानमन्त्री ने कहा, "हमारे धर्म मे चमत्कार का कोई स्थान नही है। हमारा धर्म चमत्कार मे इसलिए विश्वास नही करता कि यह कोई आधारभूत तत्त्व नही है। चमत्कार मे विश्वास रखना मानव हृदय की निर्बलता का प्रतीक है। चमत्कार को महत्त्व देने वाला भक्त आज किसी के सामान्य चमत्कार से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बनता है तो कल किसी अन्य के बडे चमत्कार से प्रभावित होकर पहले गुरु को छोडकर दूसरे का चेला बन जाता है। इस प्रकार चमत्कार को नमस्कार करने वाला व्यक्ति मन की दुर्बलता के कारण पराश्रित रहता है और परावलम्बन की तलाश किया करता है। परमुखापेक्षी को कोई भी झुका सकता है। इसी पर तो लागू होती हे यह कहावत 'झुकती है दुनिया, झुकाने वाला चाहिए।' झुकाने वाले का तो कुछ महत्त्व हो भी सकता है किन्तु झुकने वाली दुनिया का क्या महत्त्व है। वह दुनिया तो दूसरो की गुलाम है, निज की शक्ति से हीन है।"

प्रधानमत्री की बात को सुनकर एक पण्डित ने व्यग्य-भाषा मे राजा की ओर मुँह करके कहा, "इन लोगो के पास चमत्कार कारिणी विद्या है ही कहाँ जो दिखा सकें। यदि होती तो ऐसी टालमटोल की बाते क्यो करते।"

इसके उत्तर मे प्रधानमन्त्री ने बडी दृढता से कहा, "ऐसी बात नही है। चमत्कार तो ऐसा दिखाया जा सकता है कि सारा ससार हैरान रह जाये किन्तु जिसका चमत्कार मे विश्वास ही नही है वह चमत्कार-विषयक प्रयास नही करता। हमारे धर्म मे चमत्कार को नही किन्तु वस्तु-स्वरूप को महत्त्व दिया जाता है। अनादिकाल से चली आ रही हमारी धार्मिक परम्परा बडी ही सारगर्भित है। उसको समझने के लिए विवेकशीलता की आवश्यकता है।"

पण्डित ने महामत्री की बात को सारहीन बताकर उसका प्रतिवाद किया।

जिस नगर का यह प्रसग चल रहा है, उसी नगर मे उस युग के उच्चकोटि के तपस्वी और आध्यात्मिक तत्त्व के वेत्ता जैनाचार्य मानतुग विराजमान थे। राजा ने उन्हे राजसभा में बुलाया और अन्य पण्डितो के समान उन्हे भी चमत्कार दिखाने का आदेश दिया। मानतुगाचार्य ने भी प्रधानमत्री की बात को ही दुहराते हुए कहा, "हमारे धम मे चमत्कार का कोई महत्त्व नही है।"

"तुम्हारे यहा चमत्कार का कोई महत्त्व नही है किन्तु हमारे यहाँ तो

चमत्कार का ही महत्त्व है। तुम हमारी मान्यता का प्रत्याख्यान करके हमारे ऊपर अपना सिक्का जमाना चाहते हो। इस प्रकार राजधर्म की तौहीन कभी भी सहन नही की जा सकती।"

राजा ने क्रोधपूर्ण आवेश मे आचार्य को कहा और दण्डाधिकारियो को आदेश दिया, "इस जैनाचार्य को बेडियो और हथकडियो से कसकर कोठरी मे कोठरी इस प्रकार अडतालीसवी कोठरी मे बन्द कर दिया जाये। अडतालीस बेडियो और अडतालीस ही तोखो से इसको ऐसे जकड दिया जाये कि तनिक भी हिलने-डुलने न पाये। वहा पर इसको भली प्रकार से समझ आ जायेगा कि चमत्कार का क्या महत्त्व होता है।"

राजाज्ञा का पालन किया गया। आचार्य को यथादिष्टरूप मे कोठरियो मे बन्द कर दिया गया। आचार्य ध्यानस्थ होकर सोचने लगे, "आखिर इन कोठो की सख्या अडतालीस ही तो है। कोई अधिक नहीं। यहाँ तो जिसकी गिनती भी नही, अन्त भी नही ऐसे अनन्तानन्त अनुबन्धो से बंधे हुए आत्मा की मुक्ति हो जाती है। अनन्तानन्त अनुबन्धो से बँधा हुआ आत्मा भी जब छूटकर स्वतन्त्र हो सकता है तो फिर इन अडतालीस कोठरियो और अडतालीस बेडियो और जजीरो का बन्धन तो महत्त्व ही क्या रखता है? हमारा आत्मा वास्तव मे अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओ से बन्धा हुआ है। शास्त्र मे इसके लिए 'आवेलीय पवेलीय' इन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। एक तार के पास ही बिना किसी अन्तराल के दूसरे तीसरे आदि तारो को लपेटते जाना और उन लपेटे हुए तारो पर उसी क्रम से दूसरी ओर से बन्धन फिर लपेटने को 'आवेलीय पवेलीय' कहते है।

ठीक इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशो पर अनन्तानन्त कर्मवर्गणाओ की आवेली-पवेली लगी हुई है। "उन कर्मवर्गणाओ से आवेष्टित-परिवेष्टित जब यह आत्मा भी बन्धनमुक्त हो सकता है तो फिर उसके सामने यह शारीरिक बन्धन तो नगण्य ही समझना चाहिए।"

ऐसा सोचकर मानतुगाचार्य ने बैठे-बैठे ही किसी सामान्य देवी-देवता की नही, ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे, नुन्नर-जुन्नर, टूर-जूर देवी-देवताओ की नही किन्तु भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की। स्तुति भी किसी और की बनाई हुई नही थी किन्तु स्वरचित थी। भक्तामर या आदिनाथ स्तोत्र के एक एक श्लोक की रचना के साथ-साथ क्रमश एक-एक हथकडी, बेडी व तोख टूटती गई तथा साथ ही एक-एक कर कोठरियाँ खुलती गईं। इस प्रकार अडतालीसवें श्लोक की रचना के साथ ही अन्तिम कोठरी का ताला भी टूट गया और मानतुगाचार्य बाहर आ गये। राजा एव प्रजा सभी इस आश्चर्यजनक घटना या चमत्कार से हैरान रह गये। किसने किया, कैसे किया, कैसे हुआ, किसको बुलाया आदि

अनेक प्रकार के पारस्परिक प्रश्न लोग करने लगे। मानतुगाचार्य ने सबके प्रश्नो का समाधान करते हुए कहा

"अब क्या पूछते हो कि किसको बुलाया गया। हमने तो किसी को भी नही बुलाया। और न ही हमे किसी को बुलाने की आवश्यकता ही थी। मेरी तो बात ही क्या है, हमारे तो श्रावक भी अपनी सहायता के लिए किसी को नही बुलाया करते। वे तो केवल अपने घर पर बैठकर ही धर्मध्यान किया करते है। मैंने भी वही किया है, अपने भगवान् की स्तुति की है। उनके स्तोत्र की रचना की है। अडतालीस कोठरियो मे बन्द जजीरो से जकडा हुआ शरीर, और फिर द्वार पर सशस्त्र पहरेदार, कौन आ सकता था मुझे बचाने के लिए बाहर से? प्राकृतिक रूप से कायगुप्ति की साधना, एव एकान्तस्थान—इससे बढकर भगवान की स्तुति करने का भला मुझे कब अवसर मिल सकता था? मैंने इस सुन्दर अवसर का लाभ उठाकर भगवान् की स्तुति की जिसका परिणाम तुम प्रत्यक्ष रूप मे देख रहे हो। हमारी मान्यता के अनुसार भगवान् कही आते-जाते नही। वे तो मुक्त हो गये है, उनका ससार के किसी भी प्राणी से कोई भी लेन-देन का नाता नही है। हमारे भगवान् तो निर्लेप, निरजन और निराकार है। उन्हे तो अपने द्वारा स्थापित और अनुमोदित धर्म से भी कोई लगाव नही है। मुक्त होने के कारण उनका धर्म से सम्बन्ध, मोह और राग सब समाप्त हो गये। मुक्ति के पश्चात् मुक्तात्मा को यह सारा धर्म साधन मात्र प्रतीत होने लगता है। साधक साधना तभी तक करते है जब तक उन्हे सिद्धि की प्राप्ति नही हो जाती, सिद्धि की प्राप्ति के पश्चात् साधना सारहीन हो जाती है। सिद्धि के पश्चात् सारा क्रियाकाण्ड कोई महत्त्व नही रखता। यही कारण है कि सिद्धो मे चारित्र की सत्ता स्वीकार नही की गई है। चारित्र का अर्थ ही यही है कि जो कर्मवर्गणाएँ आती हैं अथवा जिन कर्मवर्गणाओ का अस्तित्व पहले से ही विद्यमान है, उनका क्षय हो और सचित ढेर रिक्त हो

"चयरित्तकरण चारित्त"

अर्थात् चय का रिक्त करना ही चारित्र है। जब चय का अस्तित्व ही नही, कम की कोई वर्गणा ही नही, फिर चारित्र की आवश्यकता कहाँ रह जाती है? हमारे भगवान् जैसा कि मैंने पहले भी निर्देश किया है विश्व के किसी भी कार्य के लिए नीचे नहीं आते। नीचे उन्ही को आना पडता है जिनके कुछ कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं। कर्मो का नाश जब अपूर्ण रह जाता है तो उसकी पूर्ति के लिए जीव को नीचे आना पडता है। जो जीव सब कर्मो का क्षय करके ऊर्ध्वगति को प्राप्त करते हैं, वे लौटकर नही आया करते। हमारे भगवान् ऐसे ही

मुक्तात्मा है। वे स्वय मे पूर्ण रूप है। हम जो उन भगवान् की स्तुति करते है वह अपने ही लाभ के लिए है। हमारी चित्तवृत्ति, धारणा और मान्यता अज्ञानवश या मिथ्यात्व के कारण डगमगा न जाये इस कारण हम अपना ध्यान प्रभु पर केन्द्रित किया करते है। यह केन्द्रीकरण हम अपनी आत्मा के चरम विकास के लिए करते है, प्रभु को रिझाकर अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करने की भावना उसमे निहित नही होती। प्रभु तो ससार से पूर्णरूप से मुक्त है, उनका रीझने का प्रश्न ही पैदा नही होता।"

राजा ने मानतुगाचार्य से पूछा, "मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि आपके ऐसे कठिन बन्धन कट कैसे गये ? किस प्रकार टूट गये सभी कोठरियो के ताले? यह तो बडी ही आश्चर्यजनक घटना है।"

इसके प्रत्युत्तर मे आचार्य ने कहा, "हमारे सिद्धान्त के अनुसार

**धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो।**
**देवावि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो ॥**

अर्थात्—धर्म सबसे उत्कृष्ट मगल है और धर्म कहते है—अहिसा, सयम और तप को। जो धर्मात्मा है, जिसके मन मे धर्म समाया हुआ है, देवता भी उसके चरणो मे प्रणाम करते है।

धर्म पर सच्ची आस्था रखने वाले की सेवा के लिए तो देवता तरसते रहते हैं कि धार्मिक व्यक्ति की सेवा का अवसर हमें कैसे मिले ! धार्मिक व्यक्तियो की सेवा का अवसर देवताओ को बडी कठिनाई से मिला करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि धार्मिक प्रवृत्ति के लोग स्वावलम्वी होते हे। वे स्वय परीषह सहन कर लेते है किन्तु किसी दूसरे के ऊपर अपने कष्ट का भार डालने का प्रयास नही करते। दूसरे से अपनी सेवा करवाना उन्हे भाररूप प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति मे देवताओ को धार्मिक जनो की सेवा करने का मौका कम ही मिला करता है। जब अधर्मी, पापी, अत्याचारी और निर्दय लोग धर्मलीन व्यक्तियो पर अत्याचार करने लगते है, उनकी धार्मिक क्रियाओ मे वाधा डालने लगते है, उन्हे सताने लगते हैं, उनकी साधना में विघ्न डालने लगते हैं और उनको अमानवीय, निर्दयतापूर्ण यातानाये देने लगते हैं तव देवताओ को उनकी रक्षा के लिए आना पडता है। वे रक्षा के लिए मजवूरी की हालत मे नही आते किन्तु सेवा की भावना से उपस्थित होकर धार्मिक जनो की रक्षा करते हैं। भक्तो द्वारा देवताओ को सेवा के लिए वुलाया नही जाता किन्तु वे सेवा का सुनहरी अवसर पाकर स्वय उपस्थित हो जाते हैं। वुलाना तो उन देवी-देवताओ को पडता है जो अपने भक्तो की पीडाओ की देखी-अनदेखी करते हैं या लापरवाही करते है। ऐसे देवता तो

अपनी ही मौज मे मस्त रहते है, उनके पास भक्तो के सकट देखने का समय ही कहाँ रहता है । ऐसे देवी देवताओ का आह्वान करना पडता है, आराधना करनी पडती है और सहायता के लिए भक्तो को गिडगिडाना पडता है ।

मानतुगाचार्य के युक्तियुक्त एव सारगर्भित वचनो को सुनकर राजा बडा ही प्रभावित और प्रसन्न हुआ ।

हमारी चर्चा का विषय चला आ रहा था कि हमारे आत्मा के ऊपर अनन्तानुबन्धी की जो बन्ध-परम्परा चली आ रही है उसकी वास्तविकता हमारी समझ मे नही आती । हमारी विचारधारा तो प्राय उस वास्तविकता के विपरीत रहती है । कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा, पूजा मिथ्यात्व की परम्पराए है । ससार इसी प्रवाहमयी परम्परा मे वह रहा है । यह सारा का सारा जाल अनन्तानुबन्धी चौक का है । ससार की किसी भी विचारधारा मे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ किसी न किसी रूप मे समाये रहते है । समाज मे प्रमुख स्थान प्राप्त करने वाले जैसा कहते है वैसे ही सामान्य बुद्धि रखने वाले भी कहने लगते है, ईश्वर के विषय मे, ससार के विषय मे और ससार की रचना के विषय मे । इसे एक प्रकार की अन्धानुकरण की परपरा ही कहना चाहिए । इसका प्रधान कारण जनसामान्य मे मौलिक बुद्धि की मन्दता है ।

ससार मे यह एक प्रचलित विचारधारा है कि ससार मे मिल-जुलकर रहो, जिस ओर युग के लोगो का रुख हो उसी ओर बढते चलो । ऐसा न करने से व्यक्ति सामाजिक विचारधारा से अलग-थलग पड सकता है। ऐसी स्थिति मे वह समाज द्वारा उपेक्षणीय बन जायेगा । इसीलिए ससार के प्रवाह मे बहना ही हितकर है । किन्तु शास्त्रकार कहते हे कि नदी मे डाली गई वस्तु जिस ओर नदी का प्रवाह है उसी ओर वह जाती है, यह कोई विशेष महत्त्व की बात नही है। महत्त्व तो तब होता है जब कोई व्यक्ति प्रवाह की विपरीत दिशा मे जाने का साहस दिखाये । विपरीत दिशा मे जाने से मानव के साहस का, दृढता का और मनोबल का परिचय मिलता है । प्रवाह के विरुद्ध तो वही जा सकता है जो सघर्ष कर सकता है और सघर्ष वही करता है जो शक्तिशाली होता है । ससार के लोग जैसे करें, उनका अनुकरण करना यह तो मिथ्यात्व का प्रतीक है । लोक-व्यवहार मे कहा जाता है कि "अमुक व्यक्ति श्री जी की शरण हो गये और राम जी भूँडी करी" आदि । जैन-अजैन सभी ऐसा कहते सुने जाते हैं । रामजी न तो किसी को मृत्यु का बुलावा भेजते है
मरने वाला सीधा राम के पास जाता है । प्रत्येक जीव की आ।
निश्चित परिमाण होता है, जब सीमा समाप्त हो जाती है तो वह
है । रामजी के सिर पर इसका दोष लगाना कोई बुद्धिमत्ता नही

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि विवेकशील व्यक्तियो को ससार की प्रवाह-मयी भाषा में नही बोलना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी मे क्या अन्तर रह जायेगा ? आगम के अनुसार आत्मा के ऊपर अनन्तानुबन्ध की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इस बन्ध परम्परा ने आत्मा को इतना प्रभावित कर रखा है कि बहुत समझाने पर भी उसकी धारणा मे परिवर्तन लाना कठिन हो जाता है। यह अनन्तानुबन्धी का पहला चौक है। इस चौक मे सब कुछ विपरीत ही विपरीत दिखाई पडता है। ज्ञान-वान् पुरुष जब ससारी व्यक्ति को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हुए कहते है कि "ऐसा नही, ऐसा आचरण करना चाहिए" तो उन्हे प्रत्युत्तर मिलता है, "ससार के सभी लोग जो कहते हैं क्या वे गलत कहते है ?" ससार मे दूसरो के बताये मार्ग पर चलने वाले भी बहुत कम लोग है, स्वय मार्ग का निर्माण करने वाले तो विरले ही है।

जैन-भवन, डेह (नागोर) २६ जुलाई, १६७६

अपनी ही मौज मे मस्त रहते है, उनके पास भक्तो के सकट देखने का समय ही कहाँ रहता है । ऐसे देवी देवताओ का आह्वान करना पडता है, आराधना करनी पडती है और सहायता के लिए भक्तो को गिडगिडाना पडता है ।

मानतुगाचार्य के युक्तियुक्त एव सारगर्भित वचनो को सुनकर राजा बडा ही प्रभावित और प्रसन्न हुआ ।

हमारी चर्चा का विषय चला आ रहा था कि हमारे आत्मा के ऊपर अनन्तानुबन्धी की जो बन्ध-परम्परा चली आ रही है उसकी वास्तविकता हमारी समझ मे नही आती । हमारी विचारधारा तो प्राय उस वास्तविकता के विपरीत रहती है । कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा, पूजा मिथ्यात्व की परम्पराए है । ससार इसी प्रवाहमयी परम्परा मे बह रहा है । यह सारा का सारा जाल अनन्तानुबन्धी चौक का है । ससार की किसी भी विचारधारा मे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ किसी न किसी रूप मे समाये रहते है । समाज मे प्रमुख स्थान प्राप्त करने वाले जैसा कहते है वैसे ही सामान्य बुद्धि रखने वाले भी कहने लगते है, ईश्वर के विषय मे, ससार के विषय मे और ससार की रचना के विषय मे । इसे एक प्रकार की अन्धानुकरण की परपरा ही कहना चाहिए । इसका प्रधान कारण जनसामान्य मे मौलिक बुद्धि की मन्दता है ।

ससार मे यह एक प्रचलित विचारधारा है कि ससार मे मिल-जुलकर रहो, जिस ओर युग के लोगो का रुख हो उसी ओर बढते चलो । ऐसा न करने से व्यक्ति सामाजिक विचारधारा से अलग-थलग पड सकता है। ऐसी स्थिति मे वह समाज द्वारा उपेक्षणीय बन जायेगा । इसीलिए ससार के प्रवाह मे बहना ही हितकर है । किन्तु शास्त्रकार कहते है कि नदी मे डाली गई वस्तु जिस ओर नदी का प्रवाह है उसी ओर बह जाती है, यह कोई विशेष महत्त्व की बात नही है। महत्त्व तो तब होता है जब कोई व्यक्ति प्रवाह की विपरीत दिशा मे जाने का साहस दिखाये । विपरीत दिशा मे जाने से मानव के साहस का, दृढता का और मनोबल का परिचय मिलता है । प्रवाह के विरुद्ध तो वही जा सकता है जो सघर्ष कर सकता है और सघष वही करता है जो शक्तिशाली होता है । ससार के लोग जैसे करें, उनका अनुकरण करना यह तो मिथ्यात्व का प्रतीक है । लोक-व्यवहार मे कहा जाता है कि "अमुक व्यक्ति श्री जी की शरण हो गये और राम जी भूंडी करी" आदि । जैन-अजैन सभी ऐसा कहते सुने जाते हैं । रामजी न तो किसी को मृत्यु का बुलावा भेजते है और न ही मरने वाला सीधा राम के पास जाता है । प्रत्येक जीव की आयुष्य का एक निश्चित परिमाण होता है, जब सीमा समाप्त हो जाती है तो वह चला जाता है । रामजी के सिर पर इसका दोष लगाना कोई बुद्धिमत्ता नही है ।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि विवेकशील व्यवितयो को ससार की प्रवाह-मयी भाषा मे नही बोलना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी मे क्या अन्तर रह जायेगा? आगम के अनुसार आत्मा के ऊपर अनन्तानुबन्ध की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इस बन्ध परम्परा ने आत्मा को इतना प्रभावित कर रखा है कि बहुत समझाने पर भी उसकी धारणा मे परिवर्तन लाना कठिन हो जाता है। यह अनन्तानुबन्धी का पहला चौक है। इस चौक मे सब कुछ विपरीत ही विपरीत दिखाई पडता है। ज्ञान-वान् पुरुष जब ससारी व्यक्ति को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हुए कहते है कि "ऐसा नही, ऐसा आचरण करना चाहिए" तो उन्हे प्रत्युत्तर मिलता है, "ससार के सभी लोग जो कहते हैं क्या वे गलत कहते है?" ससार मे दूसरो के बताये मार्ग पर चलने वाले भी बहुत कम लोग है, स्वय मार्ग का निर्माण करने वाले तो विरले ही है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २६ जुलाई, १९७९

# सिद्धि पुरुषार्थ में है, मनोरथ में नही

शाश्वत सुखो की लिप्सा रखने वाले व्यक्ति को उद्यम का सहारा लेना चाहिए। बिना उद्यम या पुरुषार्थ के जीवन मे सफलता प्राप्त करना सभव नही है। किसी नीतिकार ने इस सत्य का समर्थन करते हुए ठीक ही कहा है

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति—
कार्याणि न मनोरथैः ।

अर्थात्—कार्यो की सिद्धि उद्यम द्वारा हुआ करती है, मनोरथो से नही। कार्य-सिद्धि के लिए लोग अनेक प्रकार के उपायो का आश्रय लिया करते हैं। उन उपायो में मत्र, यत्र और तत्र अपना पृथक् स्थान रखते है। तीनो का अपना-अपना महत्त्व है। मत्रो का निष्पादन अक्षरो से होता है और यत्रो का अको से जैसे—१, २, ३, आदि। तत्र वस्तुओ के सयोग या समिश्रण से बनते है। अमुक वस्तु मे अमुक वस्तु मिलाना, अमुक समय मे मिलाना, अमुक प्रमाण मे मिलाना, अमुक रीति से मिलाना, अमुक दिशा में मुह करके मिलाना इत्यादि तन्त्र की पद्धति होती है। यदि उचित विधि-विधान से किया जाये तो सिद्धि तीनो में निहित है।

मन्त्र की निरुक्ति करते हुए शास्त्रकार कहते है, "मननात् त्रायते इति मन्त्र" अर्थात्—जिसका एकान्त स्थान मे और एकाग्र मन से मनन करने से या ध्यान करने से सिद्धि प्राप्त होती है वह मन्त्र कहलाता है। मनन शब्द का अर्थ सस्कृत में या सैद्धान्तिक रूप मे कुछ भी हो किन्तु बोल-चाल की भाषा मे वह तीन अक्षरो वाला शब्द है मन न। इसमे दो अक्षरो वाला 'मन' शब्द है और एक अक्षर न का है जो निषेधात्मक है। तो मन+न की निरुक्ति हुई कि मन को अपने निश्चित लक्ष्य से बाहर न जाने देना। हमने अपने मन का जो लक्ष्य निर्धारित कर लिया है, बस उसी पर मन को टिकाकर रखना और अन्यत्र जाने के लिए विचलित न होने देना ही मनन है। मनन करते-करते 'मन' का 'न' आधा रह जाता है और आगे त्र के साथ जुडकर 'मन्त्र' बनता

है जिसका अर्थ होता है मनन के द्वारा त्राण—रक्षा प्राप्त करना। मनन के द्वारा हमारे जो सकट हैं, हमारी जो समस्याएँ है, हमारी जो विषमताएँ है और हमारी जो उलझनें है—उनसे हम मनन के कार्यकाल मे त्राण पा लेते है। उन्हे भूल जाते है, उनसे दूर हट जाते है।

बहुत-से लोग आपको ऐसे मिलेंगे जो अपने कार्य की सिद्धि के लिए मत्रो का जाप करते है, मन्त्रो की साधना करते है। मन्त्र को कार्य-सिद्धि का एक माध्यम कहना चाहिए। इसी प्रकार यन्त्र भी कार्य सिद्धि का ही एक माध्यम है। जैसा कि पहले निर्देश किया गया है यन्त्र का निर्माण अको से होता है। पैसठिया यन्त्र, चौतीसा यन्त्र, पन्द्रिया, बीसिया आदि यन्त्रो के अनेक प्रकार है। यन्त्र-साधना मे भी मन्त्र-साधना के समान, मन, वचन और काया को नियत्रित करना पडता है। चित्तवृत्ति के निरोध से ही कार्य-सिद्धि की सभावना की जा सकती है। यन्त्र की या मन्त्र की सिद्धि के लिए किया गया चित्त का निरोध भी तो एक प्रकार का उद्यम है।

मनोरथ शब्द उद्यम का विपरीतार्थक शब्द है। मनोरथ का अर्थ तो मन के रथ पर बैठ कर इधर उधर भटकना है। 'मन के घोडे दौडाना' यह कहावत लोक मे प्रसिद्ध है। शारीरिक क्रिया का या शारीरिक पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव रखकर केवल कल्पना के ससार मे खोये रहना मनोरथ की परिभाषा है। मन अपनी चचल गति के लिए प्रसिद्ध है ही, एक क्षण मे ही उसका दूर से दूर की सीमा का उल्लघन करके चले जाना एक सामान्य बात है। जो व्यक्ति सदा मन की चचल तरगो पर सवार रहता है वह जीवन के, धम के, समाज के और राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र मे सफलता नही प्राप्त कर सकता। उसे तो वसुन्धरा का भार मात्र समझना चाहिए। हिन्दी जगत् मे ऐसे व्यक्ति को शेख-चिल्ली कहते है। शेख चिल्ली करता कुछ भी नही था, केवल मनोरथो मे खोया रहता था। किसी कवि ने मात्र मनोरथो की दुनिया मे डूबे व्यक्ति पर व्यग्य करते हुए कहा है

**मन मनसूबा मत करो, तेरा चिन्त्या नहिं होय।**
**पाणी से घी नीसरे, तो लूखा न खावे कोय॥**

घी की प्राप्ति के लिए गौ या भैस पालनी पडती है, उसे चरागाह मे ले जाना पडता है, सेवा करनी पडती है और उसकी अनेक प्रकार की देख-रेख करनी पडती है, तब कही जाकर दूध की प्राप्ति होती है। दूध को गर्म करना, जमाना और फिर उस जमे हुए को चिरकाल तक मथना—आदि कठिन पुरुषार्थ की क्रियाओ के पश्चात् ही घी की प्राप्ति होती है। यदि पानी से घी निकलता होता तो लोग विना-पुरुषार्थ किये बडी सरलता से निकाल लेते और किसी को

भी रूखी-सूखी खाने की आवश्यकता न रहती।

इसी कारण से ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि कार्यो मे सिद्धि उद्यम द्वारा मिला करती है, मनोरथो के द्वारा नही। धर्मशास्त्रो मे श्रावको के तीन प्रकार के मनोरथो का उल्लेख आता है। श्रावक का पहला मनोरथ तो यह होता है कि वह दिन कितना परम पुण्यमय होगा जब वह आरभ और परिग्रह का त्याग करके निग्रन्थ बनेगा। इस प्रकार के मनोरथ का चिन्तन श्रावक सदा प्रात काल के समय किया करता है। ऐसा श्रावक वही होता है जिसके आत्मा मे त्याग के प्रति प्रेम होता है और भौतिक पदार्थो के प्रति विशेष लगाव नही होता। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति धनपति बनने का चिन्तन करता है, धनपति करोडपति बनने का, करोडपति राज्य पाने का और राजा तीनो लोको का आधिपत्य प्राप्त करने का मनोरथ करता है, ठीक इसी प्रकार श्रावक का पहला मनोरथ तो आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रथ की अवस्था तक पहुँचना होता है।

श्रावक का दूसरा मनोरथ होता है, पचमहाव्रत धारण करना। वह दिवा-निश यही सोचा करता है, "जिस दिन मै पाँच महाव्रतो को धारण करके शुद्ध निर्ग्रन्थचर्या मे विचरण करूँगा, वह दिन मेरे लिये परमकल्याणकारी होगा। उस दिन मुझे ससार के सभी झझटो से और सकटो से छुटकारा मिल जायेगा।"

तीसरा श्रावक का मनोरथ होता है, "अन्त समय की आलोयणा।" वह सोचा करता है, "जब मेरा अन्तिम समय आये उस समय मै अपने जीवन की आलोचना कर लू। आलोचना का अर्थ है स्वय का परिश्लेषण या स्वय का दर्शन। हम प्राय दूसरो को देखा करते है कि उसकी छत चूती है, उसका कमरा चूता है, उसकी भीत मे पानी भर रहा है। इस प्रकार दूसरो को देखना—परावलोकन कहलाता है। इस परावलोकन का कोई महत्त्व नही है। वास्तविक अवलोकन तो स्वय का होता है। अपने घर मे कौन-कौन-सा कक्ष चू रहा है, यह देखना चाहिए। दूसरो का चूना देखकर स्वय का नही मिटाया जा सकता। अपने दोषो का ज्ञान जितना स्वय को होता है उतना और तो किसी को नही हो सकता, अत स्वय के परीक्षण से ही अपना सुधार सम्भव है, पर-परीक्षण से नही। मनुष्य को गहराई से सोचना चाहिए कि उसमे क्या दुर्गुण है, कौन-कौन सी कमियाँ है, किन-किन पचखाणो को लेकर उसने उनका सचाई से पालन किया है, किन-किन के पालन मे उसने गफलत की है—इस प्रकार का आत्मावलोकन 'आलोयणा' के नाम से जाना जाता है। इस महत्त्वपूर्ण आत्मपरीक्षण पर बहुत कम श्रावक ध्यान देते है। पक्खी, चौमासी, सवत्सरी आदि के दिनो मे ही आलोयणा सुनने की परम्परा चली आ रही है, अन्यथा नही। आलोयणा सुनाने वाले आलोयणा सुना देते है, सुनने वाले

सुन लेते है किन्तु इस प्रकार के सुनने-सुनाने से कोई विशेष लाभ नही होता। आलोचना कोई सुनने-सुनाने की चीज नही है, यह तो स्वय के आचरण मे उतारने की वस्तु है। स्वय अपने गुण-दोपो को समझकर गुरु के समक्ष अपने दोषो को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करना चाहिए। किसी भी दोप को छिपाना धार्मिक अपराध माना जाता है। श्रावक द्वारा गुरु के सामने केवल अपने दोपो की अभिव्यक्ति ही अपेक्षित नही है किन्तु उसको गुरु से प्रायश्चित लेने की भी याचना करनी चाहिए। अन्तिम समय में यह सोचना कि "मैं पण्डित मरण से प्राण त्यागूंगा, मुझ मे उस समय समाधिभाव रहेगा, अरिहन्तो और सिद्धो मे मेरी दृढ आस्था रहेगी"—जीव के लिए बडा ही लाभकारी होता है। यह आलोयणा जीव को उत्तरोत्तर निर्जरा की ओर अग्रसर करती है। बस, यही होते है तीन मनोरथ सुश्रावक के।

उक्त तीन प्रकार के मनोरथ उसी श्रावक मे आते है जो आत्मा को सासारिक बन्धनो से मुक्त कराने के लिए दिन-रात उद्यमशील रहता है। जिस व्यक्ति में श्रावकत्व के थोडे भी सस्कार है वह धर्म मे प्रवृत्ति रखेगा, कुछ आत्मिक चिन्तन भी करेगा और त्याग की क्रिया मे भी प्रवृत्त होगा। श्रावक को शास्त्र मे 'श्रमणोपासक' कहा है। श्रमण का अथ साधु होता है। श्रमण—साधु के उप—पास मे आसक—आसन लगाने वाला 'श्रमणोपासक' कहलाता है। साधु के पास बैठने का अर्थ है साधु से त्यागमय जीवन की शिक्षा लेना। जिस प्रकार साधु अपना त्यागमय जीवन व्यतीत करता है, निर्लेप रहता है, उसी प्रकार जो श्रावक रात दिन साधु की भाँति निष्परिग्रह, निरामिष एव साम्यभावयुक्त जीवन व्यतीत करने का उद्यम करता है उसे श्रमणोपासक या श्रावक कहते है। नि सन्देह, श्रावक, श्रमण के समान त्याग, व्रत, पचखाण नही कर सकता किन्तु यथाशक्ति तो त्यागमय जीवन व्यतीत कर ही सकता है। जो त्यागमय जीवन की ओर उत्तरोत्तर कदम बढाता जाता है वह कभी न कभी तो मुक्ति की अतिम मजिल पर पहुँच ही जाता है।

हमने जो श्रावको के तीन प्रकार के मनोरथ बताये है वे श्रावको के आत्म-विकास मे इसलिए सहायक माने जाते है कि उनकी गणना उद्यम के ही कार्यो मे होती है। तपश्चर्या भी कोई सामान्य कोटि का उद्यम नही है। व्यक्ति बडे से बडे कार्य को करने का साहस कर लेता है किन्तु तपश्चर्या का नाम सुनकर घबरा जाता है। तपश्चर्या का उद्यम सामान्य कोटि के लोग नही कर सकते, उसके लिए उद्यम के बीज, साहस की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार शास्त्रकारो ने शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चार उपाय बताये है। इनका उद्यमपूर्वक पालन करने से मनुष्य को निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर)

२७ जुलाई, १९७९

# आराधना का आधार—आज्ञा पालन

मोक्ष शाश्वत सुखो का निधान है। ससार और मोक्ष दोनो विपरीतार्थक शब्द है। ससार में जीव को परिभ्रमण करना पडता है और भटकना पडता है किन्तु मोक्ष मे परिभ्रमण और भटकना दोनो समाप्त हो जाते हैं। इसका कारण है कि ससार में जीव बन्धनो से जकडा हुआ रहता है और मोक्ष मे वे बन्धन कट चुके होते है। ससार जीव की परतन्त्रता का प्रतीक है और मोक्ष उसकी स्वतन्त्रता का सूचक है। ससार मे जीव परतन्त्रता की डोर मे बधा रहता है, ठीक वैसे ही जैसे ऊट, बैल और घोडे नकेल से बधे होते है। हाथी के यद्यपि नकेल नही होती, वह स्वतन्त्र होते हुए भी अकुशाधीन तो होता ही है।

कहते है कि सर सिकन्दर ने भारत मे आने से पूर्व हाथी नही देखा था और न ही उसकी सवारी की कल्पना उसने की थी। यहाँ तो हाथी की सवारी करना एक प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। बडे-बडे राजा-महाराजा हाथी की सवारी किया करते थे। सिकन्दर के लिए भी हाथी लाया गया और उस पर बैठा दिया गया।

"इसकी लगाम मेरे हाथ मे पकडाओ!"

—सिकन्दर ने महावत से कहा।

"हजूर, इसके लगाम नही होती, यह तो अकुश से चलता है। मैं इसे चलाता हूँ।"

—महावत ने बडे विनम्र शब्दो मे सिकन्दर को उत्तर दिया।

"तो मै ऐसी सवारी पर बैठना पसन्द नही करता, जिसका नियन्त्रण मेरे हाथ मे न होकर दूसरे के हाथो मे हो।"

सिकन्दर ने स्वय को हाथी से उतारने का आदेश दिया।

सिकन्दर को हाथी से उतार दिया गया। वह अपनी स्वतन्त्रता दूसरे के हाथ मे देना नही चाहता था। बन्धन मे बधे प्राणी को सचालक जिस प्रकार चलाता है उसे उसी प्रकार चलना पडता है। ठीक इसी प्रकार जीव भी कर्मो के बन्धन मे बँधा हुआ है। वह कर्मो का दास है, कर्म उसे जिस दिशा की ओर ले जाते है वही उसको जाना पडता है। वह स्वाश्रित नही, पराश्रित है, पराधीन है। यह

कर्मो का बन्धन किसी दूसरे प्राणी द्वारा हमारे गले मे डाला हुआ नही है, कर्मो का अर्जन तो हम स्वय करते है और स्वय ही अपने-आपको बन्धन मे डालते हैं। इसलिए आगम मे उल्लेख है :

"सव्वे सयकम्मकप्पिया"

सूत्रकृताग, १/२/६/१८

अर्थात्—

सभी प्राणी अपने द्वारा किये गये कर्मो के कारण ही नाना योनियो मे भ्रमण किया करते है। और भी

"सकम्मुणा किच्चइ पावकारी
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

उत्तराध्ययन, ४/३

अर्थात्—पापी जीव अपने ही कर्मो के विपाक से पीडित हुआ करते हैं। किये हुए कर्मो का बिना भोग से कभी भी छुटकारा नही होता। इस प्रकार जीव स्वय के कर्मो के द्वारा ही स्वय को बाधा करता है। दूसरो के कर्म हम को नही लगा करते। यदि एक के कर्म दूसरों को चिपकने लगें तब तो वडा अनर्थ हो जायेगा। हमारे से शत्रुता रखने वाले, हमारे से ईर्ष्या करने वाले और हमारा बुरा सोचने वाले अनेको व्यक्ति होते हैं, उन सबके दुष्कर्म यदि हमे लगने लगेंगे तब तो हमारी आत्मा का त्रिकाल मे भी उद्धार सभव नहीं है।

हमने जो पहले आगमो के दो उदाहरण प्रस्तुत किये है वे इसी सत्य का और सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि जीव को स्वय के कर्म ही बन्धन मे बाँधने वाले हैं, दूसरो के नही। इस बात को विशेष रूप से समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह कर्म करता है और कर्मों के शुभ-अशुभ विपाक को भी उसे भोगना पडता है, उसी प्रकार वह कर्मो के बन्धन काटने में भी स्वतन्त्र है। उसके कर्मों के बन्धनो को काटने के लिए कोई दूसरा आनेवाला नही है, उसके लिए भी उसे स्वय प्रयत्न करना पडेगा। सारी धार्मिक क्रियाएँ, विधि-विधान, व्रत, पचखाण आदि इसी निमित्त है कि जीव इन माध्यमो से अपने बन्धनो को काटकर स्वतन्त्र बने, कर्मों की दासता से और यातना से मुक्त होवे। इसके लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही है किन्तु दृढ निश्चय की आवश्यकता है। यदि हम यह पक्का प्रण कर लें कि हमे अपने जन्मजन्मान्तरो से चले आ रहे कर्मवन्धनो को काटना है तो हम अवश्य सफल होगे, ससार की कोई भी शक्ति हमे विचलित नही कर सकती। परन्तु दृढ निश्चय भी तो तभी आयेगा जव हम कर्मवन्धनो को वन्धनो की दृष्टि से

देखेगे और ऐसी धारणा बनायेगे कि कर्मबन्धन हमारे शाश्वत सुखो मे बाधक हैं। यदि हम बन्धनो को अपने जीवन का सहायक मानते रहेगे, जैसा कि जन-साधारण मान रहे है और अनादिकाल से मानते चले आ रहे है, फिर भला हम कर्मबन्धनो की शृखलाओ को काटने मे कैसे समर्थ हो सकेंगे ? अतएव सर्वप्रथम हमारा कतव्य है कि बन्धनो को बन्धन ही समझें, उनको अपने जीवन के सुख का साधन न समझें। इस प्रसग मे एक उदाहरण स्मरण हो आया है।

एक पालतू कुत्ता था। उसके स्वामी ने उसके गले मे सोने का पट्टा बाँध रखा था। वह कुत्ता उस सोने के पट्टे से अपने को बडा गौरवान्वित अनुभव करता था। वह सोचता था, बाकी के कुत्ते तो सब चमडे के पट्टे वाले हैं, केवल वही सोने का पट्टा धारण करता है। वह सबको अपने से निम्नकोटि का समझता था। वह यह नही समझता था कि पट्टा सोने का होने पर भी आखिर था तो बन्धन ही। उसका स्वामी जब चाहे उसको पट्टे की कडी से शृखला जोडकर बाँध सकता था। ठीक इसी प्रकार कर्मो का पट्टा अज्ञानी जीव के गले मे बँधा हुआ है। अज्ञानवश या मिथ्यादृष्टि के कारण जीव को ससार के क्षणिक सुख सुवण के समान बडे ही कीमती प्रतीत हुआ करते हैं। वह उनके आन्तरिक और अन्तिम परिणाम को न समझता हुआ उनमे बडी प्रसन्नता से उलझा रहता है और उस उलझन मे भी आनन्द का अनुभव करता है। इस सासारिक प्रक्रिया मे उसके कर्म बँधते जाते है और उसका भावी लोक, परलोक अन्धकारमय बनता जाता है। यही मिथ्यात्व का जाल है जिसमें बँधे हुए जीव अनन्तकाल तक जन्म-मरण के चक्कर में पडकर अनेक प्रकार के दु खो को और यातनाओ को भोगा करते है। इससे आपको भलीभाँति स्पष्ट हो गया होगा कि हम पर दूसरो के कर्मों का न तो बधन ही सभव है और न ही उसका भोग ही। जीव स्वय जान बूझकर अज्ञानवश कर्म बाँधता है और परिणामस्वरूप स्वय ही फल भोगने को बाध्य होता है। उसके स्थान पर कोई दूसरा जीव उसके कर्मों को नही भोगा करता और न ही भोग सकता है।

अब रही कर्मबन्धन के विस्तार की प्रक्रिया। कल चौक की बात चल रही थी। हमने पहले चौक अनन्तानुबन्धी की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। अनन्तानु-बँधी का अर्थ बताया था एक बन्धन के पीछे दूसरा, दूसरे के पीछे तीसरा— इस प्रकार बन्धन की अनत-परपरा है। गिनती के बाहर की चीज असख्य कह-लाती है। अनन्त का अथ है जिसका कोई अन्त ही नही है। अनन्तगुणा बन्धन का अभिप्राय यह समझना चाहिए कि एक बन्धन के पीछे अनन्त अनन्त बन्धन होते है। जीव अनादिकाल से अनन्तानन्त बन्धनो से बन्धा चला आ रहा है इसी कारण उसको वे बन्धन, बन्धन के रूप मे प्रतीत ही नही हुआ करते। उसकी

आत्मा, उसका मन, उसकी प्रवृत्ति, सब बन्धनमय बन जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण पढने मे और सुनने मे आये है कि जिन महापराधियो को या हत्यारो को बीस वर्ष के कारागार का दण्ड दिया जाता है, वे कारागार के जीवन मे इतना रम जाते है, इतने एकाकार हो जाते हे कि वहाँ बाहर के स्वतन्त्र जीवन से भी अधिक आनन्द मानने लगते है। दण्ड की अवधि समाप्त होने पर जब उनको कारागार से मुक्त किया जाता है तो उनको कारागार के बाहर का जीवन बिल्कुल पसन्द नही आता और वे फिर कोई अपराध करके पुन: जेलखाने मे जाकर सुख की सास लिया करते है। ऐसा होता है बन्धन का चिपकाव और बन्धन से ममत्व।

जीव स्वतन्त्रता को बन्धन व बन्धन का स्वतन्त्रता समझने लगता है, यही अनन्तानुबन्ध है, इसी का दूसरा नाम मिथ्यात्व भी है। जब अनन्तानुबन्ध के मिटने के पश्चात् हेय और उपादेय दोनो प्रकार की वस्तुओ पर उसका श्रद्धान ठीक हो जाता है, इस अवस्था मे वह प्रत्याख्यान तो नही लिया करता क्योकि प्रत्याख्यान लेने मे उसकी रुचि नही होती। वह तो केवल मन की दृढता को ही महत्त्व देने लगता है। यहाँ तक कि वह प्रत्याख्यान की आलोचना तक करने लगता है। सन्तो के पास जाकर कहता है:

"महाराज, आप क्या पचखाण-पचखाण लेने की बार-बार बातें करते हैं। क्या रखा है पचखाण मे? आपके बहुत से ऐसे श्रावक है जो आपसे पचखाण तो ले लेते हैं किन्तु गुप-चुप सभी कुछ किया करते है। ऐसा पचखाण बताइये किस काम का? क्या लाभ हुआ उससे लेने वाले को? मेरे मन मे दृढता है, मैं उन पचखाण लेने वाले भक्तो से लाख दर्जे अच्छा हूँ।"

इसके विषय मे कई बार आपको बहुत कुछ बताया जा चुका है कि प्रत्याख्यान लेने से श्रावक को क्या लाभ होता है और प्रत्याख्यान न लेने से क्या हानि होती है। कल इण्डस्ट्री या कारखाने का दृष्टान्त देकर आपको सब समझा दिया गया था।

इसके पश्चात् आता है प्रत्याख्यान का तीसरा चौक। प्रत्याख्यान के चौक मे जीव व्रत-प्रत्याख्यानो के लिए सर्वस्व अर्पण करने के लिए तत्पर रहता है। प्रत्याख्यान से उसे इतना लगाव हो जाता है कि वह प्रत्याख्यान के सामने गुरु की आज्ञा को भी उल्लंघ देता है। जबकि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। गुरु की आज्ञा के सामने सब कुछ गौण है। प्रत्येक साधक को चाहिए कि—गुरु उसको जो आज्ञा देते हैं, वह उसको सर्वोपरि माने और शिरोधार्य करे। गुरु की आज्ञा से बढकर वह किसी चीज को नही माने। शास्त्रो मे गुरु की आज्ञा को महत्त्व देते हुए स्थान-स्थान पर लिखा है

"आणाए आराहए भवई"

देखेंगे और ऐसी धारणा बनायेंगे कि कर्मबन्धन हमारे शाश्वत सुखो मे बाधक हैं। यदि हम बन्धनो को अपने जीवन का सहायक मानते रहेंगे, जैसा कि जन-साधारण मान रहे है और अनादिकाल से मानते चले आ रहे है, फिर भला हम कर्मबन्धनो की शृखलाओ को काटने मे कैसे समर्थ हो सकेंगे ? अतएव सर्वप्रथम हमारा कतव्य है कि बन्धनो को बन्धन ही समझें, उनको अपने जीवन के सुख का साधन न समझें। इस प्रसग मे एक उदाहरण स्मरण हो आया है।

एक पालतू कुत्ता था। उसके स्वामी ने उसके गले में सोने का पट्टा बाँध रखा था। वह कुत्ता उस सोने के पट्टे से अपने को बडा गौरवान्वित अनुभव करता था। वह सोचता था, बाकी के कुत्ते तो सब चमडे के पट्टे वाले है, केवल वही सोने का पट्टा धारण करता है। वह सबको अपने से निम्नकोटि का समझता था। वह यह नही समझता था कि पट्टा सोने का होने पर भी आखिर था तो बन्धन ही। उसका स्वामी जब चाहे उसको पट्टे की कडी से शृखला जोडकर बाँध सकता था। ठीक इसी प्रकार कर्मो का पट्टा अज्ञानी जीव के गले मे बँधा हुआ है। अज्ञानवश या मिथ्यादृष्टि के कारण जीव को ससार के क्षणिक सुख सुवण के समान बडे ही कीमती प्रतीत हुआ करते हैं। वह उनके आन्तरिक और अन्तिम परिणाम को न समझता हुआ उनमे बडी प्रसन्नता से उलझा रहता है और उस उलझन में भी आनन्द का अनुभव करता है। इस सासारिक प्रक्रिया मे उसके कर्म बँधते जाते है और उसका भावी लोक, परलोक अन्धकारमय बनता जाता है। यही मिथ्यात्व का जाल है जिसमें बँधे हुए जीव अनन्तकाल तक जन्म-मरण के चक्कर मे पडकर अनेक प्रकार के दुःखो को और यातनाओ को भोगा करते है। इससे आपको भलीभाँति स्पष्ट हो गया होगा कि हम पर दूसरो के कर्मों का न तो बधन ही सभव है और न ही उसका भोग ही। जीव स्वय जान बूझकर अज्ञानवश कर्म बाँधता है और परिणामस्वरूप स्वय ही फल भोगने को बाध्य होता है। उसके स्थान पर कोई दूसरा जीव उसके कर्मो को नही भोगा करता और न ही भोग सकता है।

अब रही कर्मबन्धन के विस्तार की प्रक्रिया। कल चौक की बात चल रही थी। हमने पहले चौक अनन्तानुबन्धी की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। अनन्तानु-बँधी का अर्थ बताया था एक बन्धन के पीछे दूसरा, दूसरे के पीछे तीसरा— इस प्रकार बन्धन की अनत-परपरा है। गिनती के बाहर की चीज असख्य कह-लाती है। अनन्त का अर्थ है जिसका कोई अन्त ही नही है। अनन्तगुणा बन्धन का अभिप्राय यह समझना चाहिए कि एक बन्धन के पीछे अनन्त अनन्त बन्धन होते है। जीव अनादिकाल से अनन्तानन्त बन्धनो से बन्धा चला आ रहा है इसी कारण उसको वे बन्धन, बन्धन के रूप में प्रतीत ही नही हुआ करते। उसकी

आत्मा, उसका मन, उसकी प्रवृत्ति, सब बन्धनमय बन जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण पढने मे और सुनने मे आये है कि जिन महापराधियो को या हत्यारो को बीस वर्ष के कारागार का दण्ड दिया जाता है, वे कारागार के जीवन मे इतना रम जाते है, इतने एकाकार हो जाते है कि वहाँ बाहर के स्वतन्त्र जीवन से भी अधिक आनन्द मानने लगते है। दण्ड की अवधि समाप्त होने पर जब उनको कारागार से मुक्त किया जाता है तो उनको कारागार के बाहर का जीवन बिल्कुल पसन्द नही आता और वे फिर कोई अपराध करके पुन जेलखाने मे जाकर सुख की सास लिया करते है। ऐसा होता है बन्धन का चिपकाव और बन्धन से ममत्व।

जीव स्वतन्त्रता को बन्धन व बन्धन को स्वतन्त्रता समझने लगता है, यही अनन्तानुबन्ध है, इसी का दूसरा नाम मिथ्यात्व भी है। जब अनन्तानुबन्ध के मिटने के पश्चात् हेय और उपादेय दोनो प्रकार की वस्तुओ पर उसका श्रद्धान ठीक हो जाता है, इस अवस्था मे वह प्रत्याख्यान तो नही लिया करता क्योकि प्रत्याख्यान लेने मे उसकी रुचि नही होती। वह तो केवल मन की दृढता को ही महत्त्व देने लगता है। यहाँ तक कि वह प्रत्याख्यान की आलोचना तक करने लगता है। सन्तो के पास जाकर कहता है

"महाराज, आप क्या पचखाण-पचखाण लेने की बार-बार बातें करते हैं। क्या रखा है पचखाण मे ? आपके बहुत से ऐसे श्रावक है जो आपसे पचखाण तो ले लेते हैं किन्तु गुप-चुप सभी कुछ किया करते है। ऐसा पचखाण बताइये किस काम का ? क्या लाभ हुआ उससे लेने वाले को ? मेरे मन में दृढता है, मैं उन पचखाण लेने वाले भक्तो से लाख दर्जे अच्छा हूँ।"

इसके विषय मे कई बार आपको बहुत कुछ बताया जा चुका है कि प्रत्याख्यान लेने से श्रावक को क्या लाभ होता है और प्रत्याख्यान न लेने से क्या हानि होती है। कल इण्डस्ट्री या कारखाने का दृष्टान्त देकर आपको सब समझा दिया गया था।

इसके पश्चात् आता है प्रत्याख्यान का तीसरा चौक। प्रत्याख्यान के चौक मे जीव व्रत-प्रत्याख्यानो के लिए सर्वस्व अर्पण करने के लिए तत्पर रहता है। प्रत्याख्यान से उसे इतना लगाव हो जाता है कि वह प्रत्याख्यान के सामने गुरु की आज्ञा को भी उल्लाँघ देता है। जबकि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। गुरु की आज्ञा के सामने सब कुछ गौण है। प्रत्येक साधक को चाहिए कि— गुरु उसको जो आज्ञा देते हैं, वह उसको सर्वोपरि माने और शिरोधार्य करे। गुरु की आज्ञा से बढकर वह किसी चीज को नही माने। शास्त्रो मे गुरु की आज्ञा को महत्त्व देते हुए स्थान-स्थान पर लिखा है

"आणाए आराहए भवई"

आराधक का निर्माण ही गुरु की आज्ञा के पालन से होता है।

आचार-पद्धति के अनुसार प्रत्याख्यान गुरु से लिये जाते है। गुरु ही प्रत्याख्यान की विधि भी बताते है, प्रत्याख्यान का हेतु, लक्ष्य और उद्देश्य भी बताते हैं। प्रत्यारयान से सम्बन्ध रखने वाली सभी बाते साधक को गुरु ही बताते हैं। ऐसी स्थिति मे अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि महत्त्व प्रत्यारयान का रहा या गुरु की आज्ञा का? इसका उत्तर है कि महत्त्व प्रत्याख्यान का नही है किन्तु गुरु की आज्ञा का है।

इसका कारण है कि गुरु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सब देखकर ही प्रत्याख्यान की आज्ञा दिया करते है। उस आज्ञा का उत्तरदायित्व आज्ञा देने वाले गुरुओ पर होता है। गुरु ही उसके निग्रह-अनुग्रह के अधिकारी होते है। यही कारण है कि प्रत्यारयान से भी गुरु की आज्ञा को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रत्याख्यानी कषाय के चौक मे जीव गुरु की आज्ञा का महत्त्व नही पहचान पाता। वह तो केवल प्रत्यारयान के ही पीछे पड जाता है। इसीलिए आगम में यह स्पष्ट उल्लेख है कि प्रत्याख्यानी-कषाय-चतुष्क के रहते हुए जीव साधुपना ग्रहण नही कर सकता। साधुत्व कोई साधारण चीज़ नही है। इसमे एकात हठ को कोई स्थान नही है। उत्तराध्ययन सूत्र ने साधु की दैनिक चर्या पर प्रकाश डालते हुए लिखा है

**पढम पोरिसि सज्झाय,**
**बीय झाण झियायई।**
**तइयाए भिक्खायरिय**
**पुणो चउत्थीइ सज्झाय ॥**
**पढम पोरिसि सज्झाय,**
**वीय झाण झियायई।**
**तइयाए निद्दमोक्ख तु,**
**चउत्थी भुज्जो वि सज्झाय ॥**

साधु को दिन के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करना चाहिए और दूसरे प्रहर मे ध्यान। तीसरे प्रहर मे आहार और चौथे प्रहर मे पुन स्वाध्याय। यह तो उसकी दिनचर्या है। रात्रि के पहले प्रहर मे स्वाध्याय, दूसरे प्रहर मे ध्यान, तीसरे पहर मे निद्रा-त्याग और चौथे पहर मे पुन स्वाध्याय।

दिन और रात्रि के पहले और चौथे पहर मे स्वाध्याय, रात और दिन के दूसरे पहर मे ध्यान, दिन के तीसरे पहर मे आहार और रात के तीसरे पहर मे निद्रा त्याग—यह हुई साधु की आठ पहर की दिनचर्या। शास्त्र का वचन कितना सारगर्भित और निरवद्य है। तीसरे पहर मे निद्रा का विधान नही

किया किन्तु निद्रात्याग का उल्लेख कर दिया। निद्रा का त्याग तो वही करेगा जो निद्रा लेगा, इसलिए निद्रा का अध्याहार तो हो ही जाता है। 'निद्रा' प्रमाद होने के कारण से शास्त्रकार निद्रा का विधान कैसे कर सकते थे ? इस पर किसी कवि की उक्ति है .

**"एक पहर की गोचरी, सात पहर का राज।**
**भली विचारे साधु जी, तो सारे आतम काज॥"**

केवल एक पहर मे गोचरी का चक्कर है फिर तो साधु जी का अपना ही राज है। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, जो चाहे साधु कर सकता है, अवशिष्ट सात पहरो मे। गोचरी के अन्दर राज इसलिए नही है कि गोचरी के लिए घर घर जाना पडता है। यह क्षुधा-वेदनीय, असाता-वेदनीय की एक प्रकृति है। इसको शान्त करने के लिए स्वय के पास साधनो के अभाव मे गृहस्थो के घरो मे जाना ही पडता है।

यदि कोई अपना हित सोचे तो उसके पास आत्मकल्याण के लिए पर्याप्त समय होता है। ऐसा न सोचकर यदि कोई साधु यह सोचने लगे कि "कहा बन्धन मे आकर फँस गये, इससे तो ससार के आनन्द ही अच्छे थे।" तो इससे साधु अपनी आत्मा मे वैषम्य पैदा कर लेता है, जिसके परिणामस्वरूप उसको इतना दु ख अनुभव होता है जो सातवी नरक से भी अधिक है। इसलिए साधुपन मे बिना मन के क्रियापालन करना न केवल निरर्थक ही अपितु महान् दु खदायी भी है। यदि साधु मन, वचन और काय की सचाई से, हृदय की उमग से, अतर के उत्साह से, साधुवृत्ति का पालन करता है तो शास्त्र का कथन है

**"न हि सुही सेठ सेणावई,**
**न हि सुही देवता देवलोए"**

अर्थात्—

उस साधु के समान ससार मे कोई भी सेठ और सेनापति सुखी नही है और देवलोक मे देवताओ के सुख की भी उसके सुख के साथ तुलना नही की जा सकती।

देवलोक का भी आपको कुछ ज्ञान तो होना ही चाहिए। भवनपति से वाण-व्यतर, ज्योतिषी, फिर पहला देवलोक है। सब देवलोको के ऊपर नव ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान, और सबसे ऊँचे दर्जे के देवता होते हैं सर्वार्थसिद्ध मे। यह क्रम है देवलोक का। सर्वार्थसिद्ध के स्थान को तो एक 'छोटी मुक्ति' का नाम दिया गया है। वह छोटी मुक्ति है। वहाँ तेतीस सागर की स्थिति है। वहाँ किसी

भी प्रकार का झझट नही है। देवता वहा से सीधे मनुष्य-योनि मे जन्म लिया करते है। तपश्चर्या द्वारा अपने कर्मों का क्षय करके उसी भव मे मोक्ष मे चले जाते है। सर्वार्थसिद्ध के देवताओ को सबसे अधिक सुखी बताया है। किन्तु भगवती सूत्र के अनुसार जो साधु और साध्वी अपने मन की आन्तरिक रुचि से, प्रसन्नता से और लगन से बारह मास तक साधुवृत्ति का पालन करते है, वे सर्वार्थसिद्ध के निवासी देवताओ के सुख का भी अतिक्रमण कर जाते है। दूसरे शब्दो मे वे देवताओ से भी अधिक सुखी होते है। इसलिए हम पहले शास्त्र का वचन आपको सुना चुके है जिसका अर्थ है कि क्रिया के पालक सच्चे साधु सेठ, सेनापति और देवताओ से अधिक सुखी होते है। उन साधुओ के लिए शास्त्रकार कहते है .

"एगतसुही मुणी वीयरागी"

अर्थात्—

वीतरागी जो मुनि है वे एकान्त सुख मे रमण करने वाले होते हैं।

उक्त दैनिक चर्या का विधान होते हुए भी साधु के लिए शास्त्र का कथन है कि प्रात काल मुनि अपनी प्रतिलेखन-क्रिया से निवृत्त होकर गुरु के समक्ष निवेदन करे

"इच्छामि भते।"

"हे भगवन्! आप आज्ञा दे कि मैं क्या काम करूँ ?"

यद्यपि साधु के लिए शास्त्र-विहित स्वाध्याय आदि क्रियाएँ निश्चित होती हैं, तब भी वह गुरु से आज्ञा लिया करता है कि उनके अतिरिक्त यदि वे किसी और काम मे प्रवृत्त कराना चाहे तो वह सदा प्रस्तुत रहेगा। साधु गुरु की आज्ञा पाकर ही निर्दिष्ट काम मे प्रवृत्त होता है। इसी भाव को शास्त्र मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है

"इच्छ निओइउ भते! वेयावच्चे व सज्झाये।"

क्या आप मेरी नियुक्ति वैयावृत्य कार्य मे करने जा रहे है ? 'वैयावृत्य' शब्द जैन शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। वैयावृत्य का अर्थ है, "ऐसे साधु-साध्वी जो वृद्ध हैं, तपस्वी है, नवदीक्षित है, रुग्ण हैं अथवा अशक्त है—उनकी सेवा करना।" "यदि आप वैयावृत्य की आज्ञा देते है तो वैसा करूँ अन्यथा स्वाध्याय आदि जो मेरी दैनिक क्रिया है, उसे तो मैं करूँगा ही।" यदि साधु को कोई उपवास भी करना होगा या विशिष्ट प्रकार की कोई तपश्चर्या करनी होगी तो भी वह गुरु से उनके लिए आज्ञा की याचना करेगा। यदि

गुरु वैयावृत्य को अधिक आवश्यक समझ कर शिष्य को उपवास और तपश्चर्या करने का निषेध करेगा तो शिष्य को गुरु की आज्ञा का पालन करना होगा। गुरु उसको ऐसा इसलिए कहता है क्योकि वह जानता है कि साधु की तपश्चर्या तो उसके दैनिक क्रियाकलाप मे वैसे ही होती रहती है। क्या आपने बलभद्र मुनि की कथा नही सुनी ?

बलभद्रमुनि मास-मास खमण की तपश्चर्या किया करते थे। पारणे का जब दिन आता तो वे जगल मे ही अपने अभिग्रह के अनुकूल आहार यथासभव ले लेते, अन्यथा नही। यदि अभिग्रह के अनुकूल आहार न मिल पाता तो पुन मासखमण की तपश्चर्या आरभ हो जाती थी। नगर मे जाकर आहार लेने का तो उन्होने सर्वथा त्याग ही कर रखा था। इसका एक विशेष कारण था। एक बार बलभद्र मुनि पारणे के लिए आहार लेने को नगर की ओर जा रहे थे। नगर के बाहर स्त्रिया कुए से पानी भर रही थी। बलभद्र मुनि बडे ही रूपवान थे। कुए पर पानी भरती हुई एक नवयुवती उनके रूप को देखकर मुग्ध हो गई। घडे के गले मे या गागर के गले में रस्सी कुण्डलाकृति मे बाँधकर स्त्रियाँ कुए से पानी खीच रही थी। वह नवयुवती मुनि के रूप को देखकर अपनी सुधबुध भूल गई। उसका मन तो आँखो के माध्यम से साधु के रूप की ओर आकर्षित था। जल खीचने की रस्सी के कुण्डल को बच्चे के गले मे डाल दिया। बच्चा रोने लगा। मुनि ने जब यह देखा तो उन्होने उस स्त्री का ध्यान उसकी असावधानी की ओर दिलाया। इस घटना का उनके ऊपर बडा ही गभीर प्रभाव पडा। वे सोचने लगे, "धिक्कार है ऐसे रूप को, यह तो बडे अनर्थ का कारण है। आगे को मै कभी भी आहार लेने के लिए नगर मे नही जाऊँगा।"

बस, इसके पश्चात् वे कभी नगर की ओर पारणा का आहार लेने के लिए नही गये। जगल मे ही लकडी बटोरने वाले, लकडी काटने वाले या किसान यदि उनको पारणा के रूप मे कुछ दे देते तो वे ले लेते अन्यथा मासखमण की तपश्चर्या अगले मास के लिए चालू हो जाती। इस बात का पता जगल मे रहने वाले एक हरिण को चल गया कि, "ये ऐसे महाराज है जो बस्ती मे तो जाते ही नही, जगल मे ही कुछ मिल जाता है तो ले लेते है, अन्यथा उपवास ही चालू रहता है।" जब उनका महीने के पारणे का दिन आता तो वह हरिण जगल मे घूम-घूम कर इस बात का पता करता कि कौन जगल मे ऐसा व्यक्ति है और कहाँ है जो उनको शुद्ध आहारादिक बहरा सके। हरिण को पता कैसे चल जाता कि आज मुनिराज का पारणा है ? यह तो कुदरत का ही एक चमत्कार है। हमारे शरीर का भी कुछ तत्र ऐसा है कि हमारे पास समय को जानने के लिए कोई घडी वगैरह नही रहती है तो भी हमे पता

चल जाता है कि समय क्या होगा। यदि हमारा भोजन का समय निर्धारित होता है तो भूख के द्वारा भी हमें पता चल जाता है कि अब भोजन का समय हो गया है। यदि आहार उस निश्चित समय पर न किया तो शरीर में दुर्बलता आ जायेगी और भूख मर जायेगी। भूख के मर जाने पर भी भूख निरन्तर तीन दिन तक अपने निर्धारित समय पर अवश्य लगेगी।

इस प्रसग से सम्बद्ध एक उदाहरण है। दो चोर थे, उनको एक लकडी की पेटी में बन्द करके समुद्र में छोड दिया गया। डूबने का तो डर था ही नही। सूर्य की किरणो का प्रकाश बाहर से नही आ सकता था। एक प्रान्त भाग मे वायु का आने का स्थान रख दिया था जिससे वे दम घुट के न मर सकें। ऐसा होने पर भी उनको मालूम पड गया कि उनको समुद्र मे छोडे दूसरा, तीसरा या चौथा दिन है। एक को तो एकान्तर का बुखार आता था, और दूसरे को तीन दिन के बुखार का कष्ट था। इस प्रकार अपने ही शरीर के ताप से उनको अन्धकार मे और अन्य साधनो के अभाव में भी अपने बन्धन का ज्ञान हो गया। इस प्रकार कुदरत के खेल बडे निराले है।

वैसे ही हरिण को भी पता चल जाता कि महाराज के पारणे का अमुक दिन है। महाराज को भी पता चल गया था कि हरिण उनकी सहायता के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। पारणे का दिन आया। हरिण सारी खोज करके महाराज के पास उपस्थित हो गया। मुनिराज उठे। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे महाराज। जगल में काम करने वाले की स्त्री भोजन लेकर आ गई। वह भोजन की पोटली खोल कर खाने को तैयार ही हुआ था कि हरिण महाराज को लेकर पहुँच गया। महाराज ने भी देख लिया था कि आहार सर्वथा निरवद्य था। भोजन करने को जो व्यक्ति उद्यत था वह जाति से खाती था। उसने जब यह देखा कि हरिण मुनि को आहार के लिए लेकर आया है तो उसकी सद्भावना जागृत हो गई। वह अपने आहार से मुनि को बहराने लगा। महाराज अपनी मासखमण की तपश्चर्या पूर्ण होने के कारण आहार करने की इच्छा रखते थे। हरिण भी पास में ही खडा था। हरिण सोचने लगा, "यदि मैं मनुष्य-गति मे होता और इस प्रकार का योग मुझे मिल जाता तो मैं भी महाराज को बहराता।" उधर बहराने की भावना बढती है। खाती बहराने लगा तो मुनि बस-बस करते हुए कहते जाते थे, "अपने लिए भी तो रख लो।" मुनि का सन्तोष और बहराने वाले की श्रद्धा दोनो उत्कट थे। जिस मोटी शाखा को आधी ही काटकर खाती भोजन करने की इच्छा से वृक्ष के नीचे उतर आया था, वह शाखा वायु के झोके से टूटकर तीनो के ऊपर आ गिरी। परिणाम यह हुआ कि तीनो ही मृत्यु के ग्रास बने। वे तीनो मरकर पाँचवे देवलोक मे उत्पन्न हुए।

कहने का अभिप्राय यह है कि मुनि तो आहार ग्रहण करते समय भी तपस्वी होता है। तप के बारह भेद होते हे। सामान्य लोग मात्र आहार न करने को ही तपश्चर्या समझते हैं किन्तु मात्र आहार का त्याग तपश्चर्या नही होता। नि सन्देह यह भी तपश्चर्या का ही एक भेद है। निर्जरा तत्त्व के बारह भेद माने गये है। बारह प्रकार की क्रियाओ के पालन से ही कर्मो की निर्जरा होती है। या दूसरे शब्दो मे कर्मो का क्षय होता है। इसीलिए शास्त्रकार का कथन है कि मुनि के पास सात पहर का राज होता है जिसमे वह भली प्रकार तपश्चर्या, चिन्तन मनन आदि द्वारा अपना आत्म-कल्याण कर सकता है। हम आपको यही बता रहे थे कि कषायो के चौक मे यह प्रत्याख्यान का भी एक चौक है। यदि साधक केवल प्रत्याख्यान के अन्दर ही खो जाता है और गुरु-आज्ञा की उपेक्षा कर देता है तो वह उद्दिष्ट मजिल की ओर नही बढ सकता। इसलिए प्रत्याख्यान को ही सब कुछ नही समझना चाहिए। सर्वोपरि वस्तु तो गुरु की आज्ञा है। गुरु की आज्ञा से ही साधक आराधक बनता है जिसका निर्देश हम पहले कर आये है। यदि वह गुरु की आज्ञा का पालन नही करता केवल प्रत्याख्यान मे ही उलझकर रह जाता है तो वह आराधक के स्थान पर विराधक बन जाता है। किस समय कैसा-कैसा वातावरण उत्पन्न होने से प्रत्याख्यान भी गौण रूप धारण कर लेता है और कैसे वातावरण मे प्रत्याख्यान एकदम सुव्रत के रूप में हमारे सामने आता है, कैसे-कैसे उसमे समय-समय पर परिवर्तन भी आया करते हैं, इस पर प्रकाश किसी अन्य अवसर पड डाला जायेगा।

जन-भवन, डेह (नागौर) २८ जुलाई, १९७९

चल जाता है कि समय क्या होगा। यदि हमारा भोजन का समय निर्धारित होता है तो भूख के द्वारा भी हमे पता चल जाता है कि अब भोजन का समय हो गया है। यदि आहार उस निश्चित समय पर न किया तो शरीर मे दुबलता आ जायेगी और भूख मर जायेगी। भूख के मर जाने पर भी भूख निरन्तर तीन दिन तक अपने निर्धारित समय पर अवश्य लगेगी।

इस प्रसग से सम्बद्ध एक उदाहरण है। दो चोर थे, उनको एक लकडी की पेटी मे बन्द करके समुद्र मे छोड दिया गया। डूबने का तो डर था ही नही। सूर्य की किरणो का प्रकाश बाहर से नही आ सकता था। एक प्रान्त भाग मे वायु का आने का स्थान रख दिया था जिससे वे दम घुट के न मर सकें। ऐसा होने पर भी उनको मालूम पड गया कि उनको समुद्र मे छोडे दूसरा, तीसरा या चौथा दिन है। एक को तो एकान्तर का बुखार आता था, और दूसरे को तीन दिन के बुखार का कष्ट था। इस प्रकार अपने ही शरीर के ताप से उनको अन्धकार मे और अन्य साधनो के अभाव मे भी अपने बन्धन का ज्ञान हो गया। इस प्रकार कुदरत के खेल बडे निराले है।

वैसे ही हरिण को भी पता चल जाता कि महाराज के पारणे का अमुक दिन है। महाराज को भी पता चल गया था कि हरिण उनकी सहायता के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। पारणे का दिन आया। हरिण सारी खोज करके महाराज के पास उपस्थित हो गया। मुनिराज उठे। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे महाराज। जगल मे काम करने वाले की स्त्री भोजन लेकर आ गई। वह भोजन की पोटली खोल कर खाने को तैयार ही हुआ था कि हरिण महाराज को लेकर पहुँच गया। महाराज ने भी देख लिया था कि आहार सवथा निरवद्य था। भोजन करने को जो व्यक्ति उद्यत था वह जाति से खाती था। उसने जब यह देखा कि हरिण मुनि को आहार के लिए लेकर आया है तो उसकी सद्‌भावना जागृत हो गई। वह अपने आहार से मुनि को बहराने लगा। महाराज अपनी मासखमण की तपश्चर्या पूर्ण होने के कारण आहार करने की इच्छा रखते थे। हरिण भी पास मे ही खडा था। हरिण सोचने लगा, "यदि मैं मनुष्य-गति मे होता और इस प्रकार का योग मुझे मिल जाता तो मैं भी महाराज को बहराता।" उधर बहराने की भावना बढती है। खाती बहराने लगा तो मुनि बस-बस करते हुए कहते जाते थे, "अपने लिए भी तो रख लो।" मुनि का सन्तोष और बहराने वाले की श्रद्धा दोनो उत्कट थे। जिस मोटी शाखा को आधी ही काटकर खाती भोजन करने की इच्छा से वृक्ष के नीचे उतर आया था, वह शाखा वायु के झोके से टूटकर तीनो के ऊपर आ गिरी। परिणाम यह हुआ कि तीनो [illegible]। वे तीनो मरकर पाँचवे में उत्पन्न

कहने का अभिप्राय यह है कि मुनि तो आहार ग्रहण करते समय भी तपस्वी होता है। तप के बारह भेद होते है। सामान्य लोग मात्र आहार न करने को ही तपश्चर्या समझते है किन्तु मात्र आहार का त्याग तपश्चर्या नही होता। नि सन्देह यह भी तपश्चर्या का ही एक भेद है। निर्जरा तत्त्व के बारह भेद माने गये है। बारह प्रकार की क्रियाओ के पालन से ही कर्मो की निजरा होती है। या दूसरे शब्दो मे कर्मो का क्षय होता है। इसीलिए शास्त्रकार का कथन है कि मुनि के पास सात पहर का राज होता है जिसमे वह भली प्रकार तपश्चर्या, चिन्तन मनन आदि द्वारा अपना आत्म-कल्याण कर सकता है। हम आपको यही बता रहे थे कि कषायो के चौक मे यह प्रत्याख्यान का भी एक चौक है। यदि साधक केवल प्रत्याख्यान के अन्दर ही खो जाता है और गुरु-आज्ञा की उपेक्षा कर देता है तो वह उद्दिष्ट मजिल की ओर नही बढ सकता। इसलिए प्रत्याख्यान को ही सब कुछ नही समझना चाहिए। सर्वोपरि वस्तु तो गुरु की आज्ञा है। गुरु की आज्ञा से ही साधक आराधक बनता है जिसका निर्देश हम पहले कर आये है। यदि वह गुरु की आज्ञा का पालन नही करता केवल प्रत्याख्यान मे ही उलझकर रह जाता है तो वह आराधक के स्थान पर विराधक बन जाता है। किस समय कैसा-कैसा वातावरण उत्पन्न होने से प्रत्याख्यान भी गौण रूप धारण कर लेता है और कैसे वातावरण में प्रत्याख्यान एकदम सुव्रत के रूप मे हमारे सामने आता है, कैसे-कैसे उसमें समय-समय पर परिवतन भी आया करते हैं, इस पर प्रकाश किसी अन्य अवसर पड डाला जायेगा।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २८ जुलाई, १९७९

चल जाता है कि समय क्या होगा। यदि हमारा भोजन का समय निर्धारित होता है तो भूख के द्वारा भी हमे पता चल जाता है कि अब भोजन का समय हो गया है। यदि आहार उस निश्चित समय पर न किया तो शरीर मे दुर्बलता आ जायेगी और भूख मर जायेगी। भूख के मर जाने पर भी भूख निरन्तर तीन दिन तक अपने निर्धारित समय पर अवश्य लगेगी।

इस प्रसग से सम्बद्ध एक उदाहरण है। दो चोर थे, उनको एक लकडी की पेटी मे बन्द करके समुद्र मे छोड दिया गया। डूबने का तो डर था ही नही। सूर्य की किरणो का प्रकाश बाहर से नही आ सकता था। एक प्रान्त भाग मे वायु का आने का स्थान रख दिया था जिससे वे दम घुट के न मर सकें। ऐसा होने पर भी उनको मालूम पड गया कि उनको समुद्र मे छोडे दूसरा, तीसरा या चौथा दिन है। एक को तो एकान्तर का बुखार आता था, और दूसरे को तीन दिन के बुखार का कष्ट था। इस प्रकार अपने ही शरीर के ताप से उनको अन्धकार मे और अन्य साधनो के अभाव मे भी अपने बन्धन का ज्ञान हो गया। इस प्रकार कुदरत के खेल बडे निराले है।

वैसे ही हरिण को भी पता चल जाता कि महाराज के पारणे का अमुक दिन है। महाराज को भी पता चल गया था कि हरिण उनकी सहायता के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। पारणे का दिन आया। हरिण सारी खोज करके महाराज के पास उपस्थित हो गया। मुनिराज उठे। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे महाराज। जगल मे काम करने वाले की स्त्री भोजन लेकर आ गई। वह भोजन की पोटली खोल कर खाने को तैयार ही हुआ था कि हरिण महाराज को लेकर पहुँच गया। महाराज ने भी देख लिया था कि आहार सवथा निरवद्य था। भोजन करने को जो व्यक्ति उद्यत था वह जाति से खाती था। उसने जब यह देखा कि हरिण मुनि को आहार के लिए लेकर आया है तो उसकी सद्भावना जागृत हो गई। वह अपने आहार से मुनि को बहराने लगा। महाराज अपनी मासखमण की तपश्चर्या पूर्ण होने के कारण आहार करने की इच्छा रखते थे। हरिण भी पास मे ही खडा था। हरिण सोचने लगा, "यदि मैं मनुष्य-गति मे होता और इस प्रकार का योग मुझे मिल जाता तो मैं भी महाराज को बहराता।" उधर बहराने की भावना बढती है। खाती बहराने लगा तो मुनि बस-बस करते हुए कहते जाते थे "अपने लिए भी तो रख लो।"

कहने का अभिप्राय यह है कि मुनि तो आहार ग्रहण करते समय भी तपस्वी होता है। तप के बारह भेद होते है। सामान्य लोग मात्र आहार न करने को ही तपश्चर्या समझते है किन्तु मात्र आहार का त्याग तपश्चर्या नही होता। नि सन्देह यह भी तपश्चर्या का ही एक भेद है। निर्जरा तत्त्व के बारह भेद माने गये है। बारह प्रकार की क्रियाओ के पालन से ही कर्मो की निर्जरा होती है। या दूसरे शब्दो मे कर्मो का क्षय होता है। इसीलिए शास्त्रकार का कथन है कि मुनि के पास सात पहर का राज होता है जिसमे वह भली प्रकार तपश्चर्या, चिन्तन मनन आदि द्वारा अपना आत्म-कल्याण कर सकता है। हम आपको यही बता रहे थे कि कषायो के चौक मे यह प्रत्यारयान का भी एक चौक है। यदि साधक केवल प्रत्याख्यान के अन्दर ही खो जाता है और गुरु-आज्ञा की उपेक्षा कर देता है तो वह उद्दिष्ट मजिल की ओर नहीं बढ सकता। इसलिए प्रत्याख्यान को ही सब कुछ नहीं समझना चाहिए। सर्वोपरि वस्तु तो गुरु की आज्ञा है। गुरु की आज्ञा से ही साधक आराधक बनता है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हे। यदि वह गुरु की आज्ञा का पालन नही करता केवल प्रत्यारयान में ही उलझकर रह जाता है तो वह आराधक के स्थान पर विराधक बन जाता है। किस समय कैसा-कैसा वातावरण उत्पन्न होने से प्रत्याख्यान भी गौण रूप धारण कर लेता है और कैसे वातावरण मे प्रत्याख्यान एकदम सुव्रत के रूप मे हमारे सामने आता है, कैसे-कैसे उसमे समय-समय पर परिवर्तन भी आया करते हैं, इस पर प्रकाश किसी अन्य अवसर पड डाला जायेगा।

जन-भवन, डेह (नागौर) २८ जुलाई, १९७९

# दूध में पानी जूती मे तेल, इनका कैसा होता मेल ?

शाश्वत सुखो का मूल धर्म है। धर्म की आराधना दो प्रकार से की जाती है—एक तो साधु धर्म के द्वारा और दूसरी श्रावक धर्म के द्वारा। साधु का धर्म तो सर्वविरति रूप है और श्रावक का धर्म देशविरति रूप है। सर्व का अर्थ पूरा होता है और देश का अर्थ थोडा होता है। सभी प्रकार से विरति हो जाना या विरमण करना—सर्वविरति है। विरमण शब्द का निर्माण वि उपसर्ग और रमण से हुआ है। रमण और विरमण—ये दो ध्वनियाँ उससे निकलती हैं। रमण का अर्थ तो स्पष्ट 'रमना' है। जैसे समान प्रकृति और समान विचारो के दो लडके आपस मे इतने घुल-मिल जाया करते है कि दोनो के क्रियाकलाप में कोई अन्तर नही रह जाता। उनका खाना-पीना, बैठना उठना सब एक साथ हुआ करता है। इसी को साहित्यिक भाषा मे रमना कहते है। दो व्यक्तियो मे गाढी मित्रता देखकर लोग कहने लगते है कि ये तो ऐसे घुल-मिल गये है जैसे दूध मे पानी। लोग उनको ऐसी उपमा तभी देते है यदि वे दोनो व्यक्ति सज्जन हो और दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध पवित्र हो। यदि दोनो व्यक्ति अच्छे नही, प्रकृति की विपरीतता होने पर भी आपस मे घुल-मिल कर रहते है तो उन्हे लोग अच्छी उपमा नही देते। उन्हे तो कहा जाता है कि "इनका ऐसा मेल जैसा जूतो मे तेल"। उचित रमण और अनुचित रमण दोनो प्रकार के रमणो की झाँकी मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है। हमारा आत्मा पाप मे रमण कर रहा है और पाप के साथ एकमेक हो गया है। इस प्रकार का रमना हमारे आत्मा के लिए अच्छा नही कहा जा सकता। थोडे समय से नही, अनादिकाल से हमारा आत्मा पापो मे रमता आ रहा है। मारवाडी की एक कहावत मे ऐसा ही भाव ध्वनित होता है

"पाप बान्धता सोहिलो और भोगवता दोहिलो।<br>
पुण्य बान्धता दोहिलो भोगवतां सोहिलो॥"

अर्थात्—पाप करना बडा सरल है किन्तु पुण्य करना बडा कठिन है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहा है

**पुण्यस्य फलमिच्छन्ति,**
**पुण्य कुर्वन्ति नो जना ।**
**फल पापस्य नेच्छन्ति,**
**पाप कुर्वन्ति यत्नत ॥**

अर्थात्—

लोग पुण्य के फल की तो इच्छा रखते है किन्तु पुण्यकर्म का अर्जन नही करते। पाप के फल को भोगना तो चाहते नही किन्तु पापकर्म का अर्जन बडे यत्न से किया करते है।

हम अनादिकाल से पाप करते आये है और पाप करना हमे प्रिय भी लगता है। पाप मे जीव प्रसन्न रहता है, इस पर किसी ने कहा है

**पाप मे जीव बहुत राजी,**
**खेल रह्यो कुमति सग बाजी ॥**

जीव कुमति के साथ खेला करता है और पाप मे रमण करता है। इस प्रसग मे कुछ पापो के नाम आपको बताना आवश्यक है

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—ये पाँच प्रकार के पाप हैं। इसके अतिरिक्त पाप तो और भी है। कुल अठारह पाप है। किन्तु इन पांच मुख्य पापो के सर्वथा विरमण से महाव्रतो को एव अशत विरमण से अणुव्रतो को ग्रहण किया जाता है।

इन पाँच प्रकार के पापो के साथ यदि हम रमण करना छोड दें तभी हम उनसे मुक्त हो सकते है। पापो के साथ हमारा एकमेकपना और घुल-मिलकर रहने का व्यवहार जब मिटता है तभी पाप-रमण का त्याग या विरमण सम्भव है। पापो के साथ रमण बुरा है एव पापो से विरमण अच्छा है। शास्त्रकार व्रतो की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहते है

"पाणाइवायाओ विरमण, मोसावायाओ विरमण, अदिण्णादाणाओ विरमण, मेहुणाओ विरमण, परिग्गहाओ विरमण।"

प्राणातिपात—जीवहिंसा, मृषावाद—झूठ, अदत्तादान—चोरी, मैथुन—स्त्रीसम्भोग, परिग्रह—सग्रह की भावना, इन पाँच प्रकार के पापो से जीव को अलग रहना चाहिए अर्थात् इनका आत्मकल्याण निमित्त त्याग कर देना चाहिए।

उमास्वाति ने भी अपने तत्त्वार्थ-सूत्र मे इसी सत्य की पुष्टि करते हुए

# २१

# दूध में पानी जूती मे तेल, इनका कैसा होता मेल ?

शाश्वत सुखो का मूल धर्म हे। धर्म की आराधना दो प्रकार से की जाती है—एक तो साधु धर्म के द्वारा और दूसरी श्रावक धर्म के द्वारा। साधु का धर्म तो सर्वविरति रूप है और श्रावक का धर्म देशविरति रूप है। सर्व का अर्थ पूरा होता है और देश का अर्थ थोडा होता है। सभी प्रकार से विरति हो जाना या विरमण करना—सर्वविरति है। विरमण शब्द का निर्माण वि उपसर्ग और रमण से हुआ है। रमण और विरमण—ये दो ध्वनियाँ उससे निकलती है। रमण का अर्थ तो स्पष्ट 'रमना' है। जैसे समान प्रकृति और समान विचारो के दो लडके आपस मे इतने घुल-मिल जाया करते है कि दोनो के क्रियाकलाप मे कोई अन्तर नही रह जाता। उनका खाना पीना, बैठना उठना सब एक साथ हुआ करता है। इसी को साहित्यिक भाषा मे रमना कहते है। दो व्यक्तियो मे गाढी मित्रता देखकर लोग कहने लगते है कि ये तो ऐसे घुल-मिल गये है जैसे दूध में पानी। लोग उनको ऐसी उपमा तभी देते है यदि वे दोनो व्यक्ति सज्जन हो और दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध पवित्र हो। यदि दोनो व्यक्ति अच्छे नही, प्रकृति की विपरीतता होने पर भी आपस मे घुल-मिल कर रहते हे तो उन्हे लोग अच्छी उपमा नही देते। उन्हे तो कहा जाता है कि "इनका ऐसा मेल जैसा जूतो मे तेल"। उचित रमण और अनुचित रमण दोनो प्रकार के रमणो की झाँकी मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है। हमारा आत्मा पाप मे रमण कर रहा है और पाप के साथ एकमेक हो गया है। इस प्रकार का रमना हमारे आत्मा के लिए अच्छा नही कहा जा सकता। थोडे समय से नहीं, अनादिकाल से हमारा आत्मा पापो में रमता आ रहा है। मारवाडी की एक कहावत मे ऐसा ही भाव ध्वनित होता है

"पाप वान्धता सोहिलो और भोगवता दोहिलो।<br>
पुण्य वान्धता दोहिलो भोगवतां सोहिलो॥"

अर्थात्—पाप करना बडा सरल है किन्तु पुण्य करना बडा कठिन है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहा है

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति,
पुण्य कुर्वन्ति नो जना ।
फल पापस्य नेच्छन्ति,
पाप कुर्वन्ति यत्नत ।।

अर्थात्—
लोग पुण्य के फल की तो इच्छा रखते है किन्तु पुण्यकर्म का अर्जन नही करते। पाप के फल को भोगना तो चाहते नही किन्तु पापकर्म का अर्जन बडे यत्न से किया करते है।

हम अनादिकाल से पाप करते आये है और पाप करना हमे प्रिय भी लगता है। पाप मे जीव प्रसन्न रहता है, इस पर किसी ने कहा है

पाप मे जीव बहुत राजी,
खेल रह्यो कुमति सग बाजी ।।

जीव कुमति के साथ खेला करता है और पाप मे रमण करता है। इस प्रसग मे कुछ पापो के नाम आपको बताना आवश्यक है

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—ये पाँच प्रकार के पाप हैं। इसके अतिरिक्त पाप तो और भी हैं। कुल अठारह पाप है। किन्तु इन पाँच मुख्य पापो के सर्वथा विरमण मे महाव्रतो को एव अशत विरमण से अणुव्रतो को ग्रहण किया जाता है।

इन पाँच प्रकार के पापो के साथ यदि हम रमण करना छोड दें तभी हम उनसे मुक्त हो सकते है। पापो के साथ हमारा एकमेकपना और घुल-मिलकर रहने का व्यवहार जब मिटता है तभी पाप-रमण का त्याग या विरमण सम्भव है। पापो के साथ रमण बुरा है एव पापो से विरमण अच्छा है। शास्त्रकार व्रतो की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहते है

"पाणाइवायाओ विरमण, मोसावायाओ विरमण, अदिण्णादाणाओ विरमण, मेहुणाओ विरमण, परिग्गहाओ विरमण।"

प्राणातिपात—जीवहिंसा, मृषावाद—झूठ, अदत्तादान—चोरी, मैथुन—स्त्रीसम्भोग, परिग्रह—सग्रह की भावना, इन पाँच प्रकार के पापो से जीव को अलग रहना चाहिए अर्थात् इनका आत्मकल्याण निमित्त त्याग कर देना चाहिए।

उमास्वाति ने भी अपने तत्त्वार्थ-सूत्र मे इसी सत्य की पुष्टि करते हुए

लिखा है

"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"

हिंसा, झूठ, चोरी, दु शील और परिग्रह—इनसे विरत होना भी व्रत कहलाता है। जैसे जूतो मे तेल घुल-मिलकर रहता है, वैसे ही हम पापो के साथ घुल-मिलकर रह रहे थे जबकि यह हमारी एक बहुत बडी भूल थी या भ्रान्ति थी।

दूध और पानी के साथ हमारी तुलना निर्दोष नही है क्योकि दूध और पानी तो दोनो अमृत है। पानी का महत्त्व तो दूध से भी अधिक है क्योकि हम दूध के बिना जीवित रह सकते है किन्तु पानी के बिना नही। इसके अतिरिक्त पानी तो दूध के भी प्राण है, बिना पानी की सत्ता के दुग्ध का दुग्धत्व सम्भव नही। दूध और पानी की तुलना मे आत्मा को हम दूध मानेंगे तो पानी को पापरूप मे स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि पानी तो उत्तम वस्तु है, अमृत है और सृष्टि के प्राणियो का जीवन है। अतएव दूध और पानी की उपमा आत्मा व कर्मो के लिए घटती नही।

चमडे और तेल की उपमा नि सन्देह युक्तियुक्त प्रतीत होती है। चमडे और तेल का मेल विजातीय मेल है। तेल के समान आत्मा नाम की पवित्र वस्तु का चमडे के समान पाप मे मिलाना अनुचित रमण होता है। इस रमण के त्याग का नाम ही विरमण है। यह विरमण भी दो प्रकार से होता है। एक तो सर्वथा विरमण होता है जो साधुओ के आचरण मे पाया जाता है

"सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमण"
सव्वाओ मुसावायाओ विरमण,
सव्वाओ मेहुणाओ विरमण,
सव्वाओ परिग्गहाओ विरमण"

श्रावको का विरमण सवथा नही होता, आशिक होता है। स्थूल रूप मे होता है

"थूलाओ पाणाइवायाओ विरमण"

अर्थात्—केवल त्रस जीव की जान-बूझकर हत्या नही करना। त्रस के अतिरिक्त जो स्थावर जीव हैं उनकी कोई चर्चा नही। अनजान मे त्रस जीवो की भी हिंसा हो जाये तो व्रत मे बाधा नही। सक्षेप मे श्रावक के लिए 'थूलाओ' और मुनि के लिए 'सव्वाओ' का विधान है। एक देशविरति धर्म है और दूसरा सर्वविरति धर्म है।

सर्वविरति धर्म को धारण करने वाले अर्थात् साधु-धर्म की आराधना करने वाले व्यक्ति तीन प्रकार के होते है एक तो भगवान् ऋषभदेव के युग के, दूसरे मध्यवर्ती भगवान् अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ भगवान् के समय तक के और तीसरे भगवान् महावीर के शासन काल के। इन तीन प्रकार के धर्म करने वाले श्रावको की धार्मिक क्रियाओ की कोई व्याख्या नही की गयी। इसका प्रधान कारण यही है कि धार्मिक दृष्टि से श्रावक का स्थान गौण है, प्रमुख स्थान तो धम की आराधना करने वाले साधु का है। इसलिए साधुओ की अपेक्षा को ही ध्यान मे रखकर भिन्न-भिन्न प्रकृतियो का विवरण दिया गया है। भगवान् ऋषभदेव के समय के लोग सरल प्रकृति के किन्तु जड बुद्धि वाले थे। भगवान् अजितनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक के लोग सरल एव अत्यन्त बुद्धिमान थे। भगवान् महावीर के युग के लोग वक्रप्रकृति के एव जडबुद्धि के है। सरलता और समझदारी दोनो की उनमे न्यूनता है। वे स्पष्ट रूप से न तो किसी बात को कहते ही ह और न ही गुरुओ द्वारा दी गयी शिक्षा को ही समीचीन रूप से ग्रहण करते है। गहराई मे न जाकर किसी एक बात की ही पूँछ पकडकर बैठ जाते है। दृष्टान्त के द्वारा इस सत्य का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

साधु बाहर चले गये और देर से लौटकर आये। गुरु ने पूछा, "आज बहुत विलम्ब से लौटे हो, क्या कारण बन गया था ?"

उत्तर मिला, 'भगवन्! हमे विलम्ब इसलिए हो गया कि मार्ग मे एक नाटक का अभिनय हो रहा था उसे देखने लग गये थे।"

"नाटक देखना साधुओ के लिए वर्जित है। नटो द्वारा अभिनीत नाटक आगे को कभी मत देखना।" गुरु ने अनुशासन की वाणी मे कहा।

"जो आज्ञा, आगे को ऐसी भूल नही करेंगे।" शिष्यो ने नम्रवाणी मे गुरु की आज्ञा को स्वीकार किया।

अगले दिन वही साधु पुन देर से आये। गुरु ने पूछा, "आज भी देर कर के आये हो, देर का क्या कारण है ?"

"बापजी, आज तो नटनियाँ नाटक कर रही थी उनको देखने लग गये, आपने तो नटो का नाटक देखने के लिए मना किया था।" शिष्यो ने बडी सरल वाणी मे उत्तर दिया।

"मैंने तुमसे कहा था नाटक देखना साधुओ के लिए वर्जित है। जब नटो द्वारा अभिनीत नाटक देखना वर्जित है तो नटनियो का नाटक समर्थित कैसे हो सकता है ?" गुरु ने साधु की आचारपद्धति पर जोर देते हुए कहा।

"भूल हो गयी, भविष्य मे ऐसा नही करेंगे।" शिष्यो ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा।

ऐसे थे भगवान् ऋषभदेव के जमाने मे साधु, सरल एव जड । जो बात जितनी कही जाती, बस उतनी ही समझ पाते थे । थोडे-से इशारे मे बहुत कुछ समझ सकने की सामर्थ्य उनमे नही थी ।

भगवान् अजितनाथ से पार्श्वनाथ के समय तक के साधु-साध्वियो से जब ऐसे प्रश्न पूछे जाते तो वे क्या उत्तर देते—उसका विवरण इस प्रकार है गुरु से यह पूछे जाने पर कि विलम्ब क्यो हुआ, साधुओ ने मार्ग मे नटो द्वारा होनेवाले नाटक का नाम लिया और देर का कारण स्पष्ट बता दिया । गुरु के यह कहने पर कि साधुओ के लिए नाटक का देखना वर्जित है, साधुओ ने किसी अन्य अवसर पर नटनियो द्वारा अभिनीत नाटक को इसलिए नही देखा क्योकि नाटक न देखने के गुरु के उपदेश मे सभी प्रकार के नाटको का समावेश उन्होने समझ लिया था। स्पष्ट है कि वे सरल एव बुद्धिमान थे ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भगवान् महावीर के शासनकाल के लोग वक्र भी है एव जड भी ।

गुरु के द्वारा यह पूछे जान पर कि "आज आप देर से क्यो आये ?"

उत्तर मिला, "क्या गाँव के बाहर ही बैठ जाते, वापस तो आना ही था । दूर गये थे, दूर जाने से आने मे देरी तो लगेगी ही ।" साधुओ की वाणी मे वक्रता थी ।

गुरु ने फिर पूछा, "अरे भाई बाहर तो प्रतिदिन ही जाते हो, आज क्या विशेष बात हो गयी जो इतनी देर से आये हो ?"

"आप हमारी प्रतीक्षा कर रहे होगे, प्रतीक्षा करने वालो को थोडा समय भी अधिक दिखाई दिया करता है। देर लगी, देर लगी, क्या देर लगी, नाटक हो रहा था, उसे देखने लग गये थे ।" शिष्यो ने बडी कर्कश और विनयहीन भाषा मे उत्तर दिया ।

"इस प्रकार स्पष्ट और सत्य वाणी क्यो नही बोलते ? इतनी देर तक उल्टे सीधे उत्तर देने से तुम्हे क्या लाभ हुआ ?" गुरु ने उन्हे समझाते हुए कहा और आदेशात्मक ढग से उन्होने नटो का नाटक देखने को साधु के लिए वर्जित बताया ।

शिष्यो ने आदेश को अहसानपूर्वक स्वीकारते हुए कहा, "ठीक है बाबा ! हमारी तो मन बहलाने की इच्छा रहती है, किन्तु कोई बात नही, आप यदि नही चाहते है तो आगे से नही देखेगे ।"

दुबारा फिर एक दिन देर से आया शिष्य । गुरु जी ने फिर पूछा, "भई ! इतनी देर कैसे लगी ?"

"आपने तो उस दिन नटो का नाटक देखने को मना किया था, नटनियो का नही । यदि आप नटनियो का नाटक देखने को भी मना कर देते तो हम काहे

को देखते ? आप एक बार ही सारी आचार-सहिता की शिक्षा क्यो नही दे देते ? ऐसा प्रतीत होता है कि आपको हमे बार-बार डाटने मे और दण्ड देने मे आनन्द आता है।" शिष्यो ने वडी घृष्टता से अपनी मन्दवुद्धि और वक्रता का परिचय देते हुए कहा।

भगवान् महावीर के शासनकाल के अनुयायियो मे सरलता और नम्रता बहुत कम मात्रा मे पाई जाती है। इस प्रकार धर्माराधन करने वालो की तीन प्रकृतियाँ है (१) ऋजु और जड, (२) ऋजु और प्राज्ञ, (३) वक्र और जड।

दो तत्त्व है ऋजुता और प्राज्ञता। ऋजुता और प्राज्ञता के लाभ का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते है कि जो व्यक्ति प्राज्ञ है उसको धर्म का स्वरूप और वस्तु का स्वरूप भलीभाँति समझ मे आ जाया करता है—बस यही प्राज्ञ होने का लाभ है। समझे हुए धर्म को भली प्रकार पालन करने की सामर्थ्य आ जाना यह सरलता और ऋजुता का लाभ है। धर्म का पालन सरल व्यक्ति किया करते हे और तत्त्वो का ज्ञान प्राज्ञ व्यक्ति को होता है। जो विचक्षण नही है, प्राज्ञ नही है, वह धर्म का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ नही हो सकता। जिसमे सरलता और ऋजुता का अभाव है, वह धर्म का पालन नही कर सकता। जैन धर्म मे सरलता नितान्त अपेक्षित है। सरलता के गुण से हीन व्यक्ति गुरु के साथ ही क्या वह तो भगवान् के साथ भी धोखा करने मे सकोच नही करेगा।

सरलता और प्राज्ञता का इतना विश्लेषण करने का हमारा यही उद्देश्य है कि जिस प्रकृति के व्यक्ति होते है उनके सामने धर्म का स्वरूप उसी ढग का बताया जाता है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के समय के साधुओ को धर्म का स्वरूप पाच महाव्रतो के रूप मे बताया गया। बीच के बाईस तीर्थंकरो के साधको के लिए चार महाव्रतो का ही विधान किया गया। इसको उन युगो मे चातुर्याम धर्म के नाम से पुकारा जाता था। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के समय मे पाच महाव्रत और मध्यकाल मे चार का ही विधान क्यो ? इसका उत्तर यह है, महाव्रत तो मध्यकाल मे भी पाँच ही थे, ब्रह्मचर्य नाम के चौथे महाव्रत का अलग उल्लेख न करके उसका समावेश अपरिग्रह—पाँचवे महाव्रत मे कर लिया गया था। स्त्री का और परिग्रह का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही है। जहाँ स्त्री होगी वहाँ परिग्रह होगा ही और जहाँ परिग्रह का नाम लिया जायेगा वहाँ स्त्री के परिग्रह का बोध स्वय हो ही जाता है। इसीलिए बाईस तीर्थंकरो के समय मे ब्रह्मचय नाम के महाव्रत का पृथक् विधान न करके उसे परिग्रह के अन्तर्गत समझ लिया गया था। परिग्रह-त्याग मे स्त्री का त्याग स्वय अवगत हो जाता था। यदि स्त्री और परिग्रह का

अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी मान लें तो कोई अत्युक्ति नही होगी। क्योकि सामान्य रूप से जहाँ स्त्री होगी वहाँ परिग्रह रहेगा ही और जहाँ परिग्रह होगा वहाँ स्त्री की उपस्थिति भी प्राय होगी ही। भगवान् महावीर के युग मे जो पुन ब्रह्मचर्य महाव्रत को पृथक् करके महाव्रतो की सख्या पाँच बना दी गई सो तो अच्छा ही हुआ। यदि ऐसा न करते तो शिथिलाचारी लोगो को व्यभिचार के समर्थन का एक बहाना भी मिल सकता था। पाँच के विधान की और पालन की तो बात ही क्या है छठे का भी विधान करना पडा। साधुओ के लिए छठा व्रत रात्रि-भोजन-विरमण है और श्रावको के लिए छठा दिशा-विरमण व्रत है। वैसे तो रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत का समावेश प्रथम महाव्रत 'अहिंसा' मे भी हो सकता था क्योकि रात्रि भोजन करने से जीवो की विराधना होती है—हिंसा होती है, परन्तु यह तो पाँचवाँ आरा है, लोग वक्र और जड मतिवाले है। लोग खुरचने निकालने लगेगे कि पाँच महाव्रतो मे रात्रि भोजन का तो कही भी उल्लेख नही है इसलिए साधु यदि रात्रि को भोजन कर भी ले तो क्या हानि है। इसी आशका को ध्यान मे रखकर आचार्यों ने छठे व्रत का अलग से विधान किया है। परसो अपने व्याख्यान मे हमने बताया था कि प्रत्याख्यान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात आज्ञा है। आज्ञा का स्थान सर्वोपरि है। जिस प्रकृति के लोग होते हैं, उनको उसके अनुसार ही प्रत्याख्यान का रूप समझाया जाता है। यही कारण है कि पहले पाँच महाव्रतो का विधान था, फिर चार का हुआ और पुन पाँच का विधान कर दिया गया। पाँच से भी जब काम न चला तो छठे का भी विधान करना पडा। इस कारण गुरु की आज्ञा या शासन की आज्ञा को सर्वोपरि मानना चाहिए।

जैन भवन, डेह (नागौर) २९ जुलाई, १९७९

२२

# मूल गुण और उत्तर गुण-विश्लेषण

जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है शाश्वत सुखो की प्राप्ति धर्म की आराधना द्वारा ही सभव है, अन्यथा नही। साधुत्व और श्रावकत्व धर्म की आराधना मे माध्यम है। साधु धर्म और श्रावक धर्म— इन दोनो प्रकार के धर्मो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिज्ञाएँ लेनी होती है। कतिपय प्रतिज्ञाएँ तो 'यावज्जीव' अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के लिए होती है और कुछ प्रतिज्ञाएँ ऐसी होती हैं जो समय की सीमा से बँधी होती है। समय की मर्यादा के अनुसार जिन प्रतिज्ञाओ का पालन किया जाता है, उन्हे 'उत्तर गुण' कहते है। आजीवन जो प्रतिज्ञाएँ पालन की जाती है वे 'मूल गुण' के नाम से पुकारी जाती हैं। मूल गुण की प्रतिज्ञाएँ पहले ली जाती है और उत्तर गुण की बाद मे। उत्तर गुणो की प्रतिज्ञाएँ मूल गुणो को शक्ति और दृढता प्रदान करने के लिए होती हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि शक्ति तो मूल गुणो से उत्तर गुणो को मिलनी चाहिए क्योकि शक्ति का स्रोत तो मूल गुण है। इसका उत्तर यह है कि यदि हम मूल गुण तो धारण कर ले और उत्तर गुणो की उपेक्षा कर दे, तो ऐसी स्थिति मे हम मूल गुणो के लक्ष्य से भ्रष्ट हो सकते है। जो शक्ति और दृढता मूल गुणो को हमारी ओर से मिलनी चाहिए वह नही मिल पायेगी। मूल गुणो को धारण करने के पश्चात् यदि हम निरन्तर उनके लिए कुछ क्रिया करते रहेगे तभी तो मूल गुणो को स्थिरता प्रदान कर सकेंगे। एक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण हो जायेगा। एक भवन का निर्माण कराया गया, उसकी दृढता और स्थिरता के लिए अपेक्षित पत्थर, सीमेंट, चूना आदि का प्रयोग किया गया। भवन के खडा करने मात्र से भवन का काम समाप्त नही हो जाता किन्तु भवन के चिरकालिक स्थायित्व के लिए उसकी धुलाई, पुताई, रग-रोगन, दैनिक सफाई, समय-समय पर मरम्मत की व्यवस्था नही होगी तो वह भवन जल्दी ही कमजोर पड जायेगा, जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा। कुछ वर्षो तक यदि वह उपेक्षित अवस्था मे पडा रहा तो सभव है उसकी मरम्मत पर हमे उतना ही खर्चा करना पडे जितना कि उसके निर्माण मे लगा था। भवन का निर्माण मूल गुण

के समान समझना चाहिए और उस भवन की जो सरक्षण की क्रियाएँ है, वे उत्तर गुणो के समान है ।

एक दूसरा उदाहरण वृक्ष का लीजिये। बीज अकुर के रूप मे प्रस्फुटित होता है । बहुत कोमल होता है, अकुर को कोई भी उखाडकर फेंक सकता है परन्तु माली उसकी रक्षा करता है पशुओ से, पक्षियो से । उसे सींचता है, उसके विकास के लिए। धीरे धीरे सुरक्षा पाकर वह झाड का रूप धारण करता है । समय के साथ साथ उसके तने मजबूत होते जाते है, वह वृक्ष बन जाता है, उसकी शाखाओ को शक्ति मिलती हैं, वे फैलती जाती है । शाखाएँ पल्लवित होती है, पुष्पित होती हे और फलित होती है। प्रतिवर्ष उस वृक्ष के सहस्रो पत्ते झडते है और नये आते है। वह अपने रक्षक माली को फलो की आय से सम्पन्न बनाने लगता है । अब उस वृक्ष का तना इतना दृढ और शक्तिशाली बन जाता है कि उसको किसी प्रकार की बाह्य सुरक्षा की आवश्यकता नही रह जाती है। उस तने मे जो इतनी दृढता और शक्ति का समावेश् हुआ है उसका कारण उसकी बाहर की सरक्षण की क्रियाएँ है। यहा वृक्ष के तने को मूल गुण के रूप मे समझना चाहिए और सरक्षण की बाह्य क्रियाओ को उत्तर गुण के रूप में ।

मूल गुणो को उत्तर गुणो से किस प्रकार सहायता मिला करती है यह बात उक्त दोनो उदाहरणो से स्पष्ट हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो गया कि मूल या स्थायी तत्त्व की, अस्थायी तत्व किस प्रकार रक्षा या सहायता करता है। हम यदि मूल वस्तु की बारबार देख-रेख करते रहते हैं, तो वह सुरक्षित रहती है, उसमे स्थायित्व आ जाता है। इसका कारण है, हमारी दृष्टि मे, हमारी नजरो मे चैतन्य भरा पडा है। जब एक चैतन्य की दृष्टि दूसरे चैतन्य पर पडती है तो क्या विलक्षण विचारधारा उत्पन्न हो जाया करती है

**"चार मिले चौंसठ खिले, बीस रहे कर जोड ।**
**सज्जन हम तुम दो मिले, विकसे सात करोड ।।"**

अर्थात्—

जब दो सज्जन मिले तो दोनो की आँखें मिलकर चार हो गई। आँखें चार होते ही दोनो मुस्करा दिये, दोनो के बत्तीस दाँत, चौसठ की सख्या मे खिल गये । दोनो ने हाथ मिलाये तो दोनो के हाथो की अंगुलियो की सख्या बीस के रूप मे मिली । दोनो सज्जन एक-दूसरे को देखकर रोमाचित हो गये । एक व्यक्ति के शरीर मे साढे तीन करोड रोम होते हैं, दोनो के शरीरो के रोम मिलकर सात करोड हो गये । हमारा कहने का अभिप्राय है कि

चैतन्य की नजर जब चैतन्य पर पड़ती है तो ऐसी प्रक्रिया होती है। चैतन्य की नजर बडी महत्त्वपूर्ण है। यह तो जड पदार्थो पर भी पड जाती है तो उनको भी जीवन-सा प्रदान कर देती है। दूसरे शब्दो मे, चैतन्य की दृष्टि जड पदार्थो मे भी जीवन सचार करने वाली है। आपका मकान सुन्दर से सुन्दर हो किन्तु आप उसे ताला लगाकर चले जायें और दो-तीन साल बाद जब आप वापस आकर ताला खोलेगे तो आपका उसके अन्दर प्रवेश करने को भी मन नही करेगा। इसका मुख्य कारण यही है कि पर्याप्त समय तक उसमे चैतन्य की अनुपस्थिति रही। चिरकाल तक उस मकान की दीवारो को, छतो को और फर्श को किसी चैतन्य की दृष्टि ने नही देखा। कितना बडा चमत्कार भरा हुआ है इस चेतन की दृष्टि मे। यह एक मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक सत्य है कि हमारी दृष्टि से पुद्गलो का एक प्रवाह निकलता है और वह प्रवाह अपने सामने आनेवाले पुद्गलो को प्रभावित करता है। सामने के पुद्गल उसमे विकसित हो जाते हे। फिर मकान तो चैतन्य का निवास स्थान है, उसमे चैतन्य द्वारा जीवन सचार हो जाना तो एक स्वाभाविक बात है। ठीक इसी प्रकार हमारा शरीर भी तो चैतन्य का मकान ही है। शरीर जड और जीव उसमे जीवन का सचार कर रहा है। उस चेतन के निवास से ही जड शरीर चमक रहा है। मारवाडी भाषा में कहा जाता है, 'इणरो चेहरो तो दीपूं दीपूं करे'। दीप्ति, तेज और लावण्य ये किसके गुण है—सब चेतन के चमत्कार है।

हाँ, तो हमारा प्रसग चल रहा था मूल गुणो और उत्तर गुणो का। मूल गुण के रूप मे हमने आजीवन व्रत-पच्चखाण तो ले लिया किन्तु लेने के पश्चात् यदि हम किसी भी प्रकार से उत्तर गुणो को धारण नही करते है तो हमारे मूल गुणो को सुरक्षा का तत्त्व नही मिल पायेगा और ऐसी उपेक्षा की स्थिति मे वे मूल गुण एक दिन धूल मे मिल जायेंगे। इसी कारण से शास्त्रकारो ने कहा है कि अपने मूल गुणो की सुरक्षा के लिए हमे समय-समय पर उत्तर गुणो को धारण करना चाहिए। यद्यपि उत्तर गुण अस्थायी होते हे किन्तु अस्थायी होकर भी वे स्थायी तत्त्व की रक्षा करने की शक्ति रखते है, इस लिए उपेक्षणीय नही है। किसी छोटे बच्चे को जब हम अक्षर लिखना सिखाते हे तो पहले तो वह टेढे-मेढे अक्षर लिखता है। उसके अक्षर सुन्दर बने, इसलिए हम उसकी अँगुली पकड उसे अक्षरो के सुन्दर बनाने की विधि सिखाते है। परिणामस्वरूप वह सुन्दर अक्षर लिखने लगता है। यही बात मूल गुणो और उत्तर गुणो पर भी घटित होती है। उत्तर गुणो के धारण करने से मूल गुणो को निश्चित रूप से बल मिलता है और वे सुन्दर बनते जाते है।

यदि कोई यह कहे कि मूल गुणो मे भी स्थायित्व कहाँ है? उनका धारण

तो आजीवन है। जब जीवन ही स्थायी नही तो मूल गुण स्थायी कैसे हो सकते है ? जितने भी व्रत-पचखाण है वे जीवन के अन्त तक ही तो है, मृत्यु के पश्चात् वे सब अपने-आप छूट जाते है। फिर मूल गुणो मे स्थिरता कहाँ रही ? इसका उत्तर यही है कि मूल गुणो की स्थिरता उत्तर गुणो की अपेक्षा से मानी जाती है। अर्थात् उत्तर गुणो की अपेक्षा से मूल गुण अधिक स्थिर है, अधिक स्थायी है।

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि व्रत-प्रत्याख्यानो का सम्बन्ध तो आत्मा से है, शरीर से तो नही, इसीलिए शरीर के नष्ट होने पर भी जब तक आत्मा है तब तक व्रत-पचखाणो का सम्बन्ध तो आत्मा के साथ बना ही रहेगा फिर मूल गुणो की जीवनपर्यन्त सीमा बाँधना कहाँ तक सगत है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृत्यु के समय स्मरण-शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, इसलिए पच-खाण की जो प्रक्रिया है वह बनी नही रह सकती। प्रत्याख्यान की लिंक टूट जाती है। प्रत्याख्यान की लिंक तो उस समय भी टूट जाती है जब हम प्रत्या-ख्यान लेकर भी यह भूल जाते है कि हमने प्रत्याख्यान लिया या नही। भूल की स्थिति मे हमे पुन प्रत्याख्यान लेना पडता है। सामायिक पर भी तो यही नियम लागू होता है। सामायिक ले ली और बैठ गये। मन कही और चक्कर काटने लगा, किसी के साथ बातचीत मे उलझ गये और भूल गये कि सामायिक ली थी या नही। ऐसी स्थिति मे धर्मगुरुओ की आज्ञा है कि सामा-यिक पुन लेनी चाहिए। सामायिक के जो पाँच अतिचार बताये गये है उनमे से एक अतिचार है

**"सामाइयस्स सइ अकरणयाए"**

सामायिक की स्मृति का न रखना। सामायिक नवाँ व्रत है। प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार होते है। सामायिक के भी पाँच अतिचार है (१) मणदुप्पणिहाणे, (२) वयदुप्पणिहाणे, (३) कायदुप्पणिहाणे। पुरानी प्रतिक्रमण-पद्धति में ये तीनो अलग-अलग वाक्यो में प्रयुक्त न होकर एक ही वाक्य में प्रयुक्त हैं . "मन, वचन काया ना जोग पाडवे ध्यान प्रवर्ताया हो।" ऐसे एक ही वाक्य मे तीनो का प्रयोग किया गया है। भिन्न-भिन्न वाक्यो मे उक्त तीनो का विवरण इस प्रकार है

**मणदुप्पणिहाणे—मनोदुष्प्रणिधानम्,**

अर्थात्—मन से नही विचारने लायक कोई विचार किया हो।

**वयदुप्पणिहाणे—वचोदुष्प्रणिधानम्,**

अर्थात् वाणी से नही बोलने योग्य कोई वचन कह दिया हो।

**कायदुप्पणिहाणे कायदुष्प्रणिधानम्**

अर्थात्—शरीर से नही करने योग्य कोई चेष्टा हो गई हो।

दुष्प्रणिधान का भाव ही मारवाडी भाषा के "योग पाडवे ध्यान प्रवर्ताया हो" मे निहित है। पाडवा ध्यान का अर्थ है कि ऐसा ध्यान जो प्रगति पथ पर बढ रही आत्मा को नीचे गिरा देवे।

सामायिक का चौथा अतिचार है **"सामाइयस्स सइ अकरणयाए"** अर्थात्—सामायिक की स्मृति न रखना, सामायिक ली है या नही, इसे भूल जाना। इसी को मारवाडी भाषा मे "सामायिक की सभालना न कीधी होय" ऐसा कहते है। भूल जाने पर श्रावक को पुन सामायिक लेनी चाहिए अन्यथा वह पाप का भागी बनता है। सभालना यह शब्द मारवाडी भाषा मे प्राकृत से आया है। सस्कृत मे इसकी छाया है 'सस्मारणा'। "सम्यक् प्रकारेण स्मारण, सस्मारणम्" सभालना और सस्मारणा—इन दोनो शब्दो का अर्थ एक ही है। पाँचवाँ सामायिक का अतिचार है।

**'सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए'**

अर्थात्—सामायिक के समाप्त होने से पहले ही सामायिक को बीच मे ही छोड देना। सामायिक का कम से कम समय होता है—अडतालीस मिनट, जिसे एक मुहूर्त भी कहते है।

हमारा प्रसग चल रहा था मूल गुणो और उत्तर गुणो का। हमने बताया था कि उत्तर गुण मूल गुणो को शक्ति प्रदान करते है। इसके साथ-साथ यह बात भी भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि पचखाण आत्मा से सम्बन्धित होने पर भी आत्मा के साथ नही जाते। इसका कारण यह है कि मरने वाला व्यक्ति पचखाण करने वाली गति मे ही जायेगा अथवा ऐसी गति मे जायेगा जहाँ पचखाण है ही नही, इसकी हमारे पास कोई भी गारटी नही है। इसलिए जब तक मानव शरीर मे आत्मा है तभी तक पचखाण है। यदि कोई व्यक्ति पचखाण को आत्मा के साथ सदा रहने वाली भावना से करवाता है तो-उसका वैसा करवाना शास्त्र-विरुद्ध है। मनुष्य गति से मरकर यदि आत्मा देव लोक मे जाता है तो वहाँ पचखाण नही है, नरक लोक मे जाता है तो वहाँ भी पचखाण नही है और यदि पुन मनुष्य गति मे भी आ जाता है तब भी पचखाण की प्रक्रिया उस पर घटित नही होती। इसका कारण है कि मनुष्य गति से भी मरकर जब वह यहाँ से जायेगा तब यहाँ की जो पर्याप्तियाँ है जिनकी सख्या छह है (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) उसके साथ नही जायेंगी। जिस आहार के सहारे वह जीवित रहता है वह आहार उसे यही छोड कर जाना पडता है या यो कहो कि उस आहार की समाप्ति ही उसके जीवन की समाप्ति है। वह आहार भी कैसा और कौन-सा ? जिस समय

तो आजीवन है। जब जीवन ही स्थायी नही तो मूल गुण स्थायी कैसे हो सकते है ? जितने भी व्रत-पचखाण है वे जीवन के अन्त तक ही तो है, मृत्यु के पश्चात् वे सब अपने-आप छूट जाते है। फिर मूल गुणो मे स्थिरता कहाँ रही ? इसका उत्तर यही है कि मूल गुणो की स्थिरता उत्तर गुणो की अपेक्षा से मानी जाती है। अर्थात् उत्तर गुणो की अपेक्षा से मूल गुण अधिक स्थिर हैं, अधिक स्थायी हैं।

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि व्रत-प्रत्याख्यानो का सम्बन्ध तो आत्मा से है, शरीर से तो नही, इसीलिए शरीर के नष्ट होने पर भी जब तक आत्मा है तब तक व्रत-पचखाणो का सम्बन्ध तो आत्मा के साथ बना ही रहेगा फिर मूल गुणो की जीवनपर्यन्त सीमा बाँधना कहाँ तक सगत है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृत्यु के समय स्मरण-शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, इसलिए पचखाण की जो प्रक्रिया है वह बनी नही रह सकती। प्रत्याख्यान की लिंक टूट जाती है। प्रत्याख्यान की लिंक तो उस समय भी टूट जाती है जब हम प्रत्याख्यान लेकर भी यह भूल जाते हैं कि हमने प्रत्याख्यान लिया या नही। भूल की स्थिति मे हमे पुन प्रत्याख्यान लेना पड़ता है। सामायिक पर भी तो यही नियम लागू होता है। सामायिक ले ली और बैठ गये। मन कही और चक्कर काटने लगा, किसी के साथ बातचीत मे उलझ गये और भूल गये कि सामायिक ली थी या नही। ऐसी स्थिति मे धर्मगुरुओ की आज्ञा है कि सामायिक पुन लेनी चाहिए। सामायिक के जो पाँच अतिचार बताये गये है उनमे से एक अतिचार है

**"सामाइयस्स सइ अकरणयाए"**

सामायिक की स्मृति का न रखना। सामायिक नवाँ व्रत है। प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार होते है। सामायिक के भी पाँच अतिचार है (१) मणदुप्पणिहाणे, (२) वयदुप्पणिहाणे, (३) कायदुप्पणिहाणे। पुरानी प्रतिक्रमण-पद्धति मे ये तीनो अलग-अलग वाक्यो मे प्रयुक्त न होकर एक ही वाक्य मे प्रयुक्त है . "मन, वचन काया ना जोग पाडवे ध्यान प्रवर्ताया हो।" ऐसे एक ही वाक्य मे तीनो का प्रयोग किया गया है। भिन्न-भिन्न वाक्यो मे उक्त तीनो का विवरण इस प्रकार है

**मणदुप्पणिहाणे—मनोदुष्प्रणिधानम्,**

अर्थात्—मन से नही विचारने लायक कोई विचार किया हो।

**वयदुप्पणिहाणे—वचोदुष्प्रणिधानम्,**

अर्थात् वाणी से नही बोलने योग्य कोई वचन कह दिया हो।

**कायदुप्पणिहाणे कायदुष्प्रणिधानम्**

अर्थात्—शरीर से नही करने योग्य कोई चेष्टा हो गई हो।

दुष्प्रणिधान का भाव ही मारवाडी भाषा के "योग पाडवे ध्यान प्रवर्ताया हो" मे निहित है। पाडवा ध्यान का अर्थ है कि ऐसा ध्यान जो प्रगति पथ पर बढ रही आत्मा को नीचे गिरा देवे।

सामायिक का चौथा अतिचार है "सामाइयस्स सइ अकरणयाए" अर्थात्—सामायिक की स्मृति न रखना, सामायिक ली है या नही, इसे भूल जाना। इसी को मारवाडी भाषा मे "सामायिक की सभालना न कीधी होय" ऐसा कहते है। भूल जाने पर श्रावक को पुन सामायिक लेनी चाहिए अन्यथा वह पाप का भागी बनता है। सभालना यह शब्द मारवाडी भाषा मे प्राकृत से आया है। सस्कृत मे इसकी छाया है 'सस्मारणा'। "सम्यक् प्रकारेण स्मारण, सस्मारणम्" सभालना और सस्मारणा —इन दोनो शब्दो का अर्थ एक ही है। पाँचवाँ सामायिक का अतिचार है।

'सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए'

अर्थात्—सामायिक के समाप्त होने से पहले ही सामायिक को बीच मे ही छोड देना। सामायिक का कम से कम समय होता है—अडतालीस मिनट, जिसे एक मुहूर्त भी कहते है।

हमारा प्रसग चल रहा था मूल गुणो और उत्तर गुणो का। हमने बताया था कि उत्तर गुण मूल गुणो को शक्ति प्रदान करते है। इसके साथ-साथ यह बात भी भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि पचखाण आत्मा से सम्बन्धित होने पर भी आत्मा के साथ नही जाते। इसका कारण यह है कि मरने वाला व्यक्ति पचखाण करने वाली गति मे ही जायेगा अथवा ऐसी गति मे जायेगा जहाँ पचखाण है ही नही, इसकी हमारे पास कोई भी गारटी नही है। इसलिए जब तक मानव शरीर मे आत्मा है तभी तक पचखाण है। यदि कोई व्यक्ति पचखाण को आत्मा के साथ सदा रहने वाली भावना से करवाता है तो-उसका वैसा करवाना शास्त्र-विरुद्ध है। मनुष्य गति से मरकर यदि आत्मा देव लोक मे जाता है तो वहाँ पचखाण नही है, नरक लोक मे जाता है तो वहाँ भी पचखाण नही है और यदि पुन मनुष्य गति मे भी आ जाता है तब भी पचखाण की प्रक्रिया उस पर घटित नही होती। इसका कारण है कि मनुष्य गति से भी मरकर जब वह यहाँ से जायेगा तब यहाँ की जो पर्याप्तियाँ है जिनकी सख्या छह है (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) उसके साथ नही जायेंगी। जिस आहार के सहारे वह जीवित रहता है वह आहार उसे यही छोड कर जाना पडता है या यो कहो कि उस आहार की समाप्ति ही उसके जीवन की समाप्ति है। वह आहार भी कैसा और कौन-सा ? जिस समय

जीव माता के गर्भ में आता है उस समय जो आहार ग्रहण करता है वह आहार जीवन-भर चलता रहता है। जो आहार हम प्रतिदिन करते है केवल उस आहार से हमारा सारा जीवन नही चलता है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि आहार तीन प्रकार का होता है (१) ओज आहार, (२) रोम आहार और (३) कवल आहार। सर्वप्रथम माता के गभ मे आते ही हमने जो आहार लिया उसका नाम है 'ओज-आहार'। वह आहार माता-पिता के शुक्र और शोणित का शुद्ध समिश्रण है। जीव उसको गर्भाशय में आते ही ग्रहण करता है। वह उसका प्रथम आहार है जो उसका सारा का सारा जीवन चलाता है। तत्पश्चात् वह माता के उदर मे बढता रहता है। माता जो आहार ग्रहण करती है उसके अश में से, रस मे से यत्किंचित् नसो के द्वारा आहार पहुँचता रहता है। जिस प्रकार लिफ्ट के नीचे ऊपर लटकने वाली लोहे की शृखलायें उसको ऊपर-नीचे पहुँचाने के लिए नियत्रण मे रखती है ठीक इसी प्रकार माता की जो रक्त-प्रवाहिनी नाडी होती है वह बच्चे को नियन्त्रित रखती है। इसको लोक-भाषा में नाल कहते है। जन्म के समय में उसका माता की नाभि के साथ सम्बन्ध रहता है। चार अगुल छोडकर उसे काट दिया जाता है। उसी के अन्दर से आहार के सारे के अणु परमाणु रस के रूप मे माता के शरीर से बालक के शरीर मे पहुँचा करते है। इस प्रवाह की विद्युत्-प्रवाह से तुलना की जा सकती है। यह सारा का सारा आहार (पर्याप्ति)जो प्रथम समय मे लिया जाता है, 'ओज आहार' है। उसके बाद रोम-रोम से जो आहार-तत्त्व प्राप्त होता है उसे 'रोम आहार' कहते है। जन्म के पश्चात् जब बालक ग्रास के रूप में आहार लेने लगता है उसे कहते हैं 'कवलाहार'। ओज आहार तो जीवन में एक बार ही लिया जाता है और जीवनपर्यन्त चलता है। रोमो के द्वारा जो शरीर में गरमी ठडक-वायु आदि पोषक तत्त्व प्राप्त होते है, वह रोमाहार है। यह आहार जीवन पर्यत प्रतिक्षण लिया जाता है। एक स्थान पर बैठकर पुद्गल पिंड को ग्रहण करना 'कवलाहार' कहलाता है। तेल मालिश, लेपन आदि सब कवलाहार के अन्तर्गत आ जाते है। ये सब पुद्गल पिण्ड ही तो हैं जिनका शरीर पर उपयोग किया जाता है। यह था सारा विवरण तीन प्रकार के आहारो का। जब आत्मा शरीर से निकल जाता है तो शरीर के असद्भाव के कारण वह अनाहारक स्थिति मे रहता है। आहार पर्याप्ति के बाद में ही शरीर पर्याप्ति बना करती है। वैसे तो तेजस् और कर्मण शरीर जीव के पास रहते है किन्तु वे पर्याप्ति के शरीर नही होते। अत उनको पर्याप्तिक शरीर नही कहा जा सकता। वे शरीर तो अपर्याप्तिको के भी होते है किन्तु उनसे जो हमारी आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए वे पूरी नही होती। इसीलिए आहार पर्याप्ति को ग्रहण करने के पश्चात् फिर औदारिक शरीर बांधना या वैक्रिय

शरीर बाँधना या फिर बडे अन्तराल मे आहारक शरीर की प्राप्ति सब की सब शरीर-पर्याप्ति में समाविष्ट होती है।

इसके पश्चात् बडी दूरी पर छठी मन पर्याप्ति आती है। जब तक मन नही बँध जाता तब तक तो वह सन्नी होते हुए भी असन्नी है। ऐसी स्थिति मे पचखाण का विधान कैसे सभव हो सकता है? मरकर जीव मनुष्य गति को भी प्राप्त करनेवाला हो तब भी वहाँ पर पचखाण की परम्परा अनवरत रूप से लागू नही हो सकती। वहाँ पर भी आगे जाकर जब जीव सब पर्याप्तियो से समर्थ बन जाता है, तभी पचखाण लागू होते है। अवधिज्ञान से युक्त मरने वाला जीव मरने के पश्चात् मनुष्यगति मे नहीं जाया करता। यदि मनुष्य मरकर अवधि ज्ञान सहित मनुष्य गति मे जाने वाला होता तो उस स्थिति मे भी आत्मा की तत्स्वरूप आयुष्य की सीमा तक ही पचखाण चल सकता था किन्तु यहाँ तो मरने के पश्चात् स्मृति के अभाव मे या स्मृति के नष्ट होने के कारण पचखाण समाप्त हो जाता है।

यदि कोई शका करे कि क्या पहले से आजीवन पचखाण लेने से आत्मा का कल्याण सभव हो सकता है? तो इसका उत्तर स्वीकारात्मक है। एक भव तक मे साधको ने आत्मा का कल्याण किया है। एक भव का समय कोई कम तो नही होता। बहुत लम्बा होता है एक भव तो! आत्म कल्याण तो एक अतर्मुहूर्त के अन्दर भी सभव है। अनादिकाल से जीव कृष्णपक्षी रहा है और अनादिकाल से वह मिथ्या दृष्टि रहा है। आज तक जो मिथ्यात्व का त्याग नही कर पाये है, ऐसे व्यक्ति भी एकदम मिथ्यात्व को त्याग कर पहले गुणस्थान से सीधे चौथे गुणस्थान मे आ जाते है। चौथे से सातवें मे और सातवे से फिर उत्तरोत्तर बढते ही जाते है। अडतालीस मिनट के समय मे ही अनादिकाल से चले आ रहे मिथ्यात्व का त्याग करके आत्मा मोक्ष मे चला जाता है। इस प्रकार करने वाले तो अडतालीस मिनट मे ही अपना आत्मकल्याण कर लेते है। फिर एक भव मे यदि आत्मकल्याण होता हो तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही।

वास्तव मे धर्म क्या है? धर्म मोक्ष मे जाने का एक साधन ही तो है। जब हमारा लक्ष्य पूर्ण हो जाता है, हम मुक्त हो जाते है, तो मुक्ति के समय कर्म-बन्धन का कोई भी अणु-परमाणु हमारे साथ नही रह जाता। ऐसी स्थिति मे धर्म की कोई आवश्यकता नही रह जाती। धर्म को जो काम करना था वह उस समय तक कर चुकता है। मोक्ष की स्थिति मे न तो जीव का लगाव साधु-धर्म के साथ ही रहता है और न ही श्रावक-धर्म के साथ। हमारी सामान्य आत्मा की तो बात ही क्या, तीर्थकरो के आत्मा का भी मुक्त होने के पश्चात् धर्म से कोई लगाव नही रह जाता यद्यपि वे धर्म के प्रतिपादक रहे है। उन्होने

यद्यपि अपने आत्मा का कल्याण इसी धर्म के द्वारा किया था। जिस धर्म के द्वारा लोगो को मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस धर्म की यदि कोई निन्दा करे, उसका खण्डन करे और उसका अपवाद करे तो मुक्तात्माओ पर उसका कुछ भी प्रभाव नही पडता है। इसका कारण है कि उन मुक्तात्माओ का सासारिक पदार्थों से और सम्बन्धो से सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुका है। जब सब प्रकार से ससार से सम्बन्ध कट गया तो फिर यहाँ आने का कोई आशय ही नही। इस दिशा मे हमारी श्रमण-सस्कृति उस सस्कृति से सर्वथा भिन्न है जो कहती है कि भक्तो के कल्याण के लिए भगवान् 'सभावामि युगे-युगे युग-युग में अवतार के रूप मे यहाँ पृथ्वी लोक मे जन्म लिया करते है। श्रमण-सस्कृति में ऐसी कोई मान्यता नही है। धर्म चाहे रसातल को जाये, अधर्म का घट चाहे पूर्णरूप से भर जाये, सज्जनात्मा चाहे अपमानित होते हो, पापियो के अत्याचार चाहे अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचे हो, भगवान् का इन सब बातो से क्या सम्बन्ध? भगवान् तो मुक्तात्मा है, ससार के सब झमेलो से परे है। यदि भगवान् धम के अभ्युत्थान के लिए और दुष्टो को दण्डित करने के लिए पुन ससार मे सचार करने लगेगा तो उसका भगवत्त्व कहाँ रह जायेगा? इस प्रकार की विचारधारा मिथ्यात्व पर आधारित है, सम्यक्त्व पर नही, इसलिए श्रमण सस्कृति को मान्य नही है। शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना ही जैन धर्म की आधारशिला है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ३० जुलाई, १९७९

२३

# आत्मा के तीन रूप

धर्म के आराधन मे ही शाश्वत सुखो की उपलब्धि निहित है। धर्म की आराधना से ही हम आराधक बनते है। जैन-सिद्धान्त मे आराधक और विराधक—ये दो पारिभाषिक शब्द हैं। आराधक अच्छा होता है और विराधक बुरा। आराधना करनेवाला आराधक कहलाता है। देवता की आराधना, धर्म की आराधना, गुरु की आराधना आदि विस्तृत क्षेत्र मे प्रयोग होता है आराधना शब्द का। आराधना का विपरीतार्थक शब्द है 'विराधना'। आराधना शब्द जितना धर्म के क्षेत्र मे प्रचलित है उतना विराधना नही। आराधना से भी अधिक प्रचलित शब्द साधना है। सामान्य-रूप से आराधना और साधना ये दोनो शब्द समानार्थक है। अमरकोश के अनुसार

**"समौ सिद्धान्तराद्धान्तौ"**

सिद्धान्त कहो अथवा राद्धान्त कहो एक ही भावार्थ की अभिव्यक्ति होती है। सिद्धान्त के अन्दर साधना शब्द अन्तर्निहित है और राद्धान्त के अन्दर राधना शब्द। राधना के पूर्व 'आ' उपसर्ग लगाने से 'आराधना' शब्द की निष्पत्ति होती है।

जैन शास्त्रो मे आराधना के तीन भेद बताये गये हैं ज्ञान-आराधना, दर्शन-आराधना और चारित्र आराधना। आराधना शब्द का वास्तविक अभिप्राय है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीनो को जीवन मे उतारने के लिए जिन-जिन नियमो की आवश्यकता है उनका पालन करना। ज्ञान की आराधना के लिए जिन-जिन बातो की आवश्यकता है उनका पालन तो करना ही किन्तु साथ ही जो बातें ज्ञान के मार्ग मे बाधक हैं, विघ्न डालने वाली है, उनका त्याग भी करना, उनसे दूर भी रहना। दर्शन की आराधना की भी यही पद्धति है।

'दर्शन' शब्द का अर्थ बडा ही व्यापक है। दर्शन का सामान्य अर्थ तो देखना है किन्तु देखने की पद्धति-विशेष के लिए भी दर्शन शब्द का साहित्य मे

प्रयोग किया जाता है। आँखें तो हमारी सबकी प्राय एक-जैसी ही है परन्तु इनके सामने आनेवाले दृश्य या पदाथ तो एक सरीखे नही है। दृष्टि वही होती है परन्तु दृश्य भिन्न-भिन्न होते हे। दृश्य पदार्थों की भिन्नता के कारण दर्शक के मन मे भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव पैदा हुआ करते है। भावो या विचारो की भिन्नता के कारण देखने के तरीके मे भिन्नता आना स्वाभाविक है। इसी तरीके को लोकव्यवहार तथा लोकभाषा में 'दृष्टिकोण' कहा जाता है।

'कोण' का अर्थ है कोना। मकान के प्राय चार कोने होते है, कम और अधिक भी हो सकते है। आठ कोने भी हो सकते हे, आठ कोनो वाले अठपहलू महल का जिक्र भी साहित्य मे मिलता है। बिना कोने के भी मकान होते है। बिल्कुल गोल और ऊपर गुबज के रूप में छत भी गोल। कर्णाटक मे 'गोल-गुम्बज' के नाम से एक स्थान बडा प्रसिद्ध है। यह कर्णाटक के बीजापुर नगर मे है, सात मजिलें हैं इसकी। अन्तिम पर चढने के बाद नीचे का फश साफ दिखायी देता है। इसका निर्माण ही एक विशेष ढग से किया गया है। सात खण्डो के सद्भाव में भी ऊपर छत और नीचे फश हे। अन्दर भीत के पास बैठने के लिए कुर्सी लगी हुई है। कुर्सी पर बैठने वाले मनुष्य की रिस्ट-वाच(हाथ की घडी) की टिक्-टिक् की ध्वनि सामने की कुर्सी पर बैठने वाले को पर्याप्त अन्तर होने पर भी स्पष्ट सुनाई पडती है, यह उस गोल गुम्बज की पहली विशेषता है। दूसरी विशेषता है कि सातवी मजिल पर चढकर यदि कोई व्यक्ति कोई शब्द या वाक्य बोले तो उसकी प्रतिध्वनि सात स्वरो मे गूँजती है। यदि आप 'जय जिनेन्द्र' बोलेंगे तो यह प्रतिध्वनि के रूप में सात बार आपको सुनाई देगा। किसी युग मे किसी सगीतप्रिय बादशाह ने सात स्वर (स, रे, ग, म, प, ध, नि)की ध्वनि के लिए ही इस गोलगुम्बज का निर्माण करवाया था।

अस्तु बात तो कोण की चल रही थी। मकान के कोणो की सख्या सीमित हो सकती है किन्तु दृष्टिकोण की सख्या को सीमा मे नही बाँधा जा सकता। हमारी दृष्टि के जो कोण है वे जिस प्रकार के दृश्य देखते हे, उसी प्रकार की विचारधारा बनाते है। उदाहरण के लिए हम किसी परिचित व्यक्ति को देखते है और अपरिचित व्यक्ति को भी। दोनो के समय दृष्टि तो एक ही है किन्तु दृष्टिकोण अलग अलग हे। परिचितो के अतिरिक्त हम अपने मित्रो को देखते हैं, शत्रुओ को देखते है और मध्यस्थ वृत्ति के लोगो को भी देखते है—सब को देखते समय हमारा दृष्टिकोण अलग अलग प्रकार का होता है। माता, पत्नी, बहिन, बेटी आदि अनेक प्रकार के रिश्ते रखने वाली स्त्रियो को हम भिन्न भावो या दृष्टिकोणो से देखा करते है। बस, इसी का नाम दर्शन है। अग्रेजी मे इसे फिलासफी कहते है। ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध तो अटूट है। यह बात स्पष्ट हो गयी कि जिन वस्तुओ का हम को ज्ञान है उनके प्रति

हमारा दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न प्रकार का है। जिन बातो को हम जानने की दृष्टि से देखते है वे 'ज्ञेय' कहलाती है। जिनको हम छोडने की दृष्टि से देखते है वे 'हेय' कहलाती हैं। जिनको हम ग्रहण करने की दृष्टि से देखते हैं, वे 'उपादेय' कहलाती है। ज्ञेय, हेय और उपादेय मुख्य रूप से ये तीन ही प्रकार के पदार्थ होते है विश्व मे। चौथा नही होता। भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन तीनो कालो को जानने वाले वीतरागियो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

ज्ञेय के भी अनेक भेद किये जा सकते है। यह इस प्रकार कि अमुक वस्तु इस दृष्टिकोण से ज्ञेय है और इस सीमा तक ज्ञेय है। एक ही हेय वस्तु अलग-अलग सीमा के अन्दर उपादेय भी बन सकती है। मजिल तक पहुँचने के लिए जब तक हम अपना माग तय नही कर लेते तब तक हम जूते पहने रहते है। उस स्थिति मे जूते इसलिए उपादेय है कि उनके अभाव मे पैरो मे काटे लग सकते है, ककर चुभ सकते हैं और किसी विषैले जानवर की काटने की भी सम्भावना हो सकती है। जब हम मजिल पर पहुँच जाते हैं और भवन मे प्रवेश करने लगते है तो जूतो को देहली के पास उतारना पडता है और जूते हेय बन जाते है। प्रवेश करते समय 'स्वागतम्' लिखा मिलता है पायदान पर। माग मे चलने से परो पर धूल जम जाती है, कीचड लग जाता है—उसे हम पायदान पर साफ करके अन्दर प्रवेश करते है। 'पायपुच्छण' तो हमारा धार्मिक उपकरण भी है। जो मकान पूर्णरूपेण स्वच्छ है, फश पर दरियाँ और गलीचे बिछे हुए है, घर के सदस्य भी सफाई-पसन्द है, वहाँ बैठने के लिए हमारे पैरो की स्वच्छता परमावश्यक है। यह स्वच्छता किसने प्रदान की ? यह सारा श्रेय पायदान को जाता है। वह पायदान भी अलग-अलग दृष्टि से उपादेय और हेय दोनो है। इन हेय, ज्ञेय और उपादेयो के अपेक्षाकृत दृष्टिकोणो से अनेक भेद हो जाते है। ये सारे के सारे दशन शास्त्र के विषय है। यह हुई रूपरेखा ज्ञान और दर्शन की।

तीसरे नम्बर पर आता है चारित्र। चारित्र का अर्थ है 'आचरण'। आचरण की निष्पत्ति आ+चरण से होती है। चरण का अथ पैर है और आ उपसर्ग है। इसका आशय यह है कि हमने ज्ञान भी कर लिया और दर्शन की आराधना भी कर ली किन्तु हमने जो जाना और जिस दृष्टिकोण से हमने उस पर विश्वास किया, उसको अपने जीवन मे नही उतारा। यदि ज्ञात और विश्वस्त वस्तु जीवन मे नही उतारी जायेगी तो हम अपनी उद्दिष्ट मजिल पर कदापि नही पहुँच पायेगे। जिस अवस्था से प्रस्थान करके हमे परिलक्षित अवस्था तक पहुँचना है वह अवस्था आत्मा की है। वर्तमान की आत्मिक अवस्था उससे कुछ भिन्न प्रकार की है। ज्ञेय पदार्थो से ज्ञान की आराधना करके हमने

प्रयोग किया जाता है। आँखें तो हमारी सबकी प्राय एक-जैसी ही है परन्तु इनके सामने आनेवाले दृश्य या पदार्थ तो एक सरीखे नही है। दृष्टि वही होती है परन्तु दृश्य भिन्न-भिन्न होते हे। दृश्य पदार्थो की भिन्नता के कारण दर्शक के मन मे भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव पैदा हुआ करते है। भावो या विचारो की भिन्नता के कारण देखने के तरीके मे भिन्नता आना स्वाभाविक है। इसी तरीके को लोकव्यवहार तथा लोकभाषा मे 'दृष्टिकोण' कहा जाता है।

'कोण' का अर्थ है कोना। मकान के प्राय चार कोने होते है, कम और अधिक भी हो सकते है। आठ कोने भी हो सकते है, आठ कोनो वाले अठपहलू महल का जिक्र भी साहित्य मे मिलता है। बिना कोने के भी मकान होते है। बिल्कुल गोल और ऊपर गुबज के रूप मे छत भी गोल। कर्णाटक मे 'गोल-गुम्बज' के नाम से एक स्थान बडा प्रसिद्ध है। यह कर्णाटक के बीजापुर नगर मे है, सात मजिलें हैं इसकी। अन्तिम पर चढने के बाद नीचे का फश साफ दिखायी देता है। इसका निर्माण ही एक विशेष ढग से किया गया है। सात खण्डो के सद्भाव मे भी ऊपर छत और नीचे फश है। अन्दर भीत के पास बैठने के लिए कुर्सी लगी हुई है। कुर्सी पर बैठने वाले मनुष्य की रिस्ट-वाच(हाथ की घडी) की टिक्-टिक् की ध्वनि सामने की कुर्सी पर बैठने वाले को पर्याप्त अन्तर होने पर भी स्पष्ट सुनाई पडती है, यह उस गोल गुम्बज की पहली विशेषता है। दूसरी विशेषता है कि सातवी मजिल पर चढकर यदि कोई व्यक्ति कोई शब्द या वाक्य बोले तो उसकी प्रतिध्वनि सात स्वरो मे गूजती है। यदि आप 'जय जिनेन्द्र' बोलेंगे तो यह प्रतिध्वनि के रूप मे सात बार आपको सुनाई देगा। किसी युग मे किसी सगीतप्रिय बादशाह ने सात स्वर (स, रे, ग, म, प, ध, नि) की ध्वनि के लिए ही इस गोलगुम्बज का निर्माण करवाया था।

अस्तु, बात तो कोण की चल रही थी। मकान के कोणो की सख्या सीमित हो सकती है किन्तु दृष्टिकोण की सख्या को सीमा मे नही बाँधा जा सकता। हमारी दृष्टि के जो कोण है वे जिस प्रकार के दृश्य देखते हे, उसी प्रकार की विचारधारा बनाते है। उदाहरण के लिए हम किसी परिचित व्यक्ति को देखते हे और अपरिचित व्यक्ति को भी। दोनो के समय दृष्टि तो एक ही है किन्तु दृष्टिकोण अलग अलग है। परिचितो के अतिरिक्त हम अपने मित्रो को देखते है, शत्रुओ को देखते है और मध्यस्थ वृत्ति के लोगो को भी देखते हैं—सब को देखते समय हमारा दृष्टिकोण अलग अलग प्रकार का होता है। माता, पत्नी, बहिन, बेटी आदि अनेक प्रकार के रिश्ते रखने वाली स्त्रियो को हम भिन्न भावो या दृष्टिकोणो से देखा करते है। बस, इसी का नाम दर्शन है। अग्रेजी मे इसे फिलासफी कहते है। ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध तो अटूट है। यह बात स्पष्ट हो गयी कि जिन वस्तुओ का हम को ज्ञान है उनके प्रति

हमारा दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न प्रकार का है। जिन बातो को हम जानने की दृष्टि से देखते है वे 'ज्ञेय' कहलाती है। जिनको हम छोडने की दृष्टि से देखते है वे 'हेय' कहलाती है। जिनको हम ग्रहण करने की दृष्टि से देखते है, वे 'उपादेय' कहलाती हे। ज्ञेय, हेय और उपादेय मुख्य रूप से ये तीन ही प्रकार के पदार्थ होते है विश्व मे। चौथा नही होता। भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन तीनो कालो को जानने वाले वीतरागियो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

ज्ञेय के भी अनेक भेद किये जा सकते ह। यह इस प्रकार कि अमुक वस्तु इस दृष्टिकोण से ज्ञेय है और इस सीमा तक ज्ञेय है। एक ही हेय वस्तु अलग-अलग सीमा के अन्दर उपादेय भी बन सकती है। मजिल तक पहुँचने के लिए जब तक हम अपना माग तय नही कर लेते तब तक हम जूते पहने रहते है। उस स्थिति मे जूते इसलिए उपादेय है कि उनके अभाव मे पैरो मे काँटे लग सकते है, ककर चुभ सकते है और किसी विषैले जानवर को काटने की भी सम्भावना हो सकती है। जब हम मजिल पर पहुँच जाते हैं और भवन मे प्रवेश करने लगते है तो जूतो को देहली के पास उतारना पडता है और जूते हेय बन जाते है। प्रवेश करते समय 'स्वागतम्' लिखा मिलता है पायदान पर। माग मे चलने से परो पर धूल जम जाती है, कीचड लग जाता है—उसे हम पायदान पर साफ करके अन्दर प्रवेश करते है। 'पायपुच्छण' तो हमारा धार्मिक उपकरण भी है। जो मकान पूणरूपेण स्वच्छ है, फश पर दरियाँ और गलीचे बिछे हुए है, घर के सदस्य भी सफाई-पसन्द है, वहाँ बैठने के लिए हमारे पैरो की स्वच्छता परमावश्यक है। यह स्वच्छता किसने प्रदान की ? यह सारा श्रेय पायदान को जाता है। वह पायदान भी अलग-अलग दृष्टि से उपादेय और हेय दोनो है। इन हेय, ज्ञेय और उपादेयो के अपेक्षाकृत दृष्टिकोणो से अनेक भेद हो जाते हे। ये सारे के सारे दशन शास्त्र के विषय है। यह हुई रूपरेखा ज्ञान और दर्शन की।

तीसरे नम्बर पर आता है चारित्र। चारित्र का अथ है 'आचरण'। आचरण की निष्पत्ति आ+चरण से होती है। चरण का अथ पैर है और आ उपसर्ग है। इसका आशय यह है कि हमने ज्ञान भी कर लिया और दर्शन की आराधना भी कर ली किन्तु हमने जो जाना और जिस दृष्टिकोण से हमने उस पर विश्वास किया, उसको अपने जीवन मे नही उतारा। यदि ज्ञात और विश्वस्त वस्तु जीवन मे नही उतारी जायेगी तो हम अपनी उद्दिष्ट मजिल पर कदापि नही पहुँच पायेगे। जिस अवस्था से प्रस्थान करके हमे परिलक्षित अवस्था तक पहुँचना है वह अवस्था आत्मा की है। वर्तमान की आत्मिक अवस्था उससे कुछ भिन्न प्रकार की है। ज्ञेय पदार्थों से ज्ञान की आराधना करके हमने

जो आत्मा का स्थान निर्धारित किया है, आत्मा की उसी अवस्था तक हमें पहुँचना है।

आत्मा की स्थितियो का विश्लेपण शास्त्रो मे बडे विस्तार से किया गया है। यहाँ तो हम आपको अत्यन्त सक्षेप से केवल आत्मा की तीन स्थितियो का ही परिचय देगे। प्रथम स्थिति का नाम है 'बहिरात्मा' अर्थात् ससार के सभी बाह्य पदार्थों को आत्मा द्वारा अपना ही स्वरूप समझा जाना। उदाहरण के लिए आपसे किसी ने नाम पूछा तो आपने अपना नाम बता दिया। वही नाम जिस नाम से आपको पुकारा जाता है। यह नाम वास्तव मे आपके शरीर का है। जब आपसे घर का ठिकाना पूछा गया तो आपने अपना गली-मोहल्ला भी बता दिया। वस्तुत आपके घर मे कौन रहता है ? आपका शरीर रहता है। आपका विशेप परिचय पूछा गया तो आपके माता-पिता, भाई बहिनो का परिचय दे दिया गया। वे माता-पिता, भाई-बहिन वास्तव मे किसके है ? आपके शरीर के है। और भी विशिष्ट परिचय के लिए आपके रूप, रग, कद और आकृति का जिक्र कर दिया गया, यह सब भी आपके शरीर का परिचय हुआ। इस प्रकार ससार के लोग हमे बाह्य रूप से जानते है क्योकि ऊपर के विवरण मे जो बातें कही गई है वे सब बाह्य है। हम स्वय भी अपने आपको उक्त लक्षणो की अपेक्षा से ही जानते है। हमने उक्त पदार्थों से अपना तादात्म्य सबध स्थापित कर रखा है, यही तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला आत्मा 'बहिरात्मा' कहलाता है। आत्मा सस्कृत का शब्द है, प्राकृत मे इसका 'अप्पा' बनता है, इस अप्पा से ही अप्पन और अपना शब्दो का निर्माण होता है। अपने स्वरूप को हमने यही समझ रखा है कि शरीर ही हम है, परिवार, धन, मकान आदि सब ही हम हैं। बस यही है स्वरूप 'बहिरात्मा' का।

बाह्य का विपरीतार्थक शब्द है 'अन्तर'। हिन्दी का 'अन्दर' शब्द इसी सस्कृत के 'अन्तर' शब्द से बना है। भाषा-विज्ञान के नियम के अनुसार 'त' का 'द' बन जाया करता है, जैसे, पिता से पिदर, माता से मादर, अन्तरग से अदरूनी। अब तक बाह्य पर विचार किया गया और अब अन्दर या अन्तर की वस्तु का विचार करना है। मनुष्य की या जीव की एक अवस्था ऐसी भी आती है जब शरीर चेतनाहीन हो जाता है। उसकी सदा के लिए अनुभूति की, स्मरण की और सवेदन की शक्ति नष्ट हो जाती है। उसका स्पर्श करो, जला दो, काट दो—कुछ भी करो उसको कुछ पता नहीं चलता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई अन्दर की वस्तु थी जिसका उसमे अभाव हो गया है। वह अन्दर की चेतना स्वरूप जो शक्ति थी वही वास्तव मे विशिष्ट वस्तु थी। उस अन्दर की विशिष्ट वस्तु की सत्ता पर ही बाहर की सारी चेष्टाएँ और क्रियाएं निर्भर करती है। या यो कहो कि मनुष्य के सारे बाह्य

कर्मकाण्ड की आधारशिला ही वह चेतन शक्ति है जो शरीर के अन्दर निवास करती है। केनोपनिषद् मे आता है

> "केनेषित पतति प्रेषित मन, केन प्राण
> प्रथम प्रैतियुक्त, केनेषित वाचमिमा
> वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति"

शिष्य ने गुरु से पूछा, "हे भगवन्! किसके द्वारा सन्निधिमात्र से प्रेरित हुआ तथा विशेष रूप से स्वामी द्वारा प्रेरित मृत्यु की तरह यह मन अपने विषय के प्रति जाता है? मन-इन्द्रियो से पहले होने वाले प्राण भी किसकी प्रेरणा से गमनागमनादि व्यापार को करता है? यह वाणी भी किसकी प्रेरणा से शुभाशुभ शब्दो को बोलती है? चक्षु और कण को तथा सभी इन्द्रियो को कौन ऐसा देवता है जो कि नियमपूर्वक स्वरूप विषयो मे प्रवृत्त करवाता है? आँख देखती ही है, सुनती नही, कान सुनता ही है, देखता नही, घ्राण सूँघता ही है देखता नही, जिह्वा बोलती ही है, सूँघती नही, कौन है इन सब मे जीवन सचार करने वाला?" गुरु ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा

> "श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राणश्च-
> क्षुषश्चक्षुरति मुच्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।"

तुमने इन सबका प्रेरक पूछा है। वह श्रोत्र का श्रोत्र है—अर्थात्—श्रोत्र को श्रवण करने की शक्ति प्रदान करने वाला है। वह मन का भी मन है क्योकि मन को मनन करने की शक्ति वही देता है। वह वाक् का भी वाक् है क्योकि वाणी को वक्तृत्व की सामर्थ्य भी वही देता है। वह प्राणो का भी प्राण है क्योकि प्राणो मे जीवन शक्ति वही प्रदान करता है। वह चक्षु का चक्षु है क्योकि नेत्रो को देखने की शक्ति वही देता है। वह कौन है, वह आत्मा है।"

तो देखा आपने सारे शरीर की क्रियाओ को चलाने वाला वही चेतन तत्त्व है। जब तक शरीर मे वह विद्यमान है तब तक पत्नी, पुत्र, माता-पिता, भाई आदि सब प्रकार के नाते है, किन्तु उसके कूच करते ही सब रिश्ते समाप्त हो जाते है। टार्च मे जब तक मसाला है तभी तक प्रकाश देता है, मसाले के अभाव में टार्च का कलेवर और बल्ब आदि सब व्यर्थ सिद्ध होते है। उस शरीर के अन्दर निवास करने वाली चेतन शक्ति को ही 'अन्तरात्मा' के नाम से जाना जाता है। वह अन्तरात्मा कारण है और बाहर के शरीर का सारा क्रियाकलाप कार्य है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है, यह सैद्धान्तिक नियम है।

शरीर की बाह्य क्रियाओ से यह बात भी स्पष्ट झलकती है कि सबके अन्तरात्मा एक सरीखे नही होते। किसी की बुद्धि मन्द है तो किसी की तीव्र,

जो आत्मा का स्थान निर्धारित किया है, आत्मा की उसी अवस्था तक हमे पहुँचना है।

आत्मा की स्थितियो का विश्लेपण शास्त्रो मे बडे विस्तार से किया गया है। यहाँ तो हम आपको अत्यन्त सक्षेप से केवल आत्मा की तीन स्थितियो का ही परिचय देंगे। प्रथम स्थिति का नाम है 'वहिरात्मा' अर्थात् ससार के सभी बाह्य पदार्थों को आत्मा द्वारा अपना ही स्वरूप समझा जाना। उदाहरण के लिए आपसे किसी ने नाम पूछा तो आपने अपना नाम बता दिया। वही नाम जिस नाम से आपको पुकारा जाता है। यह नाम वास्तव मे आपके शरीर का है। जब आपसे घर का ठिकाना पूछा गया तो आपने अपना गली-मोहल्ला भी बता दिया। वस्तुत आपके घर मे कौन रहता है ? आपका शरीर रहता है। आपका विशेष परिचय पूछा गया तो आपके माता-पिता, भाई-बहिनो का परिचय दे दिया गया। वे माता-पिता, भाई-बहिन वास्तव मे किसके है ? आपके शरीर के है। और भी विशिष्ट परिचय के लिए आपके रूप, रग, कद और आकृति का जिक्र कर दिया गया, यह सब भी आपके शरीर का परिचय हुआ। इस प्रकार ससार के लोग हमे बाह्य रूप से जानते है क्योकि ऊपर के विवरण मे जो बातें कही गई है वे सब बाह्य है। हम स्वय भी अपने आपको उक्त लक्षणो की अपेक्षा से ही जानते है। हमने उक्त पदार्थों से अपना तादात्म्य सबध स्थापित कर रखा है, यही तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला आत्मा 'बहिरात्मा' कहलाता है। आत्मा सस्कृत का शब्द है, प्राकृत मे इसका 'अप्पा' बनता है, इस अप्पा से ही अप्पन और अपना शब्दो का निर्माण होता है। अपने स्वरूप को हमने यही समझ रखा है कि शरीर ही हम है, परिवार, धन, मकान आदि सब ही हम है। बस यही है स्वरूप 'बहिरात्मा' का।

बाह्य का विपरीतार्थक शब्द है 'अन्तर'। हिन्दी का 'अन्दर' शब्द इसी सस्कृत के 'अन्तर' शब्द से बना है। भाषा-विज्ञान के नियम के अनुसार 'त' का 'द' बन जाया करता है, जैसे, पिता से पिदर, माता से मादर, अन्तरग से अदरूनी। अब तक बाह्य पर विचार किया गया और अब अन्दर या अन्तर की वस्तु का विचार करना है। मनुष्य की या जीव की एक अवस्था ऐसी भी आती है जब शरीर चेतनाहीन हो जाता है। उसकी सदा के लिए अनुभूति की, स्मरण की और सवेदन की शक्ति नष्ट हो जाती है। उसका स्पर्श करो, जला दो, काट दो—कुछ भी करो उसको कुछ पता नहीं चलता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई अन्दर की वस्तु थी जिसका उसमे अभाव हो गया है। वह अन्दर की चेतना स्वरूप जो शक्ति थी वही वास्तव मे विशिष्ट वस्तु थी। उस अन्दर की विशिष्ट वस्तु की सत्ता पर ही बाहर की सारी चेष्टाएँ और क्रियाएं निर्भर करती है। या यो कहो कि मनुष्य के सारे बाह्य

कर्मकाण्ड की आधारशिला ही वह चेतन शक्ति है जो शरीर के अन्दर निवास करती है। केनोपनिषद् मे आता है

"केनेषित पतति प्रेषित मन, केन प्राण
प्रथम प्रैतियुक्त, केनेषित वाचमिमा
वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति"

शिष्य ने गुरु से पूछा, "हे भगवन्! किसके द्वारा सन्निधिमात्र से प्रेरित हुआ तथा विशेष रूप से स्वामी द्वारा प्रेरित मृत्यु की तरह यह मन अपने विषय के प्रति जाता है? मन-इन्द्रियो से पहले होने वाले प्राण भी किसकी प्रेरणा से गमनागमनादि व्यापार को करता है? यह वाणी भी किसकी प्रेरणा से शुभाशुभ शब्दो को बोलती है? चक्षु और कर्ण को तथा सभी इन्द्रियो को कौन ऐसा देवता है जो कि नियमपूर्वक स्वरूप विषयो मे प्रवृत्त करवाता है? आँख देखती ही है, सुनती नही, कान सुनता ही है, देखता नही, घ्राण सूंघता ही है देखता नही, जिह्वा बोलती ही है, सूंघती नही, कौन है इन सब मे जीवन सचार करने वाला?" गुरु ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा

"श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राणश्च-
क्षुषश्चक्षुरति मुच्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।"

तुमने इन सबका प्रेरक पूछा है। वह श्रोत्र का श्रोत्र है—अर्थात्—श्रोत्र को श्रवण करने की शक्ति प्रदान करने वाला है। वह मन का भी मन है क्योकि मन को मनन करने की शक्ति वही देता है। वह वाक् का भी वाक् है क्योकि वाणी को वक्तृत्व की सामर्थ्य भी वही देता है। वह प्राणो का भी प्राण है क्योकि प्राणो मे जीवन शक्ति वही प्रदान करता है। वह चक्षु का चक्षु है क्योकि नेत्रो को देखने की शक्ति वही देता है। वह कौन है, वह आत्मा है।"

तो देखा आपने सारे शरीर की क्रियाओ को चलाने वाला वही चेतन तत्त्व है। जब तक शरीर मे वह विद्यमान है तब तक पत्नी, पुत्र, माता-पिता, भाई आदि सब प्रकार के नाते है, किन्तु उसके कूच करते ही सब रिश्ते समाप्त हो जाते है। टार्च मे जब तक मसाला है तभी तक प्रकाश देता है, मसाले के अभाव मे टार्च का कलेवर और बल्ब आदि सब व्यर्थ सिद्ध होते है। उस शरीर के अन्दर निवास करने वाली चेतन शक्ति को ही 'अन्तरात्मा' के नाम से जाना जाता है। वह अन्तरात्मा कारण है और बाहर के शरीर का सारा क्रियाकलाप कार्य है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है, यह सैद्धान्तिक नियम है।

शरीर की बाह्य क्रियाओ से यह बात भी स्पष्ट झलकती है कि सबके अन्तरात्मा एक सरीखे नही होते। किसी की बुद्धि मन्द है तो किसी की तीव्र,

किसी की प्रवृत्ति पुण्य की ओर है तो किसी की पाप की ओर। कोई शुभ प्रवृत्ति वाला है तो दूसरा अशुभ प्रवृत्ति वाला इत्यादि। इसका अर्थ है कि उस अन्तरात्मा ने भिन्न-भिन्न जन्मो मे कुछ ऐसी क्रियायें की है जो उसको भिन्न-भिन्न प्रकार के विपयो की ओर उन्मुख करती है, इनको हमारे यहाँ 'कम' की सज्ञा दी गई है। आत्मा के साथ चिपके हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म उसको भिन्न-भिन्न विषयो की ओर प्रवृत्त कराया करते हे। सब के कर्म एक समान नही होते। ससार में कोई मनुष्य सुखी है, कोई दुखी है, कोई भला लगता है, कोई बुरा लगता है, कोई रूपवान है, कोई कुरूप है, कोई राजा है तो कोई रक है—यह सब पूवभव कृत कर्मो का ही परिणाम है। इस विवेचन का यह भी सार है कि अन्तरात्मा मे विकृति लाने वाले कर्म ही है। कर्मो के कारण ही ससारी आत्माएँ एक सरीखी नही हे।

यदि कर्मो के मल को अन्तरात्मा से धो दिया जाये तो सब अन्तरात्मा स्वस्वरूप मे एक समान बन सकते है। आत्मा से जब कर्म के मल को अहिसा, सयम और तप के द्वारा धो दिया जाये तो अन्तरात्मा अपनी वास्तविक स्थिति या स्वरूप मे पहुँच जाता है, 'परमात्मा' बन जाता है। परमात्मत्व आत्मा का सही स्वरूप है। परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा। वही आत्मा उत्कृष्ट होता है जिसमे आत्मत्व के अतिरिक्त और कुछ अवशेप नही रह जाता। अवशेष से यहा अभिप्राय है कि आत्मा से कम का नही रहने वाला अश सवथा नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन प्रकार के आत्माओ की रूपरेखा आपके सामने प्रस्तुत की गई। आत्मा को कर्मो के मल से मुक्त करने के लिए ही हम ज्ञेय, हेय और उपादेय को क्रमश जानने, छोडने व ग्रहण करने की प्रक्रिया से आराधना किया करते हे। यही चारित्र की या आचरण की आराधना है। चारित्र की गणना तीसरे नम्बर पर आती है। चारित्र की आराधना के विना हमारा ज्ञान और दशन आत्म-विकास की क्रिया मे कुछ भी काम न आ सकेंगे। दूसरे शब्दो मे चारित्र के बिना बहिरात्मा से प्रस्थान करके और अन्तरात्मा की अवस्था को पार करके परमात्मा की स्थिति तक पहुँचने का हमारा प्रयास सफल नही हो सकेगा।

शरीर को जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने के लिए चरण आवश्यक है इसी प्रकार आत्मा को परमात्मा की कोटि तक पहुँचाने के लिए आचरण परमावश्यक है। चरण शरीर का उपकरण है और आचरण आत्मा का उपकरण है। चर् धातु के व्याकरण मे दो अथ बताये है, एक अथ तो इसका गमन करने के लिए होता है और दूसरा भक्षण करने के लिए। 'महाराज साहब आज-कल कहाँ विचरण कर रहे है ?' यहाँ 'चर' गत्यथक है। 'इतनी

देर हो गई वह चरता ही जा रहा है', यहाँ चर का भक्षण या खाना अर्थ है। प्रधान रूप से खाने के अर्थ मे चरने का प्रयोग पशुओ के लिए ही किया जाता है। ठीक इसी प्रकार हमारा जो आचरण है, तपश्चर्या है वह शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मो को चरने वाली या भक्षण करने वाली है। या यो भी कह सकते है कि तपश्चर्या द्वारा सभी प्रकार के कर्मो का नाश हो जाता है।

आरभ से ही हमारा प्रकरण आराधना का चल रहा है। तो उपर्युक्त विवेचन सक्षिप्त रूप मे यही स्पष्ट करता है कि आराधना तीन प्रकार की हुई—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्र आराधना। आराधना करनेवाला आराधक होता है। आराधक के लिए आगम का विधान है

"आणाए आराहए भवइ"

अर्थात्—आराधक की आराधना आज्ञा के पालन मे निहित है।

आज्ञा का पालन आराधना मे इतना आवश्यक है कि साधक उसके लिए गुरु के चरणो मे आत्म समर्पण कर दिया करता है। जब आत्म-समर्पण ही कर दिया तो हमारा अपने मन पर, अपनी वाणी पर, अपने कर्म पर और अपने शरीर पर अधिकार कहाँ रह गया ? प्रत्येक धार्मिक क्रिया का आरभ ही साधक इन शब्दो से किया करता है

"इच्छामि ण भते ! तुब्भेहि<br>अब्भणुण्णाए समाणे"

आपसे अभ्यनुज्ञात होकर ही मैं यह क्रिया कर रहा हूँ या इस क्रिया को करने की इच्छा रखता हूँ। यदि आपकी आज्ञा नही है तो मुझे इसकी इच्छा करने का भी अधिकार नही है।

जब सब कुछ गुरु-चरणो मे समर्पित हो चुका है, ऐसी स्थिति मे आराधना का, नियमो का, क्रियाओ का, जप, तप अनुष्ठान आदि का कोई भी महत्त्व नही रह जाता, महत्त्व रह जाता है केवल गुरु की आज्ञा का। गुरु की आज्ञा का पालक ही सच्चा आराधक होता है। सच्चा आराधक आज्ञा की प्रधानता को लेकर चलता है। बस, इसी मे उसका आत्म-कल्याण है, यही सम्यक्त्व है और सच्चा दृष्टिकोण है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ३१ जुलाई, १९७९

# मुक्ति मे बन्धन या बन्धन मे मुक्ति

जैसा कि हम बहुत दिनो मे कहते आये है, शाश्वत सुखो की प्राप्ति मुक्ति से होती है और मुक्ति का अर्थ है 'बन्धनो का सर्वथा अभाव'। यदि कोई यह सोचे कि बन्धन तो केवल राग द्वेष का होता है और राग-द्वेष से मुक्त हो गये तो बन्धन-मुक्त हो गये, ऐसा नही है, बन्धन का क्षेत्र तो बडा ही विस्तृत है। मर्यादा का भी बन्धन होता है, धम का भी बन्धन होता है, व्रत-पचखाण लेने का बन्धन होता है, वचन का भी बन्धन होता है, प्रतिज्ञा का भी बन्धन होता है—आदि-आदि अनेक प्रकार के बन्धन होते है। बन्धनो के प्रकार तो अनेक है किन्तु आगम-वचनो के अनुसार सब प्रकार के बन्धनो का राग-द्वेष मे समावेश हो जाता है। अब विचार करने की बात यह है कि कौन-से बन्धन वास्तव मे बन्धन है और कौन-से बन्धन वास्तव मे बन्धन नही है, यद्यपि उनका नाम बन्धन अवश्य है। उदाहरण के लिए पचखाण का, सौगन्ध और प्रतिज्ञा का बन्धन, बन्धन नही माना जा सकता। इसका कारण है कि इनमे व्यक्ति की स्वतत्रता निहित है। व्रत, पचखाण, सौगन्ध और प्रतिज्ञा लेने वाले श्रावक इनको अपनी स्वतत्र इच्छा मे लेते है, उन पर किसी भी प्रकार का दबाव नही डाला जाता। शास्त्र मे इस भाव का समर्थन करने वाला विधान है

"इच्छाकारेण"

अर्थात्—मैं जो भी धार्मिक क्रिया करता हूँ, वह अपनी इच्छा से करता हूँ। इस शास्त्र वचन मे दबाव की झलक नही है। कोई पूछे कि प्रधानता आज्ञा की हुई या इच्छा की ? इसका उत्तर है कि प्रधानता तो आज्ञा की ही रहती है किन्तु आज्ञा का पालन भी इच्छा के सद्भाव मे ही होता है, दबाव डालकर नही। आज्ञा से भी काम दो प्रकार से करवाया जाता है—एक तो आज्ञा-पात्र की इच्छा के अनुसार और दूसरा उस पर दबाव डालकर। जहाँ दबाव डालकर काम करवाया जाता है वहाँ करने वाले की इच्छा की उपेक्षा की जाती है। वहाँ तो इच्छा हो चाहे न हो काम करना ही पडता है। अपनी इच्छा

से किया गया काम सुन्दर भी होता है और लाभदायक भी। इच्छापूर्वक जो किया जाता है, उसमे धर्म है, धर्म इच्छा से होता है। धर्म का कोई भी कार्य यदि हम बिना मन के या बिना इच्छा से करते हैं तो वह व्यर्थ होता है। सामायिक है, पौषध है, परिग्रह को कम करना है—ये सारी धार्मिक क्रियाएँ हम अपनी इच्छा से करते हे, किसी के दबाव मे आकर नही। अपनी इच्छा से की हुई क्रिया की गणना व्रत मे हो जाती है। डडे के प्रभाव से की हुई क्रिया व्रत के अतर्गत नही आती। उदाहरण के लिए आप धनवान है, राजा का आदेश आ गया कि आप को इतना धन राजा के खजाने मे जमा कराना होगा, राजदण्ड के भय से आपको आदिष्ट धनराशि राजा को देनी ही पडेगी। यद्यपि उसमे भी परिग्रह कुछ कम ही पडता है किन्तु उसमे धर्म नही है, उसे हम धर्म नही कह सकते। रूस और चीन आदि साम्यवादी देशो मे जब साम्यवाद की स्थापना हुई थी तब प्रजा को राजदण्ड के भय से अपनी ही धन-सम्पत्ति को छोडना पडा था। न छोडते तो मृत्यु थी। यदि आपके पास अधिक है, अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक है, और आप अपनी इच्छा से उसमे से दान के रूप मे दे देते है, अपना परिग्रह कम करते है तो यह धर्म है, क्योकि इसमे आपने अपनी इच्छा से किसी सीमा तक ममत्व का त्याग किया है। यदि कोई बलात् आपको आपके धन-धरती से वञ्चित करता है तो वह पाप का भागी बनता है, अन्तराय कर्म को बाँधता है। इस प्रकार शास्त्रकार कहते है कि अपनी इच्छा से जो किया जाता है वह धर्म होता है और उसका महत्त्व इसलिए होता है कि उस इच्छा का आधार स्वतन्त्रता होती है, परतन्त्रता नही। दबाव से किया गया काम बन्धन होता है, इच्छनुसार किया गया धार्मिक बन्धन का काम बन्धन के दोष से मुक्त रहता है। दबाव से किया गया तो अच्छा काम भी बन्धन बन जाता है। यदि हम किसी को जबरदस्ती से शील का नियम दिलाये, तो शील का नियम तो अच्छा है किन्तु जबरदस्ती के प्रयोग से वह अच्छा भी बुरा एव बन्धन रूप बन जाता है।

इच्छा से दिलाया गया नियम बन्धन से मुक्ति दिलाता है यद्यपि वह भी ऊपर से बन्धन ही प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए हमने किसी को बीडी न पीने के लिए सौगन्ध दिला दी। वह बीडी न पीने के बन्धन मे तो आ गया क्योकि उसके मन मे बीडी पीने की तृष्णा बार-बार जागृत होती है किन्तु सौगन्ध के बन्धन के कारण वह पी नही सकता। सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो वास्तव मे बन्धन तो बीडी पीने का था जिसकी तृष्णा उसको रह-रहकर सता रही है। सौगन्ध बन्धन नही है जिसके कारण वह बीडी नही पी सकता, यद्यपि बाह्य रूप मे सौगन्ध मे बन्धन की प्रतीति होती है। वास्तव मे तो वह जिस बीडी पीने के बन्धन मे या व्यसन मे फँसा हुआ था उससे मुक्त हो गया।

इस प्रकार प्रत्येक व्रत, प्रत्याख्यान या प्रतिज्ञा—ये सब इसलिए बन्धन स्वीकार नही किये जा सकते क्योकि इनके पालन मे इच्छा की स्वतत्रता है। यह ऐसी स्वतत्रता है कि जो परतत्रता के बन्धन को मिटाने वाली है। जिस नियम या प्रतिज्ञा का सम्बन्ध धर्म से है वह बन्धनहीन है। धार्मिक नियमो का पालन करने से तो बन्धन की ग्रन्थियाँ खुल जाती है। नियमो का पालन करने से यदि दस आँटे लगे हुए है तो उसके दो आँटे कम हो जायेंगे और उत्तरोत्तर जैसे-जैसे वह सासारिक पदार्थो का त्याग करता जायेगा, उसके सारे बन्धन ही समाप्त होते जायेंगे। कोई भी बन्धन उसका आवेष्टन नही कर सकेगा। इस प्रकार सक्षेप मे बन्धन राग-द्वष मे है, व्रत-पचखाण आदि धार्मिक क्रियाएँ जिनका आश्रय आत्मकल्याण के लिए लिया जाता है उनकी गणना बन्धनो मे नही की जाती।

उक्त भाव को और स्पष्ट करने के लिए हमारा कहना है कि हमने किसी मर्यादा का, किसी सौगन्ध का या किसी व्रत का समय की निश्चित सीमा तक पालन करने का नियम ले लिया। उस नियम का नियमित रूप से निरन्तर अनेक वर्षो तक हम पालन इस पद्धति से करते रहे कि वह हमारे जीवन का अग बन गया। हमारे मन मे वह ऐसे घर कर गया कि उसके बिना हमें चैन नही पडती और उसकी एक दिन की उपेक्षा से भी हमें अपना दैनिक जीवन अपूर्ण और विस्खलित अनुभव होने लगता है। उदाहरण के लिए हमने सामायिक का ही नियम ले लिया। नियम मे बँधने के कारण हमारा मन उसे किये बिना शान्ति प्राप्त नही करता। इसका कारण यही है कि सामायिक के नित्याचरण से वह हमारे स्वभाव की एक अग बन गई है। अग बनने का अर्थ है कि हम उसका त्याग नही कर सकते, त्याग न करने का अथ है कि हमारा उसके प्रति राग हो गया है। राग का होना तो बन्धन रूप है। साधक को चाहिए कि वह किसी वस्तु के प्रति राग न रखे।

एक बार एक गुरु ने अपने शिष्य से कहा, "तुम जिस धार्मिक क्रिया को चिरकाल से करते आ रहे हो, उसका तो त्याग कर दो और उसके स्थान पर अमुक सन्त की सेवा करो।" इसके उत्तर मे शिष्य ने कहा, "जिस काम को मैं चिरकाल से करता आ रहा हूँ उसके बिना मेरा मन नही लगता, इसलिए मैं तो उसका परित्याग कर ही नही सकता।" किसी तीसरे पास मे खडे व्यक्ति ने कहा, "अरे ऐसा कैसे कहता है, अब तक जो करता आ रहा है, वह भी तो गुरु की आज्ञा से ही करता रहा है। अब गुरु तुम्हारी परीक्षा लेना चाहते है कि तुम्हारा विशिष्ट काम के प्रति मोह तो नही हो गया है, बस इतनी-सी बात है, तुम गुरु की आज्ञा का उल्लघन क्यो करते हो ? गुरु यह जानना चाहते है

कि जो तुम धार्मिक क्रिया कर रहे हो वह आत्मकल्याण के लिए कर रहे हो या दूसरो को अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए कर रहे हो ? इसके अतिरिक्त गुरु यह भी जानना चाहते है कि हमारा शिष्य जो भी धार्मिक क्रिया कर रहा है वह लोगो से प्रतिष्ठा पाने के लिए कर रहा है या लोकैषणा स दूर रहकर कर रहा है। गुरु कोई भी आज्ञा दें, उसका पालन करना शिष्य का धर्म है।" गुरु की आज्ञा का जैनागमो मे बडा महत्त्व है। अरिहन्त-प्ररूपित धम मे इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि गुरु की आज्ञा शिरोधार्य होनी चाहिए क्योकि गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला ही सच्चा आराधक माना जाता है।

आराधक या श्रावक की योग्यता को ध्यान मे रखकर ही धर्म की व्यवस्था की जाती है। यही कारण है कि किसी को कम और किसी को अधिक नियम-पालन का विधान है। जो व्यक्ति स्वय प्रबुद्ध है, विचक्षण है और हानि-लाभ को समझने वाला है, उसके लिए अधिक कायदे कानून बताने की आवश्यकता नही होती। वह स्वय ही ऐसी प्रवृत्तियाँ नही करता जो उसके लिए हानि-कारक हो। वह क्रोध इसलिए नही करता क्योकि वह क्षमा के महत्त्व को भलीभाँति समझता है। साधु भी एक प्रबुद्ध आत्मा है। उससे भी यही आशा रखी जाती है कि वह क्रोध का स्थान क्षमा को दे। परन्तु इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि साधु की क्षमा के पीछे भी कई प्रकार की भावनाएँ हो सकती है। एक साधु यह सोच सकता है कि उसे क्षमा इसलिए करनी चाहिए क्योकि उसके ऐसा न करने से लोग उसकी निन्दा करेंगे। दूसरा यह सोच सकता है कि क्षमा न करने से आत्मा को क्रोध का दाग लगेगा, पाप लगेगा, इसके अतिरिक्त क्रोध का परिणाम भी बडा कडवा होता है, पता नही कितने समय तक भोगना पडेगा। तीसरा यह सोच सकता है कि क्रोध करने से खून मे उफान आता है और परिणामस्वरूप खून पानी मे भी परिवर्तित हो सकता है जिसका अर्थ है जीवन का अन्त। विवेकशील, ज्ञानवान सन्तात्मा क्रोध न करने का चिन्तन और प्रकार से करता है। वह सोचता है, "मेरा वास्तविक स्वभाव तो क्रोध नाम के विकार से रहित है। क्रोध करना तो विभाव है। मोह कर्म के उदय होने से ही क्रोध आया करता है। कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली वस्तु आत्मा की नही हो सकती। मैं तो निजात्म मे स्थित हूँ। मैं कर्म के उदय की कठपुतली नही हूँ। किसी के भडकाने से मैं भडकने वाला नही हूँ।"

इस प्रकार क्षमा करने वाले साधको के या क्रोध न करने वाले श्रावको के भाव भी अलग-अलग प्रकार के हो सकते है। तो हम आपसे कह रहे थे कि चिरकाल से अभ्यस्त क्रिया हमारे स्वभाव की अग बन जाती है। कई बार ऐसी भी स्थिति आती है कि हमको उसे छोडना पडता है। यदि उसके त्यागने

की सामर्थ्य हो तो वह बन्धन रूप नही बनती। यदि गुरु की आज्ञा के सद्भाव मे भी उसको छोडा नही जा सकता तो वह, भले ही कैसी भी धार्मिक क्रिया हो, बन्धन बन जाती है। इसका कारण है कि साधक का उस पर राग हो जाता है। धर्म के जो प्रवर्तक थे उन्होने तो धर्म के ऊपर भी राग नही रखा, धर्म की क्रियाओ की तो बात ही क्या है। धर्म को किसी व्यक्ति-विशेष ने पैदा नही किया। तीर्थकरो ने भी धर्म का प्रतिपादन किया है उसको उत्पन्न नही किया। धर्म तो अनादिकाल मे चला आ रहा है। इसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को भी किसी ने पैदा नही किया।

शास्त्रो मे उल्लेख है कि एक बार भगवान् से किसी ने प्रश्न किया कि "सम्यक्त्व की उत्पत्ति पहले हुई अथवा मिथ्यात्व की ?"

भगवान् ने इसका उत्तर देते हुए कहा, "किसी व्यक्ति की अपेक्षा से देखा जाये तो पहले मिथ्यात्व था और तत्पश्चात् सम्यक्त्व आया।" कोई भी आत्मा पहले से या अनादिकाल से मिथ्यात्वी होता है। सम्यक्त्व की स्थिति तो बाद मे आती है। सम्यक्त्वी पैदा नही होते, मिथ्यात्व का त्याग करने वाले ही साधना द्वारा सम्यक्त्वी बनते है। इसी प्रकार धार्मिक लोग पैदा नही हुआ करते, धर्म की आराधना करने से धार्मिक बनते है। साधु, श्रावक, ब्राह्मण, क्षत्रिय—आदि सब जन्मते नही किन्तु कर्म के द्वारा बनते है। सब आत्माओ की अपेक्षा से देखा जाये तो न मिथ्यात्व पहले का है और न ही सम्यक्त्व बाद का। जब से सम्यक्त्व की सत्ता है तभी से मिथ्यात्व की। अनादिकाल की अपेक्षा से भी कोई पहले और बाद का नही है। पहले यदि सम्यक्त्व ही होता तो मिथ्यात्व के अभाव मे हम उसे सम्यक्त्व कहते ही कैसे ? दोनो की सत्ता एक-दूसरे पर निभर है, या यो कहो कि दोनो शब्द अन्योन्याश्रित है।

तो हम कह रहे थे कि धर्म किसी का बनाया हुआ नही है, यह तो तीर्थ-करो द्वारा बताया हुआ धम है। धर्म के सब विधि-विधानो को तीर्थकरो ने अभिव्यक्तिमात्र दी है, उनकी निष्पत्ति नही की है। कुछ लोग इस धम की आराधना 'यावज्जीव' अर्थात्—जीवन पर्यन्त करते है। जीवन की समाप्ति पर उनकी सारी धार्मिक मर्यादाएँ भी समाप्त हो जाती है। कुछ आत्माएँ ऐसी भी होती है जिनको मर्यादाओ का दीघकाल तक पालन करना ही नही पडता। आठ प्रकार के कर्मो के क्षय से केवल ज्ञान प्राप्त हो गया, मुक्त हो गये। मुक्ता-वस्था मे आत्मा निष्क्रिय हो जाता है। उसको किसी भी प्रकार का पुण्य-पाप नही लगता। वह सामर्थ्यवान कहलाता है। ऐसे ही मुक्तात्मा के लिए कहा गया है

**"समरथ को नहि दोष गुसाईं"**

मुक्तात्मा तो कुछ करते नही अत वे दोष के भागी नही बनते किन्तु ऐसी

धारणा—कि जीव ससार के कामो में उलझा रहे और फिर भी उसके लिए यह धारणा बनाई जाये कि उसको कोई दोप नही लगेगा, उसको कोई कम का वन्धन नही होगा - सर्वथा मिथ्या है। जो कम करेगा वह राग से मुक्ति नही पा सकता, बिना राग से मुक्ति के मुक्तावस्था सभव नही है।

कोई व्यक्ति राग का पोषण करता हुआ यह कहे कि अमुक काम तो मेरे बिना हो ही नही सकता, यह तो मुझे करना ही पडेगा तो उसकी यह धारणा सर्वथा भ्रामक है। कोई भी काम जो होना होता है वह तो होता ही है, मनुष्य तो उसमे एक निमित्त बनता है। जब सब जनता के उद्धार का समय आता है तो तीर्थंकरो का जन्म हो जाता है। उस समय प्रान्त और देश के अनेक जनो को तिरने का योग मिल जाता है। जो भी काम होता है उसमे दो बातें रहती है एक मुख्य और एक गौण। किन्तु काम के सम्पादन मे केवल दो ही चीजें नही होती किन्तु पाँच होती है, ऐसा शास्त्र मे उल्लेख है। एक तो होता है—काल। काम के होने का जब समय आता है तभी काम होता है, अन्यथा नही। दूसरा होता है—स्वभाव। जैसा जिसका स्वभाव होगा वैसा ही फल लगेगा। तीसरी बात है—नियति, जिसको होनहार के नाम से भी जाना जाता है। फल लगने का योग होता है तभी फल लगा करता है, अन्यथा नही। पुरुष मात्र नियति के सहारे नही बैठ सकता। वह कार्यसिद्धि के लिए पुरुषार्थ, उद्योग और अन्य सभी प्रकार की क्रियाएँ किया करता है। परन्तु उसके पुरुषाथ और उद्योग के सद्भाव मे भी यदि सफलता उसे नही मिल पाती तो यही समझना चाहिए कि नियति को सफलता मजूर नही है।

इस प्रकार पाँच बातो के एकत्र होने को समवाय कहते हैं। ये पाँचो बातें समवाय के रूप में एकत्र होती है तभी कार्य मे सफलता मिलती है। इन पाँचो बातो मे एक बात भी प्रमुखता का स्थान नही रखती, सबका सयोग होना ही अपेक्षित होता है।

उदाहरण के लिए इस मकान को ही लीजिये। इसका निर्माण किसी एक वस्तु से तो नही हुआ। चूना, पत्थर, लोहा, ककर आदि अनेक वस्तुओ का समवाय है इसमे। उक्त सारी वस्तुओ के ढेर लगाने मे भी मकान नही बन जाता, सबके यथास्थान प्रयोग से और निर्माता के चतुराई पूर्ण विधि विधान से ही निर्माण होता है। इस प्रकार हमारा कहने का अभिप्राय है कि वस्तुओ के उचित सयोग और सुचारु रूप के प्रयोग से किसी वस्तु का निर्माण है। तीर्यंकरो को केवल दशन और केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। मानव, देव, पशु-पक्षी आदि अनेक प्रकार के प्राणी वहाँ एकत्रित हो गये। सबका समवाय और भाषा-वगणा के पुद्गल आदि सब योगो के उपस्थित होने पर ही उन्होने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया। पहले उन्होने स्वय छद्मस्थावस्था मे जप, तप आदि

की साधना की। उन्होने धर्म के वास्तविक स्वरूप को अनेक प्राणियो के समक्ष अभिव्यक्त किया। धर्म की अभिव्यक्ति के सद्भाव मे भी उनके मन मे धर्म के प्रति राग विद्यमान नही था। वे तो वीतराग थे। राग से परे थे। वे इस प्रकार की चिन्ता से भी सवथा मुक्त थे कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म आगे चलेगा भी या नही। यदि नही चलेगा तो उसके लिए क्या प्रयत्न होना चाहिए इत्यादि सासारिक बातो से वे सवथा मुक्त थे। यदि मुक्तावस्था को पहुँचा हुआ आत्मा भी इस प्रकार की चिन्ता करेगा तो उसे मुक्त कैसे समझा जा सकता है।

सम्यक् दृष्टि रखनेवाला तभी तक सासारिक वस्तुओ के साथ सम्बन्ध रखा करता है जब तक उसकी आत्म-कल्याण की साधना चरम सीमा तक नही पहुँच जाती है। उसके पश्चात् ससार से उसके सम्बन्ध समाप्त हो जाते है। मुक्तात्मा एक बार ससार से मुक्त होकर पुन उसकी ओर प्रवृत्त नही हुआ करते, जैसी कि कुछ धर्मों की धारणा है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १ अगस्त, १९७९

२५

# क्या श्रद्धा मुक्ति की सोपान है ?

मुक्ति शाश्वत सुखो की जननी है। जब तक आत्मा बन्धन मे है, सुख की आशा करना उसके लिये व्यर्थ है। सुख प्राप्ति के लिए बन्धन-मुक्त होना परमावश्यक है और बन्धन-मुक्ति के लिए धर्म की आराधना जरूरी है। धर्म की आराधना के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता तो शुद्ध दृष्टिकोण की है। शुद्ध दृष्टिकोण को हम दूसरे शब्दो मे सम्यक्त्व की प्राप्ति कह सकते है। त्याग, व्रत, पचखाण के अभाव में भी यदि यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक वस्तु जानने योग्य है, अमुक वस्तु त्यागने योग्य है और अमुक वस्तु आदरने योग्य है—तो इसका बडा महत्त्व है। महत्त्व इसलिए कि व्यक्ति के शुद्ध श्रद्धान की झलक उसमे रहती है। श्रद्धान होगा तो व्यक्ति अपने दृष्टिकोण की बातो को जीवन में उतारेगा। आचरण से पूर्व ज्ञेय, हेय और उपादेय को समझना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति किसी की बातो में आकर, किसी की युक्तियो से प्रभावित होकर या बहकावे मे आकर अपने श्रद्धान का त्याग नही करता, उसकी मान्यता को दृढ समझना चाहिए। उस व्यक्ति की श्रद्धा और विश्वास प्रशसनीय समझने चाहिए। क्रियात्मक रूप मे उस व्यक्ति ने भले ही किसी वस्तु का त्याग न किया हो, छोडने लायक वस्तु को आशिक रूप मे भी न छोडा हो और आदरने लायक का आशिक रूप में भी आदर न किया हो परन्तु उसका विश्वास यदि दृढ है तो देवता क्या ससार की कोई भी शक्ति उसे उसकी मान्यता से विचलित नही कर सकती। इसी को सम्यक्त्व कहते है और इसी का नाम है श्रद्धा। यह कहना कि व्रत, पचखाण के अभाव मे कोरी श्रद्धा किस काम की, ठीक नही है क्योकि यदि श्रद्धा ही शिथिल है तो व्रत, पचखाण किस काम के ? वे किसी समय भी किसी के बहकावे मे आकर शिथिल पड सकते हैं। उनका कुछ भी फल मिलने वाला नही है। व्रत, पचखाण के अभाव मे भी दृढ मान्यता रखने वाला ही यह सोच सकता है कि, "त्यागने योग्य को त्यागे बिना और आदरने योग्य को आदरे बिना मुझे सुख की प्राप्ति नही हो सकती। वह दिन मेरे लिए परम कल्याणकारी होगा जिस दिन मैं त्यागने

लायक को त्याग दूँगा और आदरने लायक का आदर करूँगा।" इस प्रकार की दृढ मान्यता का ही दूसरा नाम श्रद्धा है। मारवाडी भाषा मे इसे 'सरधा' कहते है। मनुष्य मे 'सरधा' होगी तभी तो वह कुछ कर सकेगा, सरधा नही है तो वह कुछ भी नही कर सकेगा। बीमारी आती है तो सरधा चली जाती है। बीमारी के मिटने के बाद भी सरधा एकदम नही आ जाती। यहाँ 'सरधा' शब्द शक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। सरधा का महत्त्व आपकी समझ मे आ गया होगा। सरधा शक्ति है तो सब कुछ है, सरधा नही है तो कुछ भी नही है। इस ससार मे शक्तिहीन को कौन पूछने वाला है ? इस सरधा का सम्बन्ध शरीर से है। यह वह सरधा है जो बीमारी आने से कम पड जाती है, बुढापा आने से न्यून हो जाती है, पौष्टिक आहार के अभाव मे घट जाती है और पथ्यपूर्वक जीवन का सचालन न करने से चली जाती है। शारीरिक श्रद्धा के अभाव मे शक्ति, पौरुष और उद्यम सब नाकामयाब हो जाते है। ठीक इसी प्रकार दृढ विश्वास या स्थिर रहने वाली मान्यता आत्मा की श्रद्धा होती है। त्यागने लायक को त्याग देना, आदरने लायक को आदरना—इस दृढ श्रद्धा या विश्वास के बिना आत्मकल्याण सम्भव नही है।

जो छोडने लायक है वह किसी भी अपेक्षा से ग्राह्य नही हो सकता। यहाँ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त लागू नही होता। स्याद्वाद का सिद्धान्त वहाँ घटित होता है जहाँ पारस्परिक विरोध नही होता किन्तु वस्तुओ मे विरोध की प्रतीतिमात्र होती है। जैसे किसी ने कहा कि "क्षमा करने से आत्मा का कल्याण होता है।" बात बिल्कुल ठीक है। दूसरे ने कहा, "क्षमा के साथ व्यक्ति निर्लोभ भी हो तब आत्मकल्याण सभव है, अकेली क्षमा से काम नही चल सकता।" यह बात भी सत्य है। क्षमा और निर्लोभता की आत्मकल्याण के लिए इसलिए अवश्यभाविता हो सकती है क्योकि ये दोनो तत्त्व पारस्परिक विरोधी नही है। यहाँ निस्सन्देह अनेकान्तवाद लागू होता है परन्तु कोई यह कहे कि "अकेली क्षमा को लेकर चलने वाला व्यक्ति तो एकान्तवादी होगा, क्रोध करने से भी आत्मकल्याण होता है, ऐसा मानने से ही अनेकान्तवादी बना जा सकता है।" यह बात मानने योग्य नही, यह तो अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के विपरीत है। इसका कारण है कि अनेकान्तवाद सर्वथा विरोधी बातो का समन्वय नही करता। अनेकान्तवाद तो वही घटित होता है जहाँ दो वस्तुएँ एक-दूसरे की पूरक हो। अनेकान्तवाद की व्यवस्था सहायक तत्त्वो मे सामजस्य स्थापित करती है। जहाँ मूल तत्त्वो मे ही पारस्परिक विरोध होगा वहाँ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का उपयोग नही किया जा सकता। कोई कहे कि तुम तो ब्रह्मचर्य को ही धर्म मानकर चलते हो, इसलिए एकान्तवादी हो, तुम्हे अनेकान्तवादी बनने के लिए तो मैथुन को भी धर्म मानना चाहिए, ऐसा

अनेकान्तवाद तो मिथ्या अनेकान्तवाद है। यह इसलिए कि ब्रह्मचर्य और मैथुन —ये तो दोनो विरोधी तत्त्व है। हाँ, यदि कोई कहे कि तुम अकेले ब्रह्मचर्य को लेकर क्यो चलते हो, आत्मकल्याण के लिए सन्तोष नाम के तत्त्व को भी साथ लेकर चलो, तब यहाँ अनेकान्तवाद का सिद्धान्त लागू हो सकता है। इसी प्रकार कोई कहे कि अकेले ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही आत्मकल्याण नही होता यह तो एकान्तवादी होने वाली बात है, साथ साथ परिग्रह का भी त्याग होना चाहिए तभी साधक अनेकान्तवादी बन सकता है—उक्त कथन मे भी वास्तविकता है क्योकि आत्मकल्याण के लिए सन्तोष और अपरिग्रह ये ब्रह्मचर्य व्रत के विरोधी नही किन्तु उसके पोषक है। यहाँ अनेकान्तवाद का सिद्धान्त लागू हो जाता है।

तो हमारा प्रसग चल रहा था आत्मा की श्रद्धा का कि आत्मिक श्रद्धा इतनी दृढ होनी चाहिए कि साधक को कोई भी व्यक्ति बातो मे फँसाकर या फुसलाकर उसे श्रद्धा से डिगा न सके, विचलित न कर सके और पतित न कर सके। जो श्रावक इस प्रकार की दृढ श्रद्धा का धनी है वह किसी न किसी समय अनुकूल वातावरण पाकर क्रिया अवश्य करेगा। धर्म मे प्रवृत्ति भी करेगा और व्रत-नियमो को लेकर उनका पालन भी करेगा। इसीलिए मूल वस्तु श्रद्धा है। मारवाडी भाषा मे इसी भाव को व्यक्त करने वाली एक कहावत है

"हर बिना गाँवतरो कोनी होवे"

अर्थात्—मन के अन्दर यदि लगन होगी कि हमे वहाँ जाना है, तो निश्चित ही किसी दिन हमारे कदम उस ओर बढ ही जायँगे। यदि हम उस हर से, लगन से या श्रद्धा से ही हीन है तो हमारी प्रवृत्ति उस ओर कदापि नही हो सकेगी। अतएव श्रद्धा की दृढता और दृष्टिकोण की निर्मलता—ये धार्मिकता के पूर्व लक्षण है। यह प्रथम प्रकार के धर्म की आराधना है।

दूसरे प्रकार मे, आशिकरूप मे या सामान्य रूप मे छोडने लायक को छोडा जाता है और आदरने योग्य को ग्रहण किया जाता है। इतना ग्रहण करना जैसे कि सागर में से एक बिन्दु और छोडना भी बिन्दु की मात्रा का ही। इसको कहते है श्रावकधर्म। साधु बीस बिस्वा दया, बीस बिस्वा सत्य, बीस बिस्वा अदत्तादान, बीस बिस्वा ब्रह्मचर्य और बीस बिस्वा ही अपरिग्रह —इन पाँच महाव्रतो को धारण करता है। इस प्रकार उसकी क्रिया तो शत-प्रतिशत हो गई किन्तु श्रावक के हिस्से मे तो सेवा छह प्रतिशत क्रिया ही आई। श्रावक ने तो त्यागने लायक समुद्र मे से केवल बिन्दुमात्र का ही त्याग किया और ग्रहण करने योग्य मे से भी उसने बिन्दु मात्र का ही ग्रहण किया। इसी अल्पग्रहण और अल्पत्याग के कारण श्रावक को 'देशविरति' कहते है। उसने

तो विरमण आंशिकरूप से किया। यह धर्म की आराधना का दूसरा प्रकार है।

धर्म की आराधना का तीसरा प्रकार है 'सर्वविरति'। इसमे जो त्यागने लायक होता है, वह सभी त्याग दिया जाता है और जो आदरने लायक होता है, वह आदर लिया जाता है। इतना करने के पश्चात् भी साधक को प्रमाद के कारण से, असावधानी के कारण से और योगो की चचलता के कारण से थोडा बहुत दोष लग ही जाता है। यह सब गुणस्थान के प्रमादी होने के कारण होता है। अप्रमत्त अवस्था तो थोडे से समय के लिए ही आया करती है। वह तो अस्थायी है। प्रमादावस्था चिरकाल तक बनी रहती है। धम की आराधना की यह तीसरी श्रेणी है जिसमे 'सर्वविरतिपन' है। प्रत्याख्यानी का चौक इसमे समाप्त हो जाता है।

अनन्तानुबन्धी का चौक समाप्त होते ही सम्यक्त्व मे दृढता आ जाती है। यह शुद्ध श्रद्धा की अवस्था होती है। अप्रत्याख्यानी का चौक समाप्त होने से उसकी देशविरति मे प्रवृत्ति होती है और प्रत्याख्यानी का चौक समाप्त होने से साधक साधु बन जाता है। चौको की सख्या चार है, तीन का विवरण समाप्त हो गया। चौथा चौक है 'सज्वलन'। सज्वलन की व्याख्या करते हुए आगमकार कहते है कि साधु को साधना करते समय, तप और जप करते समय, क्रियानुष्ठान के समय कुछ उपसग होते है, कुछ क्रिया मे बाधाएँ पडती है। उस समय मन मे थोडा-सा मलिन भाव आ जाता है। इसको रागभाव की अवस्था भी कह सकते है। इन उपसर्ग और बाधाओ के समय जो मन मे विकृति आती है वह अल्प होते हुए भी वीतराग की अवस्था मे हानि पहुँचाती है। साधक का भाव भले ही अपने लिए न हो, धम के लिए हो या धर्माराधको के लिए हो तो भी वीतरागावस्था मे वह बाधक तो होता ही है। साधक मे ऐसा भाव आना उसके हृदय मे राग की सत्ता का द्योतक है। इसका अर्थ दूसरे शब्दो मे यह हुआ कि उसके मन मे धर्म शत्रुओ के प्रति द्वेष की भावना है और धर्माराधको के प्रति राग की भावना।

शास्त्रकारो ने इस धार्मिक परिस्थिति पर भी प्रकाश डाला है। साधु की निन्दा एक तो स्वमतावलम्बी करते है और दूसरे परमतावलम्बी करते है। दोनो उसके निन्दक है। ऐसे लोगो को शास्त्रकारो ने चार भागो मे बाँटा है। जो साधु स्वमति और परमति दोनो द्वारा दिये जाने वाले उपसर्गो को समभाव से सहन करता है वह सर्वाराधक कहलाता है। जो साधु न तो स्वमति द्वारा की गई आलोचना को सहन करता है और न ही परमति द्वारा की गई आलोचना को, उसको सवविराधक के नाम से जाना जाता है। तीसरे प्रकार का साधु वह होता है जो परमतावलम्बियो द्वारा की गई टीका-टिप्पणी को तो सहन नही करता किन्तु स्वमतावलम्बियो द्वारा दिये जाने वाले उपसर्गो

को सहन कर लेता है, ऐसे साधु को शास्त्रकार देश-आराधक कहते हैं। जो परमतावलम्बियो द्वारा की गई निन्दा को तो सहन कर लेता है किन्तु स्वमतावलम्बियो को नही, उसे देश-विराधक कहते है ।

देश-आराधक को बडा समझना चाहिए या देश विराधक को ? देश-विराधक का अर्थ है कि थोडे अशो मे तो वह विराधक है और बहुत अशो मे आराधक है। देश आराधक का अर्थ है कि थोडे अशो मे तो वह आराधक है और बहुत अशो मे विराधक है। अब इन दोनो मे कौन-सा अधिक प्रशस्त है ? इसका उत्तर यही है कि देश-विराधक श्रेष्ठ है क्योकि वह थोडे ही अशो मे विराधक है, शेष अशो मे तो आराधक है ही। परमतावलम्बी जो साधु की निन्दा करते है, टीका-टिप्पणी करते हे और उपसर्ग देते है उनको तो वह इसलिए सहन कर लेता है क्योकि वह जानता है कि वे अज्ञानी है, बोधहीन है और वस्तुस्वरूप के ज्ञान से वचित है। ऐसे आलोचको को वह क्षन्तव्य समझकर क्षमा कर देता है। किन्तु अपने व्यक्तियो की आलोचना को वह सहन नही करता। उसका स्वमतालम्बियो की आलोचना सहन न करना इस बात का द्योतक है कि उसके चारित्र मे किसी भी प्रकार की त्रुटि नही है। स्वमतालबियो द्वारा दिये जाने वाले उपसर्गो के लिए की जाने वाली निन्दा को वही व्यक्ति सहन करेगा, जिसके चारित्र मे कुछ न कुछ त्रुटि है, जिसका साधक-जीवन कलकित है। इसलिए शास्त्रकार कहते हे कि स्वमतावलम्बियो द्वारा की गई टीका-टिप्पणी को सहन कर लेना साधु के लिए उचित नही है। उसका ऐसा करना उसकी क्रिया क अन्दर दोष का सूचक है। यह है चार भागो वाली चौभगी (१) सर्वाराधक, (२) सर्वविराधक, (३) देश आराधक और (४) देश-विराधक।

शास्त्र का कथन है कि 'सज्वलन' के चौक मे अपने सयम के प्रति, अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति साधक का राग रहता है। राग के कारण वह दूसरे की बात को सहन नही करता। धर्म की निन्दा को वह सहन नही करता और धर्म की टीका-टिप्पणी को भी वह सहन नही करता। वह यह भी सहन नही करता कि चलते हुए बैल को व्यर्थ मे ही आर चुभाई जाये। इस तरह के राग के भाव को भी शास्त्रकारो ने वीतरागता मे बाधक माना है। इस प्रकार के राग से इस बात का भी पता चलता है कि साधक का मोहनीय कर्म पूर्णरूप से समाप्त नही हुआ है। शास्त्रकार कहते है

"स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्य ।"

अर्थात्—जिसका हृदय ज्ञान और चारित्र से युक्त है किन्तु हृदय के अन्दर स्नेह का अनुबन्ध है, ज्ञान और चारित्र के प्रति तथा धर्म के प्रति भी रागभाव है, तो

वह प्रशसनीय नही कहा जा सकता। इस पर एक दृष्टान्त स्मरण हो आया है

"दीपक प्रकाश करता है और अन्धकार का नाश करता है। उस प्रकाश का आधार तो तेल है। तेल तो दुख है, तेल तो स्नेह है, तेल चिकना है और चिकनेपन को ही शास्त्रीय भाषा मे राग कहा जाता है। आसक्ति इसी का दूसरा नाम है। एक नीतिकार का कथन है

**यस्य स्नेहो भय तस्य, स्नेहो दुखस्य भाजनम्।**
**स्नेहमूलानि दुखानि, यानि त्यक्त्वा सुख भजेत्॥**

अर्थात्—

जहा स्नेह है वहा चिकनाहट है, वहाँ भय है। इस प्रकार स्नेह तो दुख का कारण है। ससार मे जितने भी दुख है वे सारे के सारे स्नेह के कारण ही होते हैं। इसलिए मानव, जो उन दुखो से मुक्ति चाहता है, उसे चाहिए कि वह स्नेह का त्याग कर दे।

बालू और राख बिल्कुल रूखे होते है। उनमे चिकनाहट का अभाव होता है। चिकनाई को बालू और राख से साफ किया जाता है। बालू और राख दुख रूप नही है। सरसो या तिल जिसमे कि चिकनाई है उन चिकनाई वाली वस्तुओ को घानी मे डाला जाता है और कोल्हू द्वारा पेला जाता है। स्नेह के कारण ही उन वस्तुओ को पिलना पडा। दीपक जलता है, प्रकाश करता है, तेल के आधार पर। अन्धकार का नाश करके और प्रकाश प्रदान करके उसने पैदा क्या किया ? पैदा किया काजल। काजल तो अच्छा नही है, वह तो काला है परन्तु कवि की कवित्व की भाषा मे काजल को भी यदि अनुकूल पात्र मिल जाये तो वह भी अपना कम महत्त्व व्यक्त नही करता। किसी कवि ने ठीक ही तो कहा है

**सगत शोभा पाइये, साँच कहे कवि बैन।**
**वो ही काजल ठीकरी, वो ही काजल नैन॥**

अर्थात्—

जब तक काजल ठीकरी के ऊपर है, तब तक लोग उससे परहेज करते है। उससे इसलिये दूर रहना चाहते है कि कही वस्त्र को लग गया तो काला कर देगा। वही काजल जब ठीकरी से अलग होकर किसी सुन्दरी की आँखो मे बडी चतुराई से आजा जाता है तो लोग कहने लगते है "दो बिल्लियाँ लडते-लडते कुए मे पड गयी।" अधिक काजल डाला हुआ भद्दा लगता है, इसी भाव को उक्त आलकारिक भाषा मे कहा गया है। काजल डालना भी हर एक को नही आता। सोलह शृगारो मे इसको भी एक कला माना गया

है। इस प्रकार आँखो की सगति पाकर ही काजल ने शोभा प्राप्त की। एक आचार्य की इस पर उक्ति है

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञान चारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्य ।
दीप इव आपादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ।।

अर्थात्—
दीपक प्रकाश फैलाता है और अन्धकार का नाश करता है किन्तु तैला धारित होने मे स्नेह-चिकनाई का उसमे तत्त्व है, इसी कारण इतना अच्छा काम करने पर भी वह कज्जल ही पैदा करता है।
इसी भाव की पुष्टि करते हुए एक अन्य कवि ने कहा है

यादश भक्षयेदन्न तादृश जायते मन ।
दीपो भक्षयते ध्वान्त कज्जल च प्रसूयते ।।

अर्थात्—
मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है। दीपक को देखो, उसका आहार अन्धकार है और परिणामस्वरूप वह काजल ही पैदा करता है। "जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन" यह उक्ति भी इसी उक्ति से निकली प्रतीत होती है।

इसी तरह अनेक प्रकार के प्रत्याख्यान एव तप की क्रियाए होने पर भी यदि उनके प्रति राग है, स्नेह है, तो वह सयम 'सराग सयम' कहलाता है। सराग-सयम वीतरागता मे बाधा पहुँचाने वाला होता है। सरागता के अस्तित्व मे सर्वज्ञता का आना कदापि सभव नही होता। सर्वज्ञता के बिना साधना की सिद्धि को कैसे सफल माना जा सकता है? जब वीतरागता आती है उस समय साधक का किसी भी वस्तु के साथ लगाव नही रह जाता। इसी जन्म मे यदि कोई धर्म की निन्दा करता है, अपनी निन्दा करता है या अपने अनुयायियो की निन्दा करता है तो उस वीतराग या सर्वज्ञ के मन मे किसी प्रकार का निन्दक के प्रति पक्ष या विपक्ष का भाव उत्पन्न नही होता। यद्यपि उनके शरीर की सत्ता विद्यमान रहती है। वे दैनिक सभी प्रकार के काम करते है किन्तु अन्तर मे निष्काम भावना होने के कारण उन पर उनके कार्यो का भी प्रभाव नही पडता, इसका कारण यही है कि वे वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त कर चुके हैं। उनको कोई कुछ भी कहे, उनके साथ कैसा ही व्यवहार करे, उनके द्वारा प्रतिपादित धम का चाहे कोई खण्डन करे, मण्डन करे और उनके भक्त की चाहे कोई हत्या भी कर दे, वे सदा अनासक्त भाव मे लीन रहते है। भगवान् महावीर के सामने ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूति नाम के मुनि

गोशाले की तेजो लेश्या के शिकार बन गये थे किन्तु इस मार्मिक घटना से भी भगवान् तनिक भी विचलित नही हुए। इस वीतरागता और सर्वज्ञता की अनुपलब्धि की अवस्था मे ही उन्नतिशील आत्मा को वापस ससार में अवतार लेना पडता है और यह कहना पडता है

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ।।
उपकाराय साधूनामपकाराय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थं च सभवामि युगे-युगे ।।

भगवद्गीता, ४, ७/८

अर्थात्—

जब-जब ससार मे लोगो की धर्म के प्रति घृणा होती है और अधर्म अपना सिर ऊचा उठाने लगता है, उस समय मैं अवतार के रूप मे ससार मे आता हूँ। आकर साधु या सज्जनात्माओ का उपकार करता हूँ और दुष्टो को दण्ड देता हूँ। धर्म की स्थापना मैं युग-युग मे इसी प्रकार अवतरित होकर किया करता हूँ।

अवतार का अर्थ है 'अवतरण'। अवतरण—अर्थात् नीचे उतरना। जैन सिद्धान्त मे अवतारवाद का कोई स्थान नही है। यहाँ तो 'उत्तार' अर्थात् ऊँचा चढने का महत्त्व है। जब आत्मा का उत्तार—उत्थान हो जाता है तो फिर वह किसी भी परिस्थिति में नीचे नही आया करता या दूसरे शब्दो मे उसको नीचे आने की आवश्यकता नही रह जाती। शाश्वतिक उत्थान व उन्नति के लिए ही ये सारी की सारी धार्मिक क्रियाएँ की जाती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) २ अगस्त, १९७९

२६

# वस्तु स्वरूप और अज्ञानवाद

शाश्वत सुखो की प्राप्ति का अधिकारी जीव है। जो अजीव है या जड है, उसको सुख-दु ख की अनुभूति नही हुआ करती। जीव चेतन है और अजीव जड है। चेतन के सामने सुख की परिस्थितियाँ आती हैं तो उसको सुख का अनुभव होता है और दु ख की परिस्थितियाँ आती हे, तो उसे दु ख का अनुभव होता है। सामान्यरूप से जीव की सुख दु खानुभूति परिस्थितियो पर अवलबित नही है क्योकि परिस्थितियाँ तो अजीव के सामने भी आती है किन्तु अजीव मे चैतन्य के अभाव में जानने की एव सवेदना करने की शक्ति नही है। जीव के पास चेतना शक्ति के कारण ज्ञान भी है, दर्शन भी है—इसलिए उसको सुख दु ख की अनुभूति होती है। जीव मे निरन्तर सुख-दु ख भोगने के कारण कभी-कभी यह भाव भी पैदा हो जाया करता है कि जो सुख वह भोगा करता है वह तो अस्थायी सुख है, स्थिर सुख तो उसे कभी मिला ही नही। जो कुछ वह सुख के रूप मे भोग रहा है, उस सुख की कडी निरन्तर तो चालू रहती नही। कभी सुख मिलता है तो कभी वह पुन पूणरूप से दु खी हो जाता है। जो सुख उसे मिलता रहता है वह उसके ही उद्यम या प्रयत्न का परिणाम रहा है। यदि वह अधिकतम पुरुषार्थ या प्रयत्न करे तो क्या उसका सुख स्थिरता ग्रहण नही कर सकता? सुख की स्थिरता से उसके दु ख का सदा के लिए अन्त भी हो सकता है। वह यह भी सोचने लगता है, "ऐसा भी सुना जाता है कि कुछ आत्माएँ ऐसी भी होती है जिन्हे भूत, वर्तमान और परोक्ष का सभी ज्ञान होता है और वे सर्वज्ञ कहलाती हैं। वे ज्ञान की ऐसी स्थिरता प्राप्त करने मे समर्थ हो जाती हैं कि अज्ञानता फिर लौटकर उनके पास आती ही नही। पूर्णज्ञान-प्राप्ति के पूर्व, आखिर उन्होने अज्ञान का अत्यन्ताभाव किया होगा, तभी तो पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो पाई।"

इस प्रसग मे यह बता देना परमावश्यक है कि नाश दो प्रकार का होता है—एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। उदाहरण के लिए एक झाड है, उसके मिटाने के लिए यदि उसके पत्ते झाड दिये जायें तो वे पत्ते पुन आ जाया करते

हैं। वह पुन पूर्ववत् लहलहान लगता है। यदि उसे नष्ट करने के लिए उसकी जड मे कोई घातक पदार्थ डाल दिया जाये तो जडो को पोषण-तत्त्व न मिलने के कारण वह धीरे-धीरे स्वय नष्ट हो जायेगा। पोषण का अभाव ही शोषण है और शोषण का परिणाम ही विनाश है। घातक पदाथ के डालने से जब मूल ही विनष्ट हो जाता है तब बाहरी पत्तो की, फूलो की और फलो की सभावना ही नही रह पाती। इसी प्रकार कोई सर्वज्ञ बनने की इच्छा रखता है, उसे सर्वप्रथम अज्ञान को जड-मूल से नष्ट करना होता है। अज्ञान का अस्तित्व यदि अल्प मात्रा मे भी अवशेष रह गया तो वह एक दिन समय पाकर ज्ञान को नष्ट कर सकता है। वस्तु के स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है और इस अज्ञान का परिणाम है वस्तु के प्रति राग का होना या द्वेष का होना। वस्तु के स्वरूप को जानने के पश्चात् राग द्वेप की उत्पत्ति रुक जाती है। आप एक भी वस्तु का नाम नही बता सकते जिसके स्वरूप को जान लेने के बाद आपने उसके प्रति राग किया हो। आप राग, प्रेम या मोहब्बत किस पर करते हो और किस कारण से करते हो! उदाहरण के लिए कोई रूपवती स्त्री है, उसके सौन्दर्य के कारण आपका उस पर राग है। इसी तरह धन है जिससे आपकी जीवन की आवश्यकताएँ पूरी होती है, उस पर आपको राग है। यह राग आपको क्यो आता है, इसका कारण आपमें वस्तु-स्वरूप की अज्ञानता है। आप यह भूल जाते है कि रूप सदा एक-सा रहने वाला तत्त्व नही है। ज्यो-ज्यो मनुष्य की आयु ढलती रहती है त्यो-त्यो रूप का ह्रास होता रहता है। बीमारी आने से या किसी भयानक दुर्घटना से भी रूप नष्ट हो जाता है। कितना ही इलाज करवा लो, कितनी ही प्लास्टिक सजरी करवा लो जो रूप एक बार नष्ट हो गया, वह पूर्व की स्थिति को प्राप्त नही कर सकता। तो हमारा कहने का यही अभिप्राय है कि रूप कोई स्थिर रहने वाली चीज नही है। तुम इस सत्य को या वस्तु-स्वरूप को समझते नही हो, इस कारण उससे राग करते हो। यही दशा धन की भी है, हम कितने पापो का अजन करते है, इसको प्राप्त करने के लिए, कितने कम बांधते है, इसके अजन के लिए, किन्तु यह भी किसके पास स्थिर रूप से रहा है? यह तो सभी लोग जानते है कि लक्ष्मी का स्वभाव चचल है वह एक स्थान पर टिक कर रहा नही करती। इस पर एक कवि की उक्ति है

> या स्वसदमनि पद्मेऽपि सन्ध्यावधि विजृम्भते।
> इन्दिरा मन्दिरेऽन्येषा कथ स्थास्यति निश्चला॥

अर्थात्—

वह लक्ष्मी जो अपने निवास स्थान कमल मे भी सायकाल तक ही स्थिर

रहती है, दूसरो के घरो मे स्थिर होकर कैसे टिक सकती है ?

इस प्रकार हमारा कहने का यही आशय है कि रूप, रग, धन आदि वस्तुएँ चिरस्थायी नही है। आप उन पर राग इसलिए रखते है कि आप वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ है। वस्तु के प्रति राग-द्वेष का आना और शत्रु पर क्रोध का आना—सबमे वस्तुस्वरूप का अज्ञान ही कारण होता है। ऐसा भी कई बार होता है कि जिसके प्रति हमारा द्वेष है, जिसको हम जानी शत्रु समझते है, वह परिस्थितियो के परिवर्तन के कारण हमारा मित्र बन जाये और वह मित्र भी ऐसा कि हम उसके बिना रह न सके। इसी प्रकार जिसके प्रति हमारे मन मे राग है वह भी किसी घटना के कारण हमारा शत्रु बन सकता है। ऐसी स्थिति मे जिस राग और द्वेष मे इतनी अस्थिरता है, उसके कारण हम परेशान क्यो हो ? ये सब बातें गहराई से समझने की है। यह बात प्रत्यक्ष देखने मे आती है कि परिस्थितियो के परिवतन के साथ ही शत्रु मित्र बन जाते है और मित्र शत्रु बन जाते हे। ससार की इस परिवतनशीलता को दृष्टि मे रखते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह सब प्राणियो के प्रति समता की भावना रखे। कबीर साहब ने इस भाव को व्यक्त करते हुए कहा है

**कबिरा खडा बजार से माँगे सबकी खैर।**
**ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर॥**

हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने हाल मे मस्त रहे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी विचारधारा मे, अपने आत्मचिन्तन मे लीन रहना चाहिए। व्यर्थ मे सासारिक पदार्थो का सहारा नही ढूढना चाहिए, क्योकि वे सब अस्थायी है, अनित्य है। ससार का बडा से बडा व्यक्ति भी ससार की परिवर्तनशीलता को मिटाने का सामर्थ्य नही रखता।

जिस वस्तु के प्रति हमारा राग है उससे बेहतर वस्तु की प्राप्ति से भी हमारा राग उसमे हट जाता है और कई बार जीवन के कटु अनुभव से भी जो वस्तु हमें कल अमृत के समान प्यारी लग रही थी वह विष के समान हेय लगने लगती है। शास्त्रकारो ने इसीलिए कहा है कि ससार के पदाथ क्षणभगुर है, उनके प्रति मानव को राग-द्वेष नही रखना चाहिए। अपने स्वभाव मे मगन होकर रहना सबसे उत्तम है

**"आत्म स्वभाव मे रे, अवधू सदा मगन हो रहना।"**

तो हम आपसे कह रहे थे कि सवज्ञ बनने की आकाक्षा रखने वाला व्यक्ति सवप्रथम अज्ञान का नाश करता है। जब तक अज्ञान है वस्तु स्वरूप का, तब तक राग-द्वेष बने रहेगे। राग-द्वेष का अभाव तो वस्तु-स्वरूप के ज्ञान से ही

हो सकता है। वस्तु-स्वभाव के ज्ञान से ही आत्मा सर्वज्ञता की सोपान पर आरूढ हो सकता है। जो एक बार वहाँ पहुँच गया, वह फिर वापस नही आता। बधनो से मुक्त हुआ कोई भी जीव पुन बन्धन मे बंधना नही चाहेगा। बँधेगा भी क्यो, उसने ससार-वृक्ष के बीज का सर्वथा नाश जो कर दिया है

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त न प्ररोहति भवाकुर"

जब बीज को ही जला दिया गया तो फिर ससार मे जन्म लेने के अकुर कैसे प्रस्फुटित हो सकते है ? इस प्रकार सासारिक बन्धन से मुक्ति प्रत्येक आत्मा प्राप्त नही कर सकता।

जिन लोगो की ऐसी मान्यता है कि भगवान् को भी पापी आत्माओ के उद्धार के लिए, दुष्टात्माओ को दण्डित करने के लिए ससार मे आना पडता है, उनके अनुसार तो यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार की मान्यता वालो का ईश्वर भी वास्तविक मुक्तावस्था प्राप्त नही कर सका है। ससार मे आने का तो यही अर्थ है कि उनके भगवान् के बन्धन अभी तक कट नही पाये है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति पतग उडा रहा है, बडी लम्बी डोर है उसके हाथ में। वह डोर को कभी तो ढीली कर देता है और कभी खीचता है। ढील का अर्थ है पतग को दूरी पर ले जाना, खीचने का अर्थ है पतग को ऊँचाई पर ले जाना। कभी-कभी पतग इतनी ऊँची चली जाती है कि उडाने वाले की दृष्टि से भी ओझल हो जाती है, परन्तु इतनी ऊँचाई पर पहुँचकर भी आखिर पतग को नीचे आना पडता है। इसका कारण है कि पतग बन्धन में है, बँधी हुई है—डोर से और डोर उडाने वाले के हाथ मे है। इसी प्रकार कोई आत्मा कितना भी ऊँचा उठ जाये यदि वह किसी के बन्धन मे बँधा हुआ है तो उसको नीचे आना ही पडता है। ससार में उसको जन्म लेना ही पडता है। जैनागमो का कथन है कि ऐसे आत्मा परमात्मा कहलाते हुए भी मुक्तावस्था से रहित है। जब परमात्मा कहलाने वाले आत्मा भी मुक्तावस्था को प्राप्त करने में सफल नही हो सके तो सामान्य आत्मा से मुक्तावस्था को प्राप्त करना कितना कठिन है, इसका अनुमान आप स्वय लगा सकते है। अवतारवाद की मान्यता में सारा का सारा तन्त्र एक ही शक्ति, आत्मा या तथाकथित परमात्मा के हाथ मे सौप दिया जाता है, इसी कारण परिस्थितियो के बन्धन के कारण उसे पृथ्वी पर अवतरण की आवश्यकता रहती है। वह आवश्यकता भले ही पूरी हो जाए किन्तु उस परम-शक्ति को मुक्तावस्था तक नही पहुँचने देती। जैन सिद्धान्त के अनुसार सारा तन्त्र किसी ऐसी आत्मा-विशेष या शक्ति-विशेष के हाथ मे नही है। यहाँ

तो सब आत्मा 'स्वतन्त्र' है। सब अपना कल्याण भी स्वय कर सकते हैं और स्वय को पतन की ओर भी प्रवृत्त करा सकते है। इसीलिए जैनागम का विधान है

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥

उत्तराध्ययन, २०/३७

अर्थात्—

आत्मा ही सुख देने वाला भी है और दु ख देने वाला भी। सदाचार मे प्रवृत्त आत्मा मित्र के समान है और दुराचार मे प्रवृत्त होने पर वही शत्रु के समान बन जाता है।

इसी भाव का दूसरे आगम मे भी उल्लेख है

पुरिसा तुममेव तुम मित्त,
किं बहिया मित्तमिच्छसि।

आचाराग, १/३/३

अर्थात्—हे मानव ! तुम स्वय ही अपने मित्र हो, बाहर क्यो किसी की खोज करते फिरते हो ?

इस प्रकार हमारे सिद्धान्त मे आत्मा कर्म करने मे स्वतत्र है और कर्मों का फल उसे स्वय भोगना पडता है, किसी दूसरी शक्ति की उसे कर्मों का फल भुगताने के लिए आवश्यकता नही है। आत्मा अज्ञानवश कर्मों को बांधता भी है और ज्ञान के द्वारा अज्ञान का आवरण दूर करके कर्मो के बन्धन से मुक्त भी हो सकता है। उसे दोनो प्रकार की स्वतत्रता है। फल भुगताने के लिए ईश्वर नाम की शक्ति की कल्पना वे लोग करते है जो पाप कर्म तो करते है किन्तु उनका फल भोगने के लिए तैयार नही। ऐसी स्थिति मे शक्ति-प्रयोग से फल भुगताने के लिए ईश्वरीय शक्ति की कल्पना की जाती है। अन्य शक्ति द्वारा फल भुगताने की मान्यता को स्वीकार करने से बडी बाधा उपस्थित होती है। फल भुगताने वाला यदि किसी कारणवश नाराज हो जाये तो जीव के पुण्यकर्मो को भी पापकम मे बदल कर जीव को दण्डित कर सकता है। वह अपने भक्तो का तो पक्षपात करेगा और जो उसके भक्त नही है उनके साथ अन्याय करेगा। ऐसी मान्यता से तो विश्व मे वैषम्य पैदा हो जायेगा। इसलिए हमे वीतराग सर्वज्ञ के सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा, जिसके अनुसार ससार के प्राणी कर्मबन्धन और कर्मविमुक्ति दोनो मे स्वतत्र हैं। आत्मा कर्म स्वय भोगता है। किसी भी कार्य की सपन्नता मे

काल, स्वभाव, नियति पुरुषार्थ व कर्म—ये पाँच कारण होते हैं। अकेला व्यक्ति कुछ भी नही कर सकता। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त भी इसी सत्य की पुष्टि करता है। ईश्वर के हाथ मे सारा तन्त्र सौपना एका तवादी दृष्टि-कोण है। परिणामस्वरूप यह कहना पडता है कि ऐसे लोग जिन्होने वस्तु-स्वरूप को समझा नही है वे ही कम भुगताने की मान्यता मे आस्था रखते है।

इसी प्रसग से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी विचारधारा भी है। कुछ लोगो का कथन है कि 'वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करो चाहे न करो, जो होनहार है वह तो होकर ही रहती है।' इसका उत्तर यह है कि अपने-आप कुछ नही हुआ करता। जैसे कर्म हम करते हैं, उनके अनुसार ही सब होता है। जैसा बीज हम बोएँगे, वैसा ही उगेगा। बिना बोए कुछ भी उगने वाला नही है। चाहे हम कर्म जान-बूझकर करें, चाहे अनजाने मे करें, कर्म का फल तो हमें भुगतना ही पडेगा, उससे छुटकारा नही है। आम लोगो की यही धारणा रहती है कि अनजाने में हुए कर्म का फल उन्हे न भोगना पडे और अनजाने मे उनसे जो पुण्यकर्म हो गया हो उसका शुभ फल उनको अवश्य प्राप्त हो जाए। ऐसा नही हुआ करता है। व्यय और आय दोनो लिखे जाते है। अनजाने मे किए गये कर्म-फल को न भोगने की मान्यता से तो अज्ञान का महत्त्व बढेगा और ज्ञान उपेक्षित हो जायेगा। इस दृष्टिकोण से तो अज्ञानी रहना लाभदायक हुआ क्योकि उसे पापकर्म का फल नही भोगना पडा। तो फिर ज्ञानी बनना कौन चाहेगा? अन्य सिद्धान्तो के साथ-साथ समार मे अज्ञानवाद का सिद्धान्त भी चलता है। अज्ञानवादी अज्ञान का मण्डन करते है और अज्ञानी रहने की शिक्षा देते है। उनका कहना है कि अज्ञानी कितना भी पाप कर ले, क्षमा का पात्र होता है, ज्ञानी नही, ज्ञानी तो बन्धन मे पड जाता है। वे कहते है

> "चाकर चकवो चतुर नर नितप्रति रहत उदास।
> खर घू घ् मूरख पशु सदा सुखी पृथ्वीराज॥"

और भी

> "पठितव्य तदपि मर्तव्य, न पठितव्य
> तदपि मर्तव्य दन्तकटाकट किं कर्त्तव्यम्।"

अर्थात्—

पढना है तो भी मरना अवश्यभावी है और नही पढेंगे तब भी मृत्यु से हमारी कोई रक्षा नही कर सकता, तब फिर व्यर्थ मे ही दाँताखीची करने से क्या लाभ? यह भी कहते है

"भणिया मांगे भीख, अणभणिया घोडे चढ़।
गुरांजी री आ ही सीख, भोले ही भणजो मती।।"

इस प्रकार अज्ञानवादी लोग अनेक प्रकार के तर्क और युक्तियाँ प्रस्तुत करके अपने पक्ष का मण्डन किया करते है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि वे जो तर्क और युक्तियाँ देते है उनका आधार ज्ञान ही तो है। ज्ञान का सहारा लेकर भी ज्ञान का खण्डन करना, यह तो उनकी कोरी अज्ञानता का ही प्रतीक है। "जिस हडिया मे खाना, उसी मे छेद करना" वाली कहावत उन पर पूरी तरह से घटित होती है। इसी खोखलेपन के कारण जो ज्ञानवान लोग है उनके पास तो जिज्ञासुओ की भीड लगी रहती है, और जो अज्ञानवादी है उनके पास कोई फटकता भी नही। जरा ध्यान देने की बात है, यदि अज्ञानी बालक आग मे हाथ डालेगा तो क्या उसका हाथ जलेगा नही ? यदि अज्ञानी व्यक्ति विष का भक्षण करेगा तो क्या वह मरेगा नही ? यदि अज्ञानी को सर्प काट लेगा तो क्या उसको विष नही चढेगा ? इसलिए ज्ञानवादियो का कथन है कि अज्ञानावस्था मे किये गये पापो का फल तो जीव को निश्चित रूप से भोगना ही पडता है। ज्ञानी तो कर्म-फल से किसी सीमा तक त्राण भी पा सकता है। ज्ञानवान् व्यक्ति प्रथम तो सामान्य परिस्थिति मे पाप कर्म मे प्रवृत्त होगा ही नही और यदि किसी कठिन परिस्थिति मे प्रवृत्त हो भी गया तो उसके मन पर पाप चिपट नही सकेगा। आत्मा के साथ उसकी एकरूपता नही हो सकेगी। उदाहरण के लिए आप सब हमारा व्याख्यान सुनने के लिए आते है किन्तु ऊपर के मन से आते है। ऐसी दशा मे जो भी हमारे द्वारा उपदिष्ट धार्मिक क्रियाएँ आप करते हे उनसे तथा हमसे आपकी जो एकरूपता होनी चाहिए वह क्या हो पाती है ? उत्तर निषेधात्मक है। ऊपरी मन से हम किसी से मिलते हैं, चिकनी-चुपडी बातें करते हैं, देर तक बैठे भी रहते है, हसते भी हैं और प्रभावित करने का प्रयत्न भी करते है किन्तु इसका असर कुछ भी नही होता। इसी प्रकार ज्ञानवान् व्यक्ति बिना रुचि के, बिना मन के यदि कोई पाप कर भी बैठता है तो उस पाप का उसकी आत्मा से कोई बन्धन नही हो पाता। वह अपने पाप के लिए थोडा सा पश्चात्ताप करके या थोडी सी धार्मिक क्रिया करके उससे छुटकारा पा सकता है। उदाहरण के लिए किसी समझदार ज्ञानवान् व्यक्ति ने परिस्थितियो की चोट खाकर आत्महत्या के लिए विष-भक्षण कर लिया। विष भक्षण के पश्चात् वह विचार करता है, "मेरी मृत्यु से क्या होगा ? घर की परिस्थितियाँ बदलने के स्थान पर और विकट हो जायेंगी।" उसे पश्चात्ताप होता है और वह किसी डाक्टर के पास जाकर कहता है, "मैंने बडी भारी भूल की है। आत्महत्या के लिए विष खा गया हूँ। कृपया मेरी रक्षा कीजिये।" डाक्टर उसको कोई ऐसी औषधि दे

काल, स्वभाव, नियति पुरुपार्थ व कर्म—ये पांच कारण होते हैं। अकेला व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त भी इसी सत्य की पुष्टि करता है। ईश्वर के हाथ मे सारा तन्त्र सौपना एकान्तवादी दृष्टि-कोण है। परिणामस्वरूप यह कहना पडता है कि ऐसे लोग जिन्होने वस्तु-स्वरूप को समझा नही है वे ही कर्म भुगताने की मान्यता मे आस्था रखते है।

इसी प्रसग से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी विचारधारा भी है। कुछ लोगो का कथन है कि 'वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करो चाहे न करो, जो होनहार है वह तो होकर ही रहती है।' इसका उत्तर यह है कि अपने आप कुछ नही हुआ करता। जैसे कम हम करते हैं, उनके अनुसार ही सब होता है। जैसा बीज हम बोएँगे, वैसा ही उगेगा। बिना बोए कुछ भी उगने वाला नही है। चाहे हम कर्म जान-बूझकर करें, चाहे अनजाने मे करें, कर्म का फल तो हमे भुगतना ही पडेगा, उससे छुटकारा नही है। आम लोगो की यही धारणा रहती है कि अनजाने मे हुए कर्म का फल उन्हे न भोगना पडे और अनजाने मे उनसे जो पुण्यकर्म हो गया हो उसका शुभ फल उनको अवश्य प्राप्त हो जाए। ऐसा नही हुआ करता है। व्यय और आय दोनो लिखे जाते है। अनजाने मे किए गये कर्म-फल को न भोगने की मान्यता से तो अज्ञान का महत्त्व बढेगा और ज्ञान उपेक्षित हो जायेगा। इस दृष्टिकोण से तो अज्ञानी रहना लाभदायक हुआ क्योकि उसे पापकर्म का फल नही भोगना पडा। तो फिर ज्ञानी बनना कौन चाहेगा ? अन्य सिद्धान्तो के साथ-साथ ससार मे अज्ञानवाद का सिद्धान्त भी चलता है। अज्ञानवादी अज्ञान का मण्डन करते है और अज्ञानी रहने की शिक्षा देते है। उनका कहना है कि अज्ञानी कितना भी पाप कर ले, क्षमा का पात्र होता है, ज्ञानी नही, ज्ञानी तो बन्धन मे पड जाता है। वे कहते हे

> "चाकर चकवो चतुर नर नितप्रति रहत उदास।
> खर घू घू मूरख पशु सदा सुखी पृथ्वीराज ॥"

और भी

> "पठितव्य तदपि मर्तव्य, न पठितव्य
> तदपि मर्तव्य दन्तकटाकट किं कर्त्तव्यम् ।"

अर्थात्—

पढना है तो भी मरना अवश्यभावी है और नही पढेंगे तब भी मृत्यु से हमारी कोई रक्षा नही कर सकता, तब फिर व्यर्थ मे ही दांताखीची करने से क्या लाभ ? यह भी कहते है

"भणिया मांगे भीख, अणभणिया घोडे चढ़।
गुरांजी री आ ही सीख, भोले ही भणजो मती॥"

इस प्रकार अज्ञानवादी लोग अनेक प्रकार के तर्क और युक्तियाँ प्रस्तुत करके अपने पक्ष का मण्डन किया करते है, किन्तु आश्चय की बात तो यह है कि वे जो तर्क और युक्तियाँ देते है उनका आधार ज्ञान ही तो है। ज्ञान का सहारा लेकर भी ज्ञान का खण्डन करना, यह तो उनकी कोरी अज्ञानता का ही प्रतीक है। "जिस हडिया मे खाना, उसी में छेद करना" वाली कहावत उन पर पूरी तरह से घटित होती है। इसी खोखलेपन के कारण जो ज्ञानवान लोग है उनके पास तो जिज्ञासुओ की भीड लगी रहती है, और जो अज्ञानवादी है उनके पास कोई फटकता भी नही। ज़रा ध्यान देने की बात है, यदि अज्ञानी बालक आग मे हाथ डालेगा तो क्या उसका हाथ जलेगा नही ? यदि अज्ञानी व्यक्ति विष का भक्षण करेगा तो क्या वह मरेगा नही ? यदि अज्ञानी को सर्प काट लेगा तो क्या उसको विष नही चढेगा ? इसलिए ज्ञानवादियो का कथन है कि अज्ञानावस्था मे किये गये पापो का फल तो जीव को निश्चित रूप से भोगना ही पडता है। ज्ञानी तो कर्म-फल से किसी सीमा तक त्राण भी पा सकता है। ज्ञानवान् व्यक्ति प्रथम तो सामान्य परिस्थिति मे पाप कर्म मे प्रवृत्त होगा ही नही और यदि किसी कठिन परिस्थिति मे प्रवृत्त हो भी गया तो उसके मन पर पाप चिपट नही सकेगा। आत्मा के साथ उसकी एकरूपता नही हो सकेगी। उदाहरण के लिए आप सब हमारा व्याख्यान सुनने के लिए आते है किन्तु ऊपर के मन से आते हैं। ऐसी दशा मे जो भी हमारे द्वारा उपदिष्ट धार्मिक क्रियाएँ आप करते है उनसे तथा हमसे आपकी जो एकरूपता होनी चाहिए वह क्या हो पाती है ? उत्तर निषेधात्मक है। ऊपरी मन से हम किसी से मिलते हैं, चिकनी-चुपडी बातें करते है, देर तक बैठे भी रहते है, हसते भी है और प्रभावित करने का प्रयत्न भी करते है किन्तु इसका असर कुछ भी नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानवान् व्यक्ति बिना रुचि के, बिना मन के यदि कोई पाप कर भी बैठता है तो उस पाप का उसकी आत्मा से कोई बन्धन नही हो पाता। वह अपने पाप के लिए थोडा सा पश्चात्ताप करके या थोडी सी धार्मिक क्रिया करके उससे छुटकारा पा सकता है। उदाहरण के लिए किसी समझदार ज्ञानवान् व्यक्ति ने परिस्थितियो की चोट खाकर आत्महत्या के लिए विष-भक्षण कर लिया। विष भक्षण के पश्चात् वह वि [illegible] है, "मेरी मृत्यु से क्या होगा ? घर की परिस्थितियाँ बदलने के [illegible] र विकट हो जायेंगी।" उसे पश्चात्ताप होता है और वह [illegible] जाकर कहता है, "मैंने बडी भारी भूल की है। आत्महत्या [illegible] गया हूँ। कृपया मेरी रक्षा कीजिये।" डाक्टर उसको [illegible]

देता है जिससे वमन हो जाता है, विष बाहर आ जाता है और उसके प्राण बच जाते है। इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति पाप करके भी पापफल से मुक्त हो सकता है जबकि अज्ञानी व्यक्ति को किसी भी अवस्था मे उसके पाप का फल भुगतना ही पडता है। अज्ञानी पाप के फल से कभी छुटकारा नही पा सकता, क्योंकि वह पाप के दुष्परिणाम से बचने के उपायो से सर्वथा अनभिज्ञ है। यही महान् अन्तर है ज्ञान और अज्ञान मे। तो हमारा आपसे यही कहना है कि यदि कोई व्यक्ति मुक्ति के स्वरूप को बिना समझे ही धार्मिक क्रियाओ के द्वारा मुक्त होने का प्रयास करेगा तो उसका न तो कोई महत्त्व ही है और न ही उसका कोई फल ही मिलने वाला है। उत्कृष्ट से उत्कृष्ट एव कठिन से कठिन सारी धार्मिक क्रियाएँ आत्मस्वरूप के एव मोक्ष के यथार्थ ज्ञान के अभाव मे सारहीन होती हैं।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ३ अगस्त, १६७६

२७

# वस्तु, भावना और सिद्धि

यह सार्वभौम सत्य है कि शाश्वत सुख की प्राप्ति जीव सम्यग्दृष्टि से ही कर सकता है। सम्यक्त्व का वास्तविक अर्थ है 'सचाई'। इसके विरोधी शब्द 'मिथ्यात्व' का अर्थ होता है 'झुठाई'। 'सचाई' के लिए दूसरा शब्द 'वास्तविकता' भी है, वह इसलिए कि सचाई मे ही वास्तविकता होती है। वस्तु के अन्दर जो भी तत्त्व हो उसे यथार्थ रूप में स्वीकार करना वास्तविकता है। जो तत्त्व वस्तु मे निहित नही है उसे हठात् मानने पर बल देना अवास्तविकता है। शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो में इनको ही क्रमश सम्यक्त्व और मिथ्यात्व कहा जाता है। लोक-व्यवहार मे प्राय लोगो को ऐसा कहते सुना गया है "अरे, क्या तो रखा है वास्तविकता मे और क्या रखा है अवास्तविकता मे। प्रधानता तो भावना की होती है। जैसी जिसकी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।" नीतिशास्त्र मे इसी भाव को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी गई है

**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।**

उक्त पद्य मे मनुष्य की भावना के फलवती होने पर बल दिया गया है जो विश्लेषण एव तर्क की आधारशिला पर खरा नही उतरता। जो तत्त्व जिस वस्तु में विद्यमान नही है उस तत्त्व की भावना रखन से क्या उस तत्त्व की सत्ता उस वस्तु में आ सकती है? अग्नि का गुण या धर्म उष्णता है, उसमे शीतलता की भावना रखने से शीतत्व तो नही आ सकता। इसी प्रकार जल का धर्म शीतलता है, उसमे उष्णता की भावना रखने से उसका गुण उष्णत्व में तो परिणत नही हो सकता? उक्त उत्तरार्ध का पूर्वार्ध

**देवे तीर्थे द्विजे मत्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।**

भी विचारणीय है।

देव अपने उस इष्ट को कहते है जिससे लाभ उठाने के लिए उसकी आराधना की जाती है। दूसरी कोटि मे तीर्थ का उल्लेख है। तीर्थ का अर्थ बडा ही

देता है जिससे वमन हो जाता है, विष बाहर आ जाता है और उसके प्राण बच जाते है। इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति पाप करके भी पापफल से मुक्त हो सकता है जबकि अज्ञानी व्यक्ति को किसी भी अवस्था मे उसके पाप का फल भुगतना ही पडता है। अज्ञानी पाप के फल से कभी छुटकारा नही पा सकता, क्योकि वह पाप के दुष्परिणाम से बचने के उपायो से सर्वथा अनभिज्ञ है। यही महान् अन्तर है ज्ञान और अज्ञान में। तो हमारा आपसे यही कहना है कि यदि कोई व्यक्ति मुक्ति के स्वरूप को बिना समझे ही धार्मिक क्रियाओ के द्वारा मुक्त होने का प्रयास करेगा तो उसका न तो कोई महत्त्व ही है और न ही उसका कोई फल ही मिलने वाला है। उत्कृष्ट से उत्कृष्ट एव कठिन से कठिन सारी धार्मिक क्रियाएँ आत्मस्वरूप के एव मोक्ष के यथार्थ ज्ञान के अभाव मे सारहीन होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ३ अगस्त, १६७६

मार्ग को अपनाना सरल काम नही है किन्तु भवसागर को पार करने के लिए उसका आश्रय अनिवार्य है। साधु धर्म मे उन सभी बातो का त्याग करना पडता है जो साधक के मार्ग मे रुकावट डालने वाली है या साधना-पथ की बाधक है। उनके त्याग से मन कही भी डगमगाता नही किन्तु स्थिर हो जाता है आत्म-विकास की पृष्ठभूमि पर। घर मे सासारिक जाल मे उलझने के कारण मन की स्थिरता कदापि सम्भव नही होती। साधक को तैरने की जो सुविधा अपेक्षित है वह घर मे प्राप्य नही होती। साधु धर्म तीर्थो के बंधे हुए घाटो के समान है जहाँ तैरने की पूरी सुविधा होती है, जहा जलचर जन्तुओ का किसी प्रकार का खतरा नही रहता किन्तु गृहस्थ जीवन तो घाट-विहीन होता है जहाँ ससार के झझट घातक जलचर जन्तुओ के समान सदा खतरनाक बने रहते है। इसलिए ससार-समुद्र को पार करने की यदि सच्ची लगन है तो साधु-धर्म को अगीकार करना ही पडेगा।

जैसे साधु धर्म है, वैसे ही स्त्रियो के लिए साध्वी धर्म है। यह दूसरा तीर्थ है। तीसरी कोटि मे श्रावक भी एक तीर्थ है। देशविरति धर्म को धारण करने वाले श्रावक भी ससार समुद्र को पार कर सकते है। श्रावक के समान ही चौथा तीर्थ श्राविका है। इन चारो तीर्थो मे आकर आत्मा शास्त्रविहित विधि-विधानो के निरन्तर अनुष्ठान से भवसागर को तैर कर पार हो जाता है या दूसरे शब्दो मे बन्धनमुक्त हो जाता है।

तीसरा शब्द है 'द्विज'। द्विज के अनेक अर्थ होते है। 'द्वि' का अर्थ है 'दो' और 'ज' का अर्थ है 'जन्म'। जिसका दो बार जन्म होता है वह द्विज कहलाता है। पक्षी का पहला जन्म अण्डे के रूप मे होता है और दूसरा बच्चे के रूप मे। दात भी द्विज कहलाते हे क्योकि इनका जन्म भी दो बार होता है। पहले दात दूध के होते है और दूसरे अन्न के।

उक्त गाथा मे जो द्विज शब्द आया है वह मानव जाति के वर्ग-विशेष के लिए है। वह मानव जो एक बार तो माता के गर्भ से जन्म लेता है और दूसरा जन्म उसका किसी धार्मिक सस्कार-विशेष के समय होता है वह भी द्विज कहलाता है। साधु भी द्विज कहलाता है क्योकि एक बार तो उसका जन्म घर मे होता है और दूसरा गुरु के चरणो मे धार्मिक सस्कार द्वारा। श्रावक भी द्विज है, एक बार तो उसका शारीरिक जन्म हुआ और दूसरा देशविरति धर्म को धारण करने के पश्चात्। सक्षेप मे, पहला जन्म, जन्म से और दूसरा सस्कार से होता है। सस्कार का अभिप्राय है कि त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान, मर्यादा आदि कुछ भी धार्मिक धारणा को धारण करने के पश्चात् जो जन्म होता है उसे दूसरा जन्म ही मानना चाहिए।

द्विजो मे ब्राह्मण विशेष रूप से प्रसिद्ध है क्योकि एक बार तो उसका जन्म

गहन भी है और सारगर्भित भी। लोकभाषा में तीर्थ का दूसरा नाम घाट भी है। पानी मे उतरने के लिए जलाशय के चारो ओर और नदी के दोनों ओर घाट बँधाये जाते है। पावडिये भी होते है और आसपास सहारे के लिए लोहे की जजीरें भी लगी होती है जिससे तैरने की कला से अनभिज्ञ व्यक्ति जल में डूबने से बच सकें। ऐसे घाट तीर्थ कहलाते है। तीर्थ इसलिए कि इनको तिरने का माध्यम माना जाता है। हरिद्वार, कुरुक्षेत्र और वाराणसी आदि अनेक स्थान तीर्थो के नाम से जाने जाते है।

**"तीर्यते यत्र अथवा तीयते अनेन असौ तीर्थ ।"**

अर्थात्—

जो तिरने का या तैरने का स्थान हो, वह तीथ है। यहाँ एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। तीर्थो के नाम से प्रसिद्ध जलाशयो और नदियो के सभी स्थानो मे स्नान करके तिरना सम्भव नही होता। सवत्र एक स्थान-विशेष होता है जहाँ तिरने का विधान होता है, जैसे हरिद्वार में 'हर की पौडी'। इस धार्मिक विधान का दूसरा पहलू सामान्यज्ञान भी है। जल मे अनेक प्रकार के घातक जानवर भी होते है। जहाँ लोग अधिक सख्या मे स्नान करते है, वहा वे जीव जन्तु प्राणभय से नही आया करते। घाट बँधे होने के कारण जल स्वच्छ बना रहता है, इसलिए स्नान करने वाले कीचड से भी बचे रहते है। यह है विवरण ससार के दृश्यमान तीर्थों का।

कुछ ऐसे भी तीर्थ है जहाँ पानी स्थिर रूप मे टिका हुआ या प्रवाह रूप मे बहता हुआ तो दिखाई नही देता किन्तु तीर्थ की सत्ता उनमे रहती है। दूसरे शब्दो मे, यह ससार स्वय सागर ही है। यहाँ पर आपके और हमारे बीच में भी पानी है। ऊपर पानी है, नीचे पानी है और आसपास भी पानी है। हम सब पानी मे ही तो बैठे हुए है। यह पानी है जन्म मरण का, ससाररूपी समुद्र का। बडा ही विशाल और गहरा है यह ससाररूपी समुद्र। इस समुद्र के अन्दर भी चार घाट बने हुए है। ससार रूपी समुद्र को यदि कोई तैरकर पार करना चाहता हो, इससे अपना अपना पिण्ड छुडाना चाहता हो या इस बन्धन से मुक्त होना चाहता हो तो उसके लिए जैनागमो मे चार तीर्थो का विधान है। वे चार तीर्थ है साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। साधु या श्रमण धम को जो अगीकार कर लेता है, वह विना किसी रुकावट के ससाररूपी समुद्र को तैर कर पार कर सकता है। यदि कोई यह सोचे कि "मुझमे तो तैरने की सामर्थ्य है, मैं साधु धर्म को अपनाये विना भी घर पर बैठकर ससार के सारे के सारे काम सम्पन्न करता हुआ भी ससार समुद्र को तैरकर पार कर जाऊँगा।" तो मात्र उसकी यह भ्रान्ति है और अज्ञानता है। नि सन्देह साधु-

मार्ग को अपनाना सरल काम नही है किन्तु भवसागर को पार करने के लिए उसका आश्रय अनिवार्य है। साधु धर्म में उन सभी बातो का त्याग करना पडता है जो साधक के मार्ग मे रुकावट डालने वाली है या साधना-पथ की बाधक हैं। उनके त्याग से मन कही भी डगमगाता नहीं किन्तु स्थिर हो जाता है आत्म-विकास की पृष्ठभूमि पर। घर मे सासारिक जाल में उलझने के कारण मन की स्थिरता कदापि सम्भव नही होती। साधक को तैरने की जो सुविधा अपेक्षित है वह घर मे प्राप्य नही होती। साधु धर्म तीर्थो के बंधे हुए घाटो के समान है जहाँ तैरने की पूरी सुविधा होती है, जहा जलचर जन्तुओ का किसी प्रकार का खतरा नही रहता किन्तु गृहस्थ जीवन तो घाट-विहीन होता है जहाँ ससार के झझट घातक जलचर जन्तुओ के समान सदा खतरनाक बने रहते हैं। इसलिए ससार-समुद्र को पार करने की यदि सच्ची लगन है तो साधु-धर्म को अगीकार करना ही पडेगा।

जैसे साधु धर्म है, वैसे ही स्त्रियो के लिए साध्वी धर्म है। यह दूसरा तीर्थ है। तीसरी कोटि मे श्रावक भी एक तीर्थ है। देशविरति धर्म को धारण करने वाले श्रावक भी ससार समुद्र को पार कर सकते है। श्रावक के समान ही चौथा तीर्थ श्राविका है। इन चारो तीर्थो मे आकर आत्मा शास्त्रविहित विधि-विधानो के निरन्तर अनुष्ठान से भवसागर को तैर कर पार हो जाता है या दूसरे शब्दो मे बन्धनमुक्त हो जाता है।

तीसरा शब्द है 'द्विज'। द्विज के अनेक अर्थ होते है। 'द्वि' का अर्थ है 'दो' और 'ज' का अर्थ है 'जन्म'। जिसका दो बार जन्म होता है वह द्विज कहलाता है। पक्षी का पहला जन्म अण्डे के रूप मे होता है और दूसरा बच्चे के रूप मे। दात भी द्विज कहलाते है क्योंकि इनका जन्म भी दो बार होता है। पहले दात दूध के होते है और दूसरे अन्न के।

उक्त गाथा में जो द्विज शब्द आया है वह मानव जाति के वर्ग-विशेष के लिए है। वह मानव जो एक बार तो माता के गर्भ से जन्म लेता है और दूसरा जन्म उसका किसी धार्मिक सस्कार-विशेष के समय होता है वह भी द्विज कहलाता है। साधु भी द्विज कहलाता है क्योंकि एक बार तो उसका जन्म घर मे होता है और दूसरा गुरु के चरणो मे धार्मिक सस्कार द्वारा। श्रावक भी द्विज है, एक बार तो उसका शारीरिक जन्म हुआ और दूसरा देशविरति धर्म को धारण करने के पश्चात्। सक्षेप मे, पहला जन्म, जन्म से और दूसरा सस्कार से होता है। सस्कार का अभिप्राय है कि त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान, मर्यादा आदि कुछ भी धार्मिक धारणा को धारण करने के पश्चात् जो जन्म होता है उसे दूसरा जन्म ही मानना चाहिए।

द्विजो मे ब्राह्मण विशेष रूप से प्रसिद्ध है क्योंकि एक बार तो उसका जन्म

माता के गर्भ से होता है और दूसरा होता है यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात्। हिन्दू धर्म-ग्रन्थो के अनुसार यज्ञोपवीत सस्कार का विधान केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए है, इसलिए तीनो तो द्विज है किन्तु शूद्र द्विज नही है क्योकि उसके लिए उपनयन सस्कार का निषेध है। जैन धर्मग्रन्थो की मान्यता के अनुसार भी तीन वर्णो की आचार-पद्धति की ही व्यवस्था चली आ रही है किन्तु उसमे कुछ भिन्नता है। भगवान ऋषभदेव ने जिन तीन वर्णो की व्यवस्था स्थापित की थी उनके नाम हे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण वर्ण की स्थापना भरत चक्रवर्ती ने की थी। बिना प्रसग प्रस्तुत किये यह बात आपकी समझ मे नही आ सकेगी।

भगवान् ऋषभदेव का चातुर्मास था अयोध्या के शकटमुख उद्यान मे। कार्तिक पूर्णिमा का दिन—चातुर्मास का अन्त आ गया। भरत चक्रवर्ती पश्चात्तापमयी विचारधारा मे डूबे हुए सोचने लगे, 'कल भगवान् विहार कर देंगे। चार महीनो मे मैंने उनके प्रवचन भी सुने, प्रश्न भी पूछे और उनके चरणो में भी बैठा किन्तु उनकी कोई भी सेवा नही की, कुछ भी लाभ नही ले सका। भगवान् के साथ चौरासी हजार साधु है, साध्वियाँ भी सहस्रो है, मुझे कभी तो आहार के लिये पूछना चाहिये था। मैंने कभी इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। ऐसा सोचकर भरत ने सभी साधु-साध्वियो को आहार देने के लिए विविध प्रकार के पक्वान्न और मिष्टान्न तैयार करने का कर्मचारियो को आदेश दिया। रसोइये जुट गये पक्वान्न पकाने में। सब खाद्यान्नो के पूर्णरूपेण तैयार होने पर वे गाडो मे भर भर कर शकटमुख उद्यान की ओर आने लगे। अयोध्या नगरी के द्वारो से निकलते हुए खाद्यान्नो के गाडो की पक्ति को देखकर, देवलोक के स्वामी शक्रेन्द्र भरत से बोले, 'आप यह सब क्या कर रहे है ?' उत्तर मे भरत चक्रवर्ती ने कहा

"चातुर्मास के अन्तराल मे मैं साधु-साध्वियो की आहार सम्बन्धी कुछ भी सेवा नही कर पाया हूँ। आज उस सारी कसर को पूरी करना चाहता हूँ। आज सब साधु-साध्वियो को मैं आहार से तृप्त करूँगा।"

"तुम भूल कर रहे हो, चक्रवर्ती भरत! साधुओ के निमित्त बने हुए भोजन, को और उनके स्थान पर लाये गये भोजन को साधु-साध्वी कभी स्वीकार नही करते। वे तो गोचरी के नियम का पालन करने वाले है। तुम्हारे द्वारा उनके निमित्त पकाया यह खाद्यान्न उनके लिए ग्राह्य नही होगा।"

इन्द्र ने भरत को साधुओ के धार्मिक नियम का दिग्दर्शन कराते हुए समझाया।

चक्रवर्ती भरत असमजस मे पड गये। उनको चिन्ताक्रान्त देखकर शक्रेन्द्र ने कहा "आपकी इतनी बडी चिन्ता का क्या कारण है ?"

"कारण यही है कि इतना बडा पक्वान्नो का भण्डार, आपके कथनानुसार साधु-साध्वियो के काम तो आयेगा नही एव सुपात्र दान के निमित्त महान् भावना से निर्मित होने के कारण मेरा परिवार भी पात्रता के अभाव मे इसका उपयोग कर सकेगा नही, फिर इस भण्डार का कैसे सदुपयोग किया जाये ?"

"इस समस्या का समाधान बडा सरल है। जो सन्तो से निम्नकोटि के है किन्तु आपसे दर्जे मे ऊँचे है, उनको बुलाकर ये खाद्यान्न परोस दो। इस कोटि मे आते है, श्रावक। आपका चौथा गुणस्थान है और श्रावको का पाँचवां गुण-स्थान है, इस कारण वे आपसे बडे है। मात्र चक्रवर्ती होने से कोई बडा नही बन जाता।'

शक्रेन्द्र ने समस्या का समाधान करते हुए उत्तर दिया।

आज के श्रावको को इस बात का गौरव होना चाहिए कि वे चक्रवर्ती राजा से भी ऊँचे है। चक्रवर्ती क्या, चौसठ इन्द्रो से भी आपका स्थान उच्चतर है। यह उच्चता धन पर आधारित नही है किन्तु श्रावकत्व पर आधारित है।

शक्रेन्द्र की राय को स्वीकार करके भरत ने श्रावको को बुलाया और वे बडी सख्या मे वहाँ उपस्थित हो गये। स्वय भरत ने परोसा और सब श्रावको ने भोजन किया। स्वय परोसना उचित भी था क्योकि उनका स्थान भरत से उच्चतर था। परोसते समय भरत सोचने लगे, 'कितना आनन्द आ रहा है, आज मुझे इन श्रावको को आहार परोसते हुए। क्यो न इस आनन्द की अनु-भूति मैं प्रतिदिन लेता रहूँ ? यही के तो है, सब ये, नि सकोच प्रतिदिन आ सकते है।"

भोजन-समाप्ति के पश्चात् जब सब श्रावक उठकर जाने लगे तो भरत ने हाथ जोडकर उनसे कहा, 'यदि आप सबकी अनुमति हो तो इस भोजन के कार्यक्रम को प्रतिदिन चालू रखा जाये।"

इसके उत्तर मे श्रावको ने कहा, "महाराज ! आपका यह निर्णय उचित नही है। हम सब गृहस्थ है, परिवार वाले है, वाणिज्य-व्यवसाय करते है और भी अनेक प्रकार के काम-धन्धो मे हम उलझे हुए है। एक दिन का आपका आग्रह तो हमने स्वीकार कर लिया किन्तु प्रतिदिन हमारे से इसका निर्वाह सभव नही है। आप हमे क्षमा करे।"

इस प्रकार भरत आग्रह कर रहे थे और श्रावक निषेध कर रहे थे। इस अवसर पर भी शक्रेन्द्र ने एक समाधान निकाला और कहा, "इन श्रावको के समूह मे से ऐसे श्रावक जिन्होने वाणिज्य-व्यवसाय आदि का त्याग कर दिया है, जो पडिमाधारी हैं, ब्रह्मचर्य का जो पालन करते है, परिवार के साथ जिनका कोई सम्बन्ध नही है और उच्चकोटि के श्रावक धर्म का जो पालन करते है—उनको आप यहाँ नित्य भोजन कराया करें। इससे उन श्रावको की आहार

की चिन्ता मिट जायेगी और परिणामस्वरूप उनकी धार्मिक साधना निरन्तर चलती रहेगी।"

ऐसे श्रावकों का चयन किया गया। चयन किये हुए उन श्रावकों को सम्बोधन करते हुए भरत ने कहा, "आप लोग संयमी है, त्यागी है और तपस्वी है इसलिए आपकी सेवा हमारा धर्म है। आप प्रतिदिन आहार यहीं के रसोडे से ग्रहण करें।"

सब श्रावकों ने ऐसा निष्कर्म आहार लेने से इन्कार किया तो भरत ने समझाते हुए कहा, "यदि ऐसी बात है तो इसके बदले मे आप राजगृह के सदस्यों —राजकुमार, राजकुमारियों और राणियों महाराणियों को धर्म की शिक्षा दो, उन्हे धर्म का तत्त्व समझाओ और उनकी प्रवृत्ति को धर्मोन्मुखी बनाओ। इसके अतिरिक्त आप मुझे भी समय समय पर धर्म की शिक्षा देकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते रहे।"

सब श्रावकों ने भरत की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

भरत सोच रहे थे, "ये श्रावक तो सामान्य श्रावकों से भी उच्चतर है, मेरे से श्रेष्ठतर तो ये है ही, इसलिए पूजा के पात्र है। कहीं अज्ञानवश या असावधानतावश इनका अपमान न हो जाये, इनकी अवज्ञा न हो जाये और इनकी उपेक्षा न हो जाये इसलिए इनके शरीर पर कुछ चिह्न अंकित कर दिया जाये तो अच्छा रहेगा।" तब भरत ने कागणी रत्न से उनके शरीर पर और वस्त्रों पर तीन-तीन रेखाएँ खींच दीं। एक एक रेखा मे फिर बारीक-बारीक तीन रेखाएँ —इस प्रकार ये नव रेखाये यज्ञोपवीत के समान दीखने लगीं। दूसरे शब्दों में यज्ञोपवीत का प्रादुर्भाव इन्हीं नव रेखाओं से हुआ। देव, गुरु और धर्म ये तीन तत्त्व है। ये तीन तत्त्व हेय है, ज्ञेय है और उपादेय भी है। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म हेय है। सामान्य देव, गुरु, धर्म ज्ञेय है, तथा सुगुरु, सुदेव और सुधर्म उपादेय है। इस प्रकार तीन से तीन गुणित होकर यज्ञोपवीत के नव डोरों के प्रतीक बन जाते है। इस प्रकार के धार्मिक यज्ञोपवीत को जीवन मे धारण करने के कारण ये उच्चकोटि के श्रावक ब्राह्मण संज्ञा से पुकारे जाने लगे। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के कारण वे देव और गुरु के समान पूज्य माने जाने लगे। समाज मे उनको उच्च सम्मान मिला। वे परिग्रह की परिधि से दूर थे। जो भी श्रावक बारह व्रतधारी होता और प्रतिमा को धारण करने वाला होता, वह इन सुप्रतिष्ठित श्रावकों की श्रेणी मे सम्मिलित हो जाता था। इस प्रकार से उत्पन्न हुई ब्राह्मण परम्परा से ही ब्राह्मण संस्कृति का जन्म हुआ था। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की प्रतिष्ठा भरत महाराज द्वारा हुई। यह सारा विवरण द्विज शब्द पर आपके सामने प्रस्तुत किया गया।

चौथा शब्द श्लोक मे 'मंत्र' है। इस शब्द से आप भलीभाँति परिचित हैं।

किसी भी मत्र की साधना या आराधना हो सकती है। दैवज्ञ—ज्योतिष के ऊपर, भेषज—औषधि के ऊपर और गुरु महाराज—इन सात व्यक्तियो के ऊपर।

**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।**

जिसकी जैसी भावना होगी, उसको वैसा ही फल मिलेगा।

ऊपर जिन व्यक्तियो के नामो का उल्लेख किया गया है वे शक्ति के पुज माने जाते है। ये सब प्रकार की सिद्धियो के सागर होते ह और कमियो को पूरा करने वाले होते हैं। जो व्यक्ति जितना लाभ उनसे लेना चाहता है उतना ही तो वह प्राप्त कर सकेगा। जल से भरे विशाल समुद्र मे से लोटे वाले को लोटे परिमाण का ही जल मिलेगा और जिसके पास बडा घट है उसे अधिक जल की उपलब्धि होगी। ठीक इसी प्रकार उपलब्धियो के सागर उक्त महापुरुषो मे व्यक्ति उतना ही लाभ उठाने मे समर्थ हो सकेगा जितना उसकी श्रद्धा एव भावना का पात्र उसके पास होगा। मारवाडी भाषा मे एक कहावत बडी प्रसिद्ध है "गुड गालसी उतरो ही मीठो हुसी" अर्थात् जितना गुड गाला जायेगा उतना ही मीठा होगा। गुड तो कम गालना और मीठा अधिक चाहना यह कैसे सम्भव हो सकता है? ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि सामने की वस्तु सम्पूर्ण रूप से फल देने की सामर्थ्य मे तो युक्त है परन्तु उसके प्रति साधक की या आराधक की जैसी और जितनी भावना रहेगी, उतना ही लाभ प्राप्त करने मे वह सफल हो सकेगा, अधिक नही। इस प्रसग पर एक दोहा पूर्ण रूप से घटित होता है

**"साईं के दरबार मे कमी काहु की नाँय।**

तब किसी ने पूछा कि साई के दरबार मे यदि किसी वस्तु की कमी नही है तो फिर

**"बन्दा क्यो पावे नहीं?"**

उत्तर मिला

**"चूक चाकरी मांय॥"**

साई के दरबार में तो किसी वस्तु की कमी नही है किन्तु साधक की भावना या श्रद्धा मे ही यदि चूक हो, कसर हो तो भला वह कैसे मनचाही वस्तु को प्राप्त कर सकता है? इसी प्रसग मे एक और दोहा स्मरण हो आया है

**"राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेत।<br>जैसी जिसकी चाकरी वैसा ही फल देत॥"**

चाकरी जितनी करोगे, उसके अनुरूप ही तो फल मिलेगा, चाकरी तो कम

करो और फल की आशा अधिक रखो तो कैसे सम्भव हो सकेगा। इसी प्रकार का एक और दोहा है कबीर का।

### "चिट्ठी लायो चून की"

कोई व्यक्ति किसी मोदी की दुकान पर गया। मोदी किसी दूसरे व्यक्ति का सामान तोल रहा था। घी, खाण्ड, मसाला आदि अनेक वस्तुएँ वह अन्य ग्राहको के लिए तोल रहा था। चून की चिट्ठी वाला व्यक्ति प्रतीक्षा करता रहा। जब मोदी औरो का सामान तौल चुका तो उसने भी अपनी चिट्ठी मोदी के हाथ मे दे दी। मोदी ने चिट्ठी पढते ही झट आटा तोल कर दे दिया। अपने लिए केवल मात्र आटा देखकर चिट्ठी वाला बोला, "तुमने और ग्राहको को तो घी, खाड आदि अनेक प्रकार की सामग्री दी, मुझे केवल आटा ही क्यो?" इसके उत्तर मे मोदी ने कहा

**"चिट्ठी लायो चून की, माँगे घी ने दाल।<br>दास कबीरा यो कहे, थारी चिट्ठी सामो माल।।"**

कहने का साराश यह है कि सामने की वस्तु समस्त सिद्धियो को प्रदान करने की सामर्थ्य रखते हुए भी साधक या आराधक को उतना ही देती है जितना उसकी श्रद्धा या भावना का परिमाण होता है। उक्त श्लोक का यही वास्तविक अभिप्राय है, यह नही कि प्रस्तुत वस्तु में अपेक्षित गुण के अभाव मे भी हमारी भावना के कारण वह गुण उत्पन्न हो जाये जिसका उसमे उद्भव ही सम्भव नही हो। यदि हमको हमारी भावना के अनुसार ही सिद्धि-प्राप्ति सम्भव हो और प्रस्तुत वस्तु अपने विशिष्ट गुण से हीन हो तब तो वस्तु वस्तु मे न तो कोई अन्तर ही रह जायेगा और न ही वस्तु के अपने निजी गुणो का ही कोई मूल्य रह जायेगा। इसी कारण ज्ञानी पुरुपो का कथन है कि सिद्धि केवल अपनी भावना के अनुसार मिलती है, यह कथन मिथ्यात्वी लोगो की कल्पना मात्र है। वास्तव मे तो उक्त श्लोक का यही अथ है कि निर्दिष्ट वस्तुएँ सब प्रकार की सिद्धियो का स्रोत होते हुए भी साधक को उतना ही प्राप्त होगा या उतनी ही सिद्धि प्राप्त होगी जितनी उसकी भावना का परिमाण होगा। वास्तव मे सम्यग्दृष्टि व्यक्ति ही वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानता है और जिस वस्तु के साथ जैसा आचरण करना चाहिए वैसा ही वह करता है, परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सफलता उसके चरण चूमती है।

जैन भवन, डेह (नागौर) ४ अगस्त, १९७९

२८

# क्या मिथ्यात्व भी गुण का स्थान है ?

जैसाकि प्रकरण चलता आ रहा है सम्यक्त्व से ही जीव को शाश्वत सुखो की प्राप्ति हुआ करती है। सम्यक्त्व का अर्थ सचाई है और जहाँ सचाई है, वहाँ सुख है। जहाँ सचाई का अभाव है वहाँ सुख का भी अभाव है। कल के व्याख्यान मे प्रसग चल रहा था

**"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।"**

जैसी जिसकी भावना हो, उसको सिद्धि भी वैसी ही मिला करती है। सामान्य व्यक्ति इसका यही अर्थ निकालते है कि हमारी भावना मे ही कोई ऐसी शक्ति है जो सिद्धि की जननी है, वस्तु का स्वरूप तो गौण ही है। निम्न लिखित लोकोक्ति भी इसी भावना पर घटित होती है

**"जिसका अवगुण उसके माँही,**
**बाना पूज नफा लो भाई।"**

अर्थात्—

"हमारा कर्तव्य तो बाना-वेश की पूजा करना है और उसी से लाभ उठाना है। गुण-अवगुण का उत्तरदायित्व तो उस पर है जो बाना धारण करता है।" इस मान्यता के अनुसार वस्तु गौण हो जाती है और भावना मुख्य। इसमे सिद्धि या सफलता केवल शुद्ध भावना पर आधारित है, वस्तु उपेक्षणीय है। ऐसी धारणा को हम भ्रान्त धारणा ही कहेगे। इसका कारण है जिस व्यक्ति के प्रति हम ऊँची भावना रखते है और सब प्रकार के गुणो का उसे अधिष्ठान मानते है, यदि वास्तव मे वह हमारे द्वारा अभिलषित एव अपेक्षित गुणो से हीन हो, तो हम पूछते है कि हमारी भावना का क्या महत्त्व होगा और क्या मूल्य होगा ? क्या हमारी शुद्ध भावना की शक्ति से उस गुणहीन व्यक्ति मे गुणो का प्रवेश हो जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। वास्तविकता तो यह है कि हमारे सामने जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है उसको जानने का और समझने का प्रयत्न किया जाये। सासारिक बहाव मे आकर

यदि हम वस्तु का वास्तविक स्वरूप बिना समझे ही अपना सम्बन्ध उससे जोड लेंगे तो फिर ज्ञान-ध्यान का कोई महत्त्व ही नही रह जायेगा।

अपने शास्त्रो मे सम्यक्त्व के ठीक विपरीत व्यापकरूप से एक और शब्द आता है 'मिथ्यात्व'। प्रतिक्रमण सूत्र मे और पच्चीस बोल के थोकडे मे भी इसका उल्लेख है। पच्चीस बोल के अठारह पाप-स्थानको के नामो मे अन्तिम नाम है—मिथ्यादर्शनशल्य। अठारहवें पाप के रूप मे इसकी परिगणना होती है। इसी थोकडे मे अन्यत्र भी मिथ्यात्व का उल्लेख है। कुल मिलाकर तीन बार इसका उल्लेख किया गया है। तेरहवे बोल मे तो इसका विस्तृत विवरण है, इसी मे मिथ्यात्व के दस भेदो का वर्णन है। ग्यारहवें बोल मे चौदह गुणस्थान है जिनमे पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व को भी गुण का स्थान बताना यह बात कुछ आश्चर्य मे डालने वाली अवश्य है किन्तु है सत्याधारित। क्या मिथ्यात्व भी गुण है? इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न खडा होता है कि क्या गुण सभी अच्छे ही होते है? इसका उत्तर यही है कि गुण सभी अच्छे नही होते। गुण दो प्रकार के होते है एक तो होते है कामगुण जो अच्छे नही माने जाते। कामगुणो के पाँच भेद होते है शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श। काम का अर्थ यहाँ 'धर्मार्थकाममोक्ष' मे आने वाला काम है जिसका अर्थ वासना है। इसका सीधा सम्बन्ध सभोग से है। शब्दादि पाँच कामगुण माने जाते है। व्याकरण की दृष्टि से गुण का अर्थ होता है बन्धन। इन पाँच कामगुणो मे बन्धा हुआ आत्मा नरकगामी होता है। बाँधने वाली रस्सी को भी तो गुण कहते है, वह भी बाँधने के ही काम आती है। ये कामगुण जीव को बाँधकर दु ख और दुर्गति के गर्त मे पटक देते है। दूसरा गुण है निजी गुण। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये आत्मा के निजी गुण कहलाते है। आत्मा को बाँधते तो ये भी है किन्तु इनसे बँधा हुआ जीव उत्तरोत्तर मोक्ष की ओर अग्रसर होता रहता है। बन्धन होते हुए भी ये उत्कर्षोन्मुखी है। इसलिए ग्राह्य है और आत्मविकास मे सहायक है।

चौदह प्रकार के गुणस्थानो मे दोनो ही प्रकार के गुणो का समावेश है। पहले ही मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व-सम्बन्धी काम गुणो (शब्दादि) की चर्चा प्रस्तुत की गई और तत्पश्चात् जो अन्य गुणस्थान है जैसे सम्यक्त्व का, देशविरति का, प्रमत्त सयत का, अप्रमत्त सयत का आदि आदि उनमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्बन्धी गुणो का विवरण भी आपको समझा दिया गया। हमारा आत्मा जब पहले गुणस्थान मे रहता है, तो ससार मे परिभ्रमण कराना उसका काम रहता है या यो कहो उसका वह गुण होता है। मिथ्यात्व वैसे तो महा भयकर परिणामवाला होता है किन्तु शास्त्रकारो ने इसकी गणना जो गुणो मे की है वह रहस्यात्मक है।

ये चौदह ही गुणस्थान आत्मा की अवस्थाएँ हैं किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा की अवस्था अलग है। क्षेत्र की अपेक्षा से तो शुद्ध आत्मा का निवास चौदह राजू लोक के लम्बे-चौडे लोक के ऊपर ही ऊपर, या यो समझिये कि ललाट के ऊपर है, तो सिद्धशिला और ऊपर जो भाल है वहाँ पर सिद्धात्माएँ विराजती है। इस प्रकार मुक्तावस्था का स्थान तो बहुत ऊपर है। हमारा अभिप्राय यहाँ क्षेत्र की अपेक्षा से है। हम लोग अभी चौदह राजू लोक के बीच मे रहते हे। सात राजू से कुछ अधिक भाग हमारे नीचे है एव सात राजू से कुछ कम भाग हमारे ऊपर है। हमारा यह लोक मनुष्यलोक कहलाता है। इस लोक का दो लोको के मध्य मे स्थान है, ठीक वैसे ही जैसे शरीर के मध्य मे नाभि का। हमारे शरीर मे और जीवन मे नाभि का स्थान बडे महत्त्व का है। नाभि शरीर का सेंटर है। यहाँ से सारी नाडियाँ कुछ ऊपर की ओर और कुछ नीचे की ओर जाती है। यदि यह कहे कि हमारा सारा जीवन तन्त्र नाभि से सचालित है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। नाभि महामर्म स्थान है। चौदह राजू लोक के अन्दर मनुष्यलोक भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। मनुष्य लोक के ऊपर का लोक और नीचे का लोक मनुष्यलोक के समक्ष कुछ महत्त्व नही रखते। इसी मनुष्यलोक के निवासी पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप देवलोक मे उत्पन्न होते हैं। देवता बनते है, देवागनाए बनती है। देवलोक मे जो भी जाहोजलाली है वह सब मनुष्यलोक का ही प्रभाव है। देवलोक के यद्यपि ऊपर मोक्ष है किन्तु उसका नाम हमने इसलिए नही लिया क्योकि वहाँ किसी प्रकार की जाहोजलाली दृष्टिगोचर नही होती। हमारे-तुम्हारे जैसा कोई व्यक्ति यदि सिद्धशिला पर चला जाय तो वहाँ वह कुछ भी तो नही देख पायेगा, वह तो सर्वत्र शून्य और शून्य का ही अनुभव करेगा। यद्यपि वहा अनत सिद्धात्मा विराजमान है किन्तु मनुष्य के चर्म चक्षु उनको नही देख सकते, यह इसलिए कि आत्मा द्रष्टव्य पदार्थ की स्थिति मे नही है। आप लोग जो सिद्धो के विषय मे 'जोत मे जोत समाने' की बात किया करते है, उस पर भी मैं प्रकाश डालूँगा। सिद्धात्मा हमारे चक्षुओ के अगोचर क्यो है, इसका भी एक विशेष कारण है। हम जो ससार के पदार्थो को देखते है तो उस देखने का माध्यम हमारी आँखें है। आँखें पौद्गलिक है और ससार के जिन पदार्थो को वे देखती है वे सभी पौद्गलिक है। पुद्गलो के अन्दर वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते है। ये वर्णादि सभी इन्द्रियो के विषय हैं। वर्ण को आँखें ग्रहण करती है, गन्ध को नाक ग्रहण करता है, रस को जिह्वा एव स्पर्श को त्वचा ग्रहण करती है। आँखे तो वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श वाली चीजो को ही देखने की सामर्थ्य रखती है किन्तु जहा इन सभी का अभाव है वहाँ ये क्या देखेंगी ? सिद्धस्थान पर तो द्रष्टव्य सभी तत्त्वो

का अभाव है, वहाँ तो केवल अरूपी शुद्धात्मा है जो आँखो का विषय नही बन सकते ।

सिद्धो के लिए जो 'जोत मे जोत समाने' की उक्ति चली हुई है, अब उस पर सक्षिप्त प्रकाश डालेंगे । यदि कोई व्यक्ति यह प्रश्न करे कि जब सिद्ध-शिला पर अनन्तानन्त आत्मा विराजमान है तो वहाँ किसी नये मुक्तात्मा का प्रवेश कैसे सभव होगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ही कहा गया है, 'ज्योति मे ज्योति के समान विराजमान' । एक ज्योति मे दूसरी ज्योति मिल जाती है, एक दीपक के प्रकाश मे दूसरे दीपक का प्रकाश लीन हो जाता है । एक का ही क्यो यदि अनेक दीपक भी एक कमरे मे रख दिये जायें तो सभी का प्रकाश समष्टि रूप मे एकाकार हो जाता है । इसी को ज्योति मे ज्योति समाना कहा गया है । एक आत्मा मे दूसरे आत्मा के समाने की अपेक्षा से ही सिद्धो के लिए यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है । देखने की अपेक्षा से इस दृष्टान्त को घटाना उचित नही है क्योकि ज्योति को तो हम देख सकते है ।

इस प्रकार मोक्ष का नाम हमने इसलिए नही लिया क्योकि वहाँ रवन्नक, जाहोजलाली कुछ भी दृष्टिगोचर नही होती । जो कुछ देखने का, सुनने का और मस्ती का मजा है वह तो सारा देवलोक मे है । परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि वहाँ की रगरलियाँ सब मर्त्यलोक पर आश्रित है, यहाँ मनुष्य-लोक के आत्मा पुण्यकर्म करके वहाँ पहुँचेगे तभी वहाँ आनन्द और विलास के उद्गार व्यक्त होगे । सक्षेप मे, देवलोक की चहल-पहल मनुष्यलोक पर आश्रित है ।

पाप करने वाले मनुष्य मरकर नरकलोक मे जाते है । यहाँ पर पापात्माओ की जो भीड-भाड लगी रहती है वह भी मनुष्यलोक का ही प्रताप है । इस प्रकार ऊपर और नीचे के दोनो लोक मनुष्यलोक से प्रभावित है ।

यह मनुष्यलोक चौदह राजू लोक के बीच मे आने के कारण बडे महत्व का है । चाँद, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि सब यही है देवलोक मे नही है, नरक-लोक मे भी नही है । पैतालीस लाख योजन का जो यह लम्बा-चौडा एरिया है—अढाई द्वीप का । उसी मे है सत्ता चाँद, सूय की । ये चाँद-सूर्यादि गति-शील है । इस प्रकार का यह मध्यलोक तिरछा होकर भी वडा लम्बा-चौडा है । एक राजू का विस्तार है इसका । मनुष्य क्षेत्र के बाहर भी चाद, सूय, नक्षत्र और तारे हे तो सही किन्तु वे स्थिर है, गतिशील नही है । गतिशील चाँद सूर्यादि तो केवल पैतालीस लाख योजन के एरिया मे ही है । इन ग्रहो की गतिशीलता के आधार पर ही मनुष्यलोक का सारा टाइमटेबल चलता है । दिन, रात, महीना, वर्ष, युग, कल्प, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि जितना भी समय पूरा होता है, उस सब के आधारभूत ये चर ग्रह ही है । देवलोक

तक का टाइम-टेवल मनुष्य क्षेत्र के अनुसार चलता है। देवताओ की स्थितियाँ, नारको की स्थितियाँ सब मनुष्यलोक के समय के आधार पर मापी जाती है। तभी तो मैंने कहा था आपसे कि ऊपर के और नीचे के दोनो लोको से मनुष्यलोक अधिक महत्त्व रखता है।

तो हम आपसे कह रहे थे कि क्षेत्र की दृष्टि मे हम दो लोको के बीच मे स्थित है। हमने नीचे के सात राजू से कुछ अधिक भाग पार कर दिया है, बीच मे स्थित हैं हम। परन्तु गुणस्थान तो आत्मा की स्थितियाँ है। क्षेत्रिक अपेक्षा से तो जो स्थिति है वह शरीर की स्थिति है। शरीर बीच मे है। आत्मा के विषय मे यदि कोई जानना चाहे कि आत्मा कहाँ अवस्थित है ? तो उसके लिए चौदह गुणस्थान हैं।

निश्चयरूप से तो केवल ज्ञानी ही बता सकते है कि आपकी और हमारी आत्माएँ किन गुणस्थानो मे स्थित हैं। व्यवहार नय से हमारा गुणस्थान छठा है और आपका गुणस्थान पाँचवाँ है। अधिक किसी ने जोर लगा दिया तो कुछ समय के लिए सातवाँ गुणस्थान आ जाता है। भावना मे थोडा शैथिल्य आते ही वही आत्मा पुन छठे गुणस्थान मे आ जाता है। तीर्थंकरो की स्थिति भी यही है। दीक्षा लेते समय तो उनका सातवाँ गुणस्थान होता है और दीक्षा के पश्चात् छठा गुणस्थान रहता है। किसी के भी मन में यह शका होनी स्वाभाविक है कि तीर्थंकर बनने वाले आत्मा सातवें से छठे मे नीचे कैसे उतर आए ? इस प्रश्न का समाधान मनोवैज्ञानिक है। जब आपको किसी वस्तु को प्राप्त करने की अधिक लालसा रहती है, उत्कठा रहती है तो उसकी प्राप्ति के लिए आप हर सम्भव प्रयत्न करते हो। प्रयत्नो के परिणामस्वरूप जब आपको अपनी अभिलषित वस्तु मिल जाती है तब आपकी पूर्व की अभिलाषा की उत्कटता समाप्त हो जाती है। इसी भाव को अग्रेजी मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है

"Achievement is the end of pleasure"

अर्थात् – अभिलषित वस्तु की प्राप्ति उत्कठा के आनन्द को समाप्त करने वाली होती है।

वस्तु के अभाव के समय तो प्राप्ति के लिए प्रयत्न रहता है, वस्तु के सद्भाव मे उत्कठाजन्य प्रयत्न तो समाप्त हो जाता है किन्तु प्राप्त वस्तु को सुरक्षित रखने का भाव मन मे पैदा हो जाता है। सुरक्षित रखने का भाव अलग प्रकार का होता है और वस्तु प्राप्ति की उत्कठा का भाव अलग तरह का होता है। दोनो भावो मे दिन-रात का अन्तर होता है। सातवाँ गुणस्थान आत्मा में उसी समय रहता है जब यह भावना होती है कि ससार से शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा पाकर आत्मकल्याण किस प्रकार किया

जाए, मोक्षोन्मुख करने वाले व्रतो को कितनी जल्दी जीवन मे उतारा जाये। दीक्षित होने के पश्चात् वही व्यक्ति छठे गुणस्थान का धनी बन जाता है। फिर तो वह सदा इसी ध्यान मे रत रहता है कि उसकी दीक्षा मे किसी भी प्रकार की क्षति या हानि न आने पाये। वह अगीकृत दीक्षा के सरक्षण मे प्रयत्नशील रहता है।

हम आपसे बता रहे थे कि हमारी आत्मा की वास्तविक स्थिति तो निश्चय नय से सर्वज्ञ भगवान् ही बता सकते हैं कि हमारा पहला गुणस्थान भी छूटा है या नही छूटा है। हम सातवें गुणस्थान का व्यवहार लेकर बैठे हैं, छठे गुणस्थान का व्यवहार लेकर बैठे है किन्तु पहले गुणस्थान का छूट जाना भी कोई सामान्य बात नही है।

प्रथम गुणस्थान को भी शास्त्रकारो ने गुण का स्थान बताया है। गुणस्थान क्या होता है, सर्वप्रथम मैं आपको इसकी मनोवैज्ञानिक रूपरेखा बताऊँगा। कल्पना करो कि एक-एक माईल के फासले पर एक हद समाप्त होती है। एक माईल जब पार कर लेंगे, तब पहले गुणस्थान की सीमा समाप्त हो जायेगी। उसके बाद फिर चलेगे तो दूसरे माईल पर दूसरे गुण-स्थान की हद समाप्त हो जायेगी। पहले माईल की जहाँ से शुरुआत हुई थी, वहाँ से मार्ग तय करता हुआ आत्मा पहले माईल तक की सीमा तक पहुँच गया। जब उसने पहले माईल से यात्रा आरम्भ की थी उस समय जो उसमें अशिष्टता, असभ्यता, विकृति या मालिन्य थे वे उत्तरोत्तर यात्रा मे शिथिल पडते गये, धूमिल होते गये या मिटते गये। आरम्भ में जो उनकी सत्ता थी वह इति मे नही दिखाई देती। जब वह चला था तो उसकी स्थिति निकृष्ट-तम थी, गाढ अज्ञानान्धकार से वह आवृत था। जैसे-जैसे वह कदम बढाता गया उसकी चेतना उत्तरोत्तर जागृत होती गई, अज्ञान का तिमिर तिरोहित होता गया और प्रकाश की किरणो की अनुभूति होने लगी। इस प्रकार यद्यपि पहले माईल के आरम्भ से लेकर अत तक मिथ्यात्व ही है तथापि आरम्भिक स्थिति जितनी हीन, मलिन व आवृत थी, उतनी अत तक की स्थिति हीन, मलिन व आवृत नही रही। प्रत्येक कदम पर कुछ न कुछ हीनता व मलिनता अवश्यमेव मिटी एव फलस्वरूप आत्मिक गुण थोडे से थोडे अशो में प्रकट हुआ। इसीलिए शास्त्रकारो ने मिथ्यात्व को भी गुण-स्थान के रूप में बताया है। आगे चलकर जीव जैसे-जैसे कदम बढाता गया उसकी चेतना उत्तरोत्तर जागृत होती गई, अज्ञान का तिमिर तिरोहित होता गया और प्रकाश की किरणो की अनुभूति होने लगी। इस प्रकार जैसे सीमाओ को पार करता जाता है, वैसे-वैसे उसके गुणस्थान भी बढते जाते है।

"मिथ्यात्व की आरभिक अवस्था तो पूर्णरूपेण आवृत एव हीनातिहीन थी।

उसको भी तो शास्त्रकारो ने गुणस्थान ही माना है । हीनातिहीन पूर्व की अवस्था को शास्त्रकारो न गुणस्थान कैसे मान लिया ?" ऐसी कोई आलोचक शका कर सकता है। इसका समाधान यही है कि पूर्व अवस्था मे जब आत्मा पूर्ण अन्धकार मे था उस समय उसने जो घोर से घोर कम बांधा, या महा-मोहनीय कर्म बाँधा, सत्तर क्रोडाक्रोड सागरोपम की स्थिति वाला कर्म बांधा, उस कर्म को भोगते हुए उसने बहुत-सा समय वहाँ बिताया । उसके बद्धकर्म वहाँ पर हल्के हो गये । ऐसी स्थिति मे जब वह चला तो बोझिल होकर नही चलना पडा, हल्का होकर चला । पहले जो उसने महान् कर्म बांध रखे थे उनको उसी अवस्था मे भोग लिया, कर्मो के कुछ अशो से तो उसने छुटकारा पाया ही, इसलिए पूर्वावस्था मे भी गुणस्थान सार्थक है । इसके अतिरिक्त उस निम्नतम कोटि के गुणस्थान मे रहा हुआ आत्मा मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को नही बांधता । वहाँ पर तो उसको भोगने ही भोगने का काम रहता है । जब आत्मा वहाँ से चलता है, आधा या पौन रास्ता तय कर लेता है, तभी उसको कुछ न कुछ बोध होता है । व्यक्त मिथ्यात्व ही उसको आधे से अधिक चलने के पश्चात् प्राप्त होता है । इसके पूर्व जो मिथ्यात्व था, वह तो अव्यक्त मिथ्यात्व था । अव्यक्त और व्यक्त मिथ्यात्व का भेद पच्चीस बोल मे नही बताया गया है । वहाँ तो केवल 'पहला मिथ्यात्व गुणस्थान' बस इतना निर्देश है । मिथ्यात्व के अन्दर ही जैसा कि मैंने पहले भी आपको सकेत किया है, मिथ्यात्व की आदि अवस्था से लेकर मिथ्यात्व की अन्तिम अवस्था के बीच मे ही न जाने कितनी अवस्थाएँ हैं । आपको समझाने के लिए दृष्टान्त तो माईलो का दिया है किन्तु वास्तव मे योजनो के योजन उस स्थिति मे पहुँचने के लिए समा जाते हैं ।

साराश यह कि मिथ्यात्व के अन्दर भी अनेक अवस्थाएँ है । अव्यक्त मिथ्यात्व के अन्दर तो केवल भोग ही भोग होता है । फिर व्यक्त मिथ्यात्व आता है । दोनो मे अन्तर यह है कि व्यक्त मिथ्यात्व मे तो सुगुरु, सुदेव और सुधर्म के प्रति द्वेष होता है तथा कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के प्रति राग भाव रहता है । लेकिन अव्यक्त मिथ्यात्व मे ऐसा कुछ नही होता । अव्यक्त मिथ्यात्व मे तो कुछ मालूम ही नही पडता । वह तो घोरातिघोर अन्धकार की स्थिति होती है । देव, गुरु और धर्म के विषय का तो उसे तनिक भी ज्ञान नही होता । वहाँ असज्ञी की-सी हालत होती है । मन का वहाँ अभाव होता है और वेदना शक्ति वहाँ मन्द होती है । बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा समझना— यह तो मिथ्यात्व का व्यक्त स्वरूप है । बहुत-से आचार्य तो इस व्यक्त मिथ्यात्व को ही 'मिथ्यात्व गुणस्थान' मानते है । अव्यक्त मिथ्यात्व को गुण का स्थान मानते ही नही । उनकी इसमे यही दलील है कि व्यक्त मिथ्यात्व के अन्दर

कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के प्रति उसकी श्रद्धा जागृत हुई तो एक श्रद्धा का गुण उसमे प्रकट हुआ। यह गुण ही आगे चलकर सम्यक्त्व मे परिणमित होने की सभावना रखता है। आज जो कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के प्रति श्रद्धान्वित है कल वही श्रद्धा मे परिवर्तन आने से सुगुरु, सुदेव और सुधर्म के प्रति आकर्षित हो सकता है। इसीलिए व्यक्त मिथ्यात्व मे एक गुण के अस्तित्व के कारण वह भी गुणस्थान है। अव्यक्त मिथ्यात्व मे श्रद्धा रूपी गुण का सर्वथा अभाव होने के कारण कुछ आचार्य इसको गुणस्थान के रूप मे स्वीकार नही करते।

इस प्रकार मिथ्यात्व और मिथ्यात्व में भी बहुत-सा अन्तर होता है। आरम्भ के मिथ्यात्व की अवस्था कुछ और प्रकार की होती है किन्तु मिथ्यात्व की समाप्ति की अवस्था में जीव आसन्न सम्यक्त्वी बन जाता है। वह सम्यक्त्व के इतना समीप चला जाता है कि उसमें अशमात्र ही मिथ्यात्व का अवशेष रह जाता है। इस अशमात्र के कारण ही उसकी गणना मिथ्यात्व गुण-स्थान मे होती है।

सक्षेप मे मिथ्यात्व विपरीत मान्यता का द्योतक है। विपरीत मान्यता किसी भी रूप मे अच्छी नही कही जा सकती। विपरीत मान्यता वाला व्यक्ति तो देवत्व-गुण-विहीन को भी देवता के रूप मे अगीकार कर लिया करता है। वह तो 'यादृशी भावना यस्य' वाले सिद्धान्त को मानकर कुदेव को भी सुदेव मान लिया करता है। कुगुरु को सुगुरु और कुधर्म को सुधर्म वह मान लेता है। ऐसा व्यक्ति तो पूर्णरूपेण मिथ्यात्वी होता है। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि जो व्यक्ति 'यादृशी भावना यस्य' वाले सिद्धान्त को लेकर प्रस्तुत पदाथ मे सिद्धि के तत्त्वो के अभाव मे भी वहाँ भावना के बल पर सिद्धि की कल्पना करता है तो वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफलता की सोपान पर आरूढ होने मे समर्थ नही हो सकता। इसलिए सम्यक्त्वी का कतव्य है कि वह ससार मे प्रचलित भ्रान्तिपूर्ण और अमान्य मान्यताओ, धारणाओ और विचारधाराओ से अपने-आपको दूर रखे। गगा गये तो गगादास और जमुना गये तो जमुना-दास—ऐसा सम्यक्त्वी को नही होना चाहिए।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ५ अगस्त, १६७६

# मनुष्य जन्म दुर्लभ क्यो ?

शाश्वत सुखो की प्राप्ति कर्म-बन्धनो की मुक्ति के पश्चात् ही हुआ करती है। मुक्ति-विषयक वास्तविक ज्ञान भी सम्यक्त्व के अनन्तर ही प्राप्त होता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के दो प्रकार हैं स्वाभाविक रूप से और उपदेश द्वारा।

**"तन्निसर्गादधिगमाद् वा"**

मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय का यह तीसरा सूत्र है जिसका अर्थ है कि सम्यक्त्व की जागृति दो प्रकार से होती है एक तो निसर्ग-स्वभाव से या अपने-आप भी कह सकते है और दूसरे किसी के उपदेश से। कोई यह भी पूछ सकता है कि जहाँ दो कारण होते है वहा एक कारण मुख्य होता है और दूसरा गौण। एक ही कारण के अस्तित्व मे तो किसी प्रकार की विवक्षा नही होती किन्तु जहा दो है तो कोई विवक्षा होगी ही। मुख्य और गौण के अर्थ से तो आप भलीभाँति अभिज्ञ होगे। जो विचार प्रधानरूप से अन्य विचारो का केन्द्र होता है वह मुख्य होता है, शेष विचार जो उस मुख्य के अनुगामी मात्र होते है, वे गौण कहलाते है। मुख्य और गौण की विचार-पद्धति पर चलने से किसी प्रकार के प्रबन्ध मे अव्यवस्था नही आ पाती। वस्तु-तत्त्व को समझने मे भी इससे आसानी रहती है। उदाहरण के लिये, यहाँ सभा मे सौ व्यक्ति उपस्थित हैं, उनमे से एक बोलता हो और शेष सुन रहे हो बडे ध्यान से कि वह क्या उपयोगी बात बोल रहा है, वहाँ वक्ता मुख्य कहलायेगा और शेष श्रोता गौण कहलायेगे। हमारे सामने प्रसग था कि निसर्ग से सम्यक्त्व प्राप्त करने वालो और उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त करनेवालो मे कौन मुख्य और कौन गौण कहलायेगा ? इसका उत्तर यही है कि निसर्ग द्वारा जो सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है वह अपनी स्वय की योग्यता के आधार पर करता है, किसी पर निभर नही रहता, इस कारण वही मुख्य है। इसके विपरीत उपदेश द्वारा प्राप्त की गई सम्यक्त्व की शक्ति तो दूसरे के निमित्त से उत्पन्न हुई, स्वय की निर्भरता का उसमे अभाव है, इस कारण वह गौण है। शास्त्रीय भाषा मे स्वय की

योग्यता 'उपादान' कहलाती है और दूसरे की 'निमित्त'। उपादान मुख्य होता है और निमित्त गौण।

अब हमारी चिन्तनधारा की दूसरी कडी है कि निसर्ग या स्वभाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होती है और उपदेश द्वारा कब ? इसके साथ साथ अब यहाँ यह भी विचार करना है कि सर्वप्रथम नैसर्गिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ था अथवा उपदेश-जन्य। इस प्रश्न का समाधान शास्त्रकार ने उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन मे किया है। जिसका शीर्षक है 'चाउरगिज्ज' अर्थात् चतुरगीय। चतुरग शब्द का अर्थ है 'चार अग'। जहा चार अग एकत्रित हो जाते हैं वहाँ एक विशिष्टता आ जाती है। अग का अर्थ है जिसके बिना वस्तु अपूर्ण मानी जाये। हाथ, पैर, मस्तक आदि हमारे अग हैं, इन अगो को धारण करने वाले हम अगी कहलाते है। इन सब अगो के ऊपर जिसका स्वामित्व है वह आत्मा है। "मेरे सिर मे पीडा है या पैर मे काटा चुभ गया है" आदि भावो की अभिव्यक्ति आत्मा की है। शरीर के सारे अग पूरे होगे तो वह पूर्णांगी कहलाता है, एक के भी अभाव मे वह अपूर्ण बन जाता है। सस्कृत के चतुरग शब्द के लिये हिन्दी मे चौपड शब्द का प्रयोग होता है। चौपड वही जिस पर लोग खेला करते है। चौपड के भी चार छोर या चार पट होते है। खेल के लिए चारो छोरो का बराबर होना परमावश्यक है। खिलाडी जब चारो ही अगो को जीत लेता है, तभी उसकी जीत मानी जाती है। एक भाग भी जीतना यदि अवशिष्ट रह गया तो खिलाडी की हार मानी जायेगी। उत्तराध्ययन सूत्र का तीसरा अध्ययन भी एक प्रकार का चौपड है जिसका खिलाडी है आत्मा। इस सूत्र के अध्ययन की प्रथम गाथा है

**"चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो।**
**माणुसत्त सुई सद्धा सजमम्मि य वीरिय ॥"**

अर्थात्—इस ससार मे, जहाँ यह आत्मा ऊपर, नीचे और तिरछे भटक रहा है, चार अग अत्यन्त दुर्लभ है। दूसरे शब्दो मे, इनकी प्राप्ति बडी कठिनाई से हुआ करती है। इनमे पहला अग है मनुष्यत्व। मनुष्य का जन्म आत्मा को बडे ही लम्बे समय के पश्चात् बडी कठिनाई से प्राप्त होता है। गणना की दृष्टि से देखा जाये तो विश्व मे दूसरे जीव-जन्तुओ या प्राणियो की अपेक्षा से मनुष्य बहुत कम है। नगण्य भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नही। हमारा आत्मा ससार मे असख्य योनियो मे भ्रमण करता है, उसने मनुष्य भव मे जितना समय व्यतीत किया वह समय दूसरे-दूसरे भवो मे बिताये गये समय की अपेक्षा अनन्तवा भाग ही है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भव मे बिताये गये समय से दूसरे-दूसरे भवो मे अनन्तगुणा अधिक समय उसने बिताया है।

गतियाँ चार है और उन चारो गतियो मे हमारा आत्मा अनेक बार जन्म ले चुका है। शास्त्रीय भाषा मे आत्मा के एक-एक गति मे ठहरने के काल को 'सचिट्ठणा काल' कहा जाता है। सस्कृत मे सचिट्ठणा की छाया 'सतिष्ठन् काल' है। सबसे कम सचिट्ठणा काल मनुष्य गति का होता है। सबसे कम आत्मा मनुष्य गति मे निवास करता है। मनुष्य गति की अपेक्षा आत्मा नरक गति मे अधिक रहा है और नरक गति से भी अधिक आत्मा रहा है देवगति मे। यह बात आपके ध्यान से समझने योग्य है। नरक गति के अन्दर हमारा आत्मा जितने समय तक रहा है उससे अनन्तगुणा काल पर्यन्त, वह देवगति मे रहा है। साराश यह कि नरक की अपेक्षा हमने देवगति का अधिक भोग किया है। इसमे छिपा हुआ तथ्य यह है कि नरक गति का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष का होता है और उत्कृष्ट आयुष्य तेतीस सागरोपम होता है। इसी प्रकार देवलोक मे जघन्य आयुष्य दस हजार वष का एव उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम होता है। नरक के तेतीस सागर हमने अनन्त बार प्राप्त कर लिये किन्तु देवलोक के तेतीस सागर अब तक प्राप्त ही नही किये। देवलोक के तेतीस सागर एक बार या दो बार प्राप्त करने के पश्चात् फिर अधिक भव नही करने पडते, फिर तो मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि हमने देवलोक का उत्कृष्ट आयुष्य तो एक बार भी प्राप्त नही किया किन्तु थोडा थोडा करके भी अधिक समय नरक की अपेक्षा देवलोक मे ही बिताया है। तिर्यच गति मे तो हमारा आत्मा देवलोक से भी अधिक रहा है। तिर्यच गति मे तो एक-एक स्थान ऐसा होता है जहाँ अनन्त काल तक रहना पडता है। कई कालचक्र तक पूरे हो जाते हे यदि आत्मा वनस्पतिकाय मे चला जाये। सबसे अधिक समय जीव को वनस्पतिकाय मे ही बिताना पडता है। बडा विस्तृत विवेचन है शास्त्रो मे इसका। वहाँ तो वनस्पतिकाय को 'मातृकाय' कहकर पुकारा गया है। सब जीवो की वनस्पतिकाय माता है। जिस प्रकार माता से सन्तान प्राप्त होती है, उसी प्रकार सब जीव वनस्पतिकाय से आते है। वनस्पति के अन्दर अनन्त जीव होते हैं। एक निगोद के अन्दर ही अनन्त जीवो की सत्ता रहती है। निगोदो की सख्या असख्य है। ये निगोद भी दो प्रकार की है सूक्ष्म और बादर। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक—इन तीन भेदो मे सूक्ष्म और साधारण—इन दोनो मे निगोद है। प्रत्येक वनस्पतिकाय के अन्दर निगोद नही है। प्रत्येक का यहाँ आशय है कि एक जीव को रहने के लिए एक शरीर का होना। साधारण वनस्पतिकाय के अन्दर एक ही शरीर मे दो से लेकर, सख्यात, असख्यात और अनन्त जीव रहते है। साधारण शब्द अधिक का प्रतीक है और असाधारण एक का। वनस्पति के अतिरिक्त, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के अन्दर भी जीव को असख्य काल बिताना पडता है। शास्त्र मे जीव की इस

प्रकार की गति को ही ध्यान मे रखकर कहा गया है कि मनुष्यत्व की प्राप्ति बडी ही दुर्लभ है।

मनुष्यगति मिल भी गई तो फिर दूसरा दुर्लभ अग है 'श्रुति'। श्रुति का शाब्दिक अर्थ है सुनना। जो सुनने योग्य हो उसे 'सुनना'। यो तो जिनके कान है वे कुछ न कुछ सुना ही करते है किन्तु वास्तविक सुनने लायक बातो का अवसर लोगो को कम ही मिला करता है। श्रवण करने योग्य बात कौन सी होती है ? श्रवण के योग्य बातें है, 'मै कौन हूँ ? यह सारा विश्व क्या है ? शरीर मे निवास करने वाला कौन है ? शरीर का और इसमे निवास करने वाले का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? क्या यह सम्बन्ध स्थायी है या अस्थायी है ? शरीर का वास्तविक स्वरूप क्या है ? अन्दर रहने वाले जीव का क्या स्वरूप है ? सब मनुष्यो के अग, उपाग और अवयव एक समान होते हुए भी किसी का व्यक्तित्व आकर्षक और दूसरे का घृणित क्यो है ? एक ही माता-पिता के दो पुत्रो मे एक भाग्यवान् और दूसरा दर-दर की ठोकरे क्यो खाता फिरता है ? कुछ लोगो को भगीरथ प्रयत्न करने पर भी सफलता क्यो नही मिल पाती और दूसरो को सामान्य प्रयत्न से ही उच्चतम फल की प्राप्ति क्यो हो जाती है ? कुछ बालक जन्म से ही सर्वाग-सौन्दर्यपूर्ण क्यो होते है और अन्य जन्म से ही विकलाग क्यो ?' इत्यादि-इत्यादि बातें सुनने लायक है और सुनकर मनन करने योग्य है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे व्यक्तित्व के धनी होते है जिनकी बातो को सुनते-सुनते मन अघाता ही नही और कुछ ऐसे ही होते है जिनकी आकृति से भी घृणा हो जाती है और जिनकी एक बात भी सुनने को मन नही करता। ससार मे उच्चता और नीचता का क्या कारण है ? जीवन मे विषम परिस्थितियाँ अप्रत्याशित रूप मे क्यो आ जाती है ? इत्यादि-इत्यादि बाते सुनने लायक है, जानने लायक है।

इन सारी की सारी बातो या प्रश्नो का उत्तर तो सवज्ञ भगवान् ही दे सकते है किन्तु सवज्ञ तो हमारे प्रश्नो का उत्तर देने के लिए आ नही सकते, हम उनके द्वारा प्रनिपादित, अनुमोदित एव प्रसारित शास्त्रो का सहारा ले सकते है, अपने प्रश्नो के समाधान के लिए। सवज्ञो द्वारा प्रतिपादित शास्त्र सुनने लायक है। कठिनाई यह है कि सर्वज्ञो द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तो के श्रवण का योग मिलना भी सरल नही है। शास्त्रो को श्रवण कराने वाले सन्तो का योग मिल भी जाये तो उनका पर्याप्त लाभ उठाने वाले नही मिलते। हमारा कहने का साराश यही है कि सुनने योग्य जो बातें है, जिनसे हमारा हित हो सकता है और हम अहित से बच सकते है, जो बातें हमे कतव्य का बोध कराती ह और अकतव्य से हमारी रक्षा करती है—ऐसी सर्वज्ञो की बातो को या वाणी को सुनने का अवसर हमे सर्वदा सुलभ नही होता।

यहाँ पर एक ऐसी कडी आ गई है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है। शास्त्रकार ने सर्वप्रथम तो मनुष्य जन्म की दुर्लभता बताई और फिर शास्त्र-श्रवण को दुर्लभ बताया। यह बात विचारणीय है। शास्त्र के श्रवण करने का योग तो देवलोक मे देवो को भी प्राप्त होता है। तिर्यंचो को भी शास्त्र-श्रवण का योग मिल जाता है, नरक लोक मे भी शास्त्र श्रवण सुलभ है क्योकि वहाँ पर भी सम्यग्दृष्टि नैरयिक विद्यमान है। सम्यक्त्वधारी नैरयिक अपने किसी हितैषी मिथ्यात्वी नैरयिक को उपदेश भी दे देता है कि "तू व्यर्थ मे ही इतना क्यो तडप रहा है, क्यो इतने दु ख का अनुभव कर रहा है, बधे हुए कर्मों को तो भोगना ही पडेगा, बिना भोगे उनसे छुटकारा सभव नही। आयुष्य कर्म तो बेडी के समान है। जितने समय का दण्ड है, उतने समय तक उसे भोगना ही पडेगा, रोने-चिल्लाने से उसमे परिवर्तन आने वाला नही है" इत्यादि। सान्त्वना-पूर्ण शब्दो मे समझाने वाले नैरयिक नरक मे भी होते है। तीर्थंकर गोत्र को बाँधने वाले और आगामी भवो मे तीर्थंकर बनने वाले आत्माओ को भी नरक गति मे जाना पडता है। तीन नरक तक के निकले हुए जीव तीर्थंकर हो सकते है। देवलोक के देवता भी यदि चाहे तो मनुष्यलोक मे आकर शास्त्रो का श्रवण कर सकते है और वहाँ पर बैठे बैठे भी शास्त्रचर्चा कर सकते हैं। इसी प्रकार तिर्यचो को भी यहाँ पर तीर्थंकरो के मुखारविन्द से अथवा अन्यान्य मुनिराजो से वाणी सुनने का अवसर मिल सकता है। ऐसी स्थिति की दुर्लभता को जोडने का क्या प्रयोजन है। इसका उत्तर है कि शास्त्र का श्रवण जितना मनुष्य को फल सकता है उतना न देवो, न नारको को और न ही तिर्यचो को ही फलीभूत हो सकता है। अधिगमज सम्यक्त्व अर्थात् उपदेश द्वारा प्राप्त होने वाले सम्यक्त्व की प्रधानता तो मनुष्य गति मे ही होती है। अन्य गति के जीवो की अपेक्षा मनुष्य को ही शास्त्र-श्रवण अधिक फलीभूत क्यो होता है, इसका भी कारण है। देव और नारक कुछ भी त्याग, व्रत और प्रत्याख्यान नही कर सकते, यह भी स्पष्ट कारण है किन्तु यह अपूर्ण कारण है क्योकि तिर्यंचो के अन्दर भी श्रावको के व्रत को धारण करने वाले मिलते है। यदि यह कहे कि सर्वविरति धर्म को धारण करने वाले तो मनुष्य गति मे ही मिलते है तब भी समाधान अपूर्ण रह जाता है। वास्तव मे त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान का या साधु और श्रावक के व्रतो को धारण करने का यहाँ कोई महत्त्व नही है। यहाँ पर जिसका महत्त्व है उसका निर्देश उक्त सूत्र की गाथा के तीसरे चरण मे है। वह है तीसरी दुर्लभ उपलब्धि 'श्रद्धा'। इस श्रद्धा का ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। इस श्रद्धा के अतरग वास्तविक भाव को न समझने वाले लोग ही खोटी, खरी आदि विशेषण श्रद्धा के साथ ज डा करते हैं। श्रद्धा शब्द स्वय मे पूर्ण है और उदात्तभाव का द्योतक है, इसके भेद करना बुद्धिमत्ता नही है। श्रद्धा शब्द का

तो वास्तविक अर्थ ही 'श्रत्' अर्थात—श्रेष्ठ प्रकार से, 'धा' अर्थात्—वस्तु स्वरूप को धारण करना है। श्रद्धा को जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है सम्यक्त्व की प्रतीक ही समझना चाहिए। गाथा के तीसरे चरण मे श्रद्धा को अग कह कर सम्यक्त्व का ही निर्देश किया गया है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। इसका कारण है कि मनुष्यभव के अतिरिक्त दूसरे किसी भी भव मे यदि शास्त्र सुन भी लिया जाये तो उससे अनादिकाल के मिथ्यात्व का मिट जाना सम्भव नही होता। मिथ्यात्व के भी दो प्रकार होते हे आज तक जिसका मिथ्यात्व छूटा ही नही है वह होता है अनादिकाल का मिथ्यात्व। ऐसे व्यक्ति को शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दो मे 'कृष्ण पक्षी' कहा है। ऐसा जीव मनुष्य भव मे शास्त्र-श्रवण करके उस मिथ्यात्व से छुटकारा पा लेता है। दूसरे किसी भी भव मे जीव भले ही कितनी ही बार शास्त्र का श्रवण क्यो न कर ले उसका अनादि-कालीन मिथ्यात्व नही छूट सकता। अब विचार यह करना है कि मनुष्य के अन्दर ही ऐसी कौन-सी शक्ति है जिसके कारण मनुष्य-भव मे शास्त्र श्रवण करने से उसका अनादिकाल का मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है? इस प्रकार की शक्ति दूसरे भवो के जीवो मे क्यो नही है? शास्त्रकार इन प्रश्नो का समाधान करते हुए कहते है कि नरक के अन्दर रहने वाले जीव दुख से परि-पूर्ण होते है।

"नेरइया दुखससत्ता"

नारकीय प्राणी दिवानिश दुख से व्याकुल रहते है। वहाँ तो सर्वत्र दुख ही दुख है, आराम और शान्ति का वहाँ काम नही है। ऐसी स्थति मे उनके पास सोचने और समझने का अवकाश ही कहाँ है? जहाँ एकात दुख का वातावरण हो वहाँ सूझ भी क्या सकता है? देवलोक मे रहने वाले देवताओ की स्थिति नारको से सवथा विपरीत प्रकार की है। देवता लोग रात-दिन भोग-विलास मे रत रहते हैं। वे विषयो मे इतने खोये रहते है कि आत्मस्वरूप या वस्तुतत्त्व को समझने की ओर तो उनका ध्यान ही नही जाता। तिर्यंच विवेक-विकल ही होते है

"तिरिया विवेक विकला"

जहा विवेक का ही अभाव है, वहाँ वस्तु-तत्त्व को समझने का प्रश्न ही पैदा नही होता! एक मनुष्यगति ही ऐसी है जहाँ न तो अत्यन्त दुख ही है और न ही देवलोक के समान अत्यन्त सुख ही है। यहां अधिक विवेक-विकलता भी नही है। यहाँ तो सभी बातो में मध्यम अवस्था है। यही कारण

है कि मनुष्य मे सार-असार का विचार करने की शक्ति विद्यमान रहती है। अनादिकाल का मिथ्यात्व भी इसी कारण से मनुष्य भव मे नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्व के बताये गये दो भेदो मे अधिगमज या उपदेशजन्य सम्यक्त्व से ही अनादिकाल का मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और वह भी मनुष्य भव के अन्दर। जहाँ तक स्वाभाविक रूप से आने वाले सम्यक्त्व की बात है, एक बार अनादिकाल का मिथ्यात्व नष्ट होकर जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, एव पुन असावधानी से वह सम्यक्त्व चला जाता है तब वह गया हुआ सम्यक्त्व नि सदेह चारो गतियो के अन्दर बिना उपदेश के भी वापस आ सकता है। इस स्वाभाविकता का अस्तित्व तो सभी गतियो मे होता है। अनादिकालीन मिथ्यात्व को मिटाने का उपाय मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही है। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है

"चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा, सजमम्मि य वीरिय ॥

अर्थात्—

आत्मा के लिए चार अग अत्यन्त दुर्लभ है। सर्वप्रथम मनुष्य का जन्म दुर्लभ है, मनुष्य का जन्म पाकर शास्त्र-श्रवण अत्यन्त दुलभ है। शास्त्र-श्रवण का अवसर पाकर भी श्रद्धा की प्राप्ति दुर्लभतर है और उक्त तीनो अगो को पाकर भी श्रद्धा के अनुसार सयम मे पराक्रम लगाना तो अत्यन्त कठिन है। दुर्लभतम चतुर्थ अग की प्राप्ति के पश्चात् आत्मा के चौपड का खेल पूरा हो जाता है। आत्मा चारो अगो का विजेता भी बन जाता है और कर्म रूपी शत्रुओ पर भी उसकी जीत हो जाती है। इसके बाद की अवस्था ही मोक्ष की है और शाश्वत सुखो की प्राप्ति भी तभी होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ६ अगस्त, १९७९

# आयुष्य-बंध और समुद्घात

जैसा कि हम अनेक बार कह चुके है, शाश्वत सुखो की प्राप्ति जीव को मुक्त होने के पश्चात् ही हो सकती है। मुक्त का विरोधी शब्द 'बद्ध' है जिसका अर्थ है 'बँधा हुआ'। जो सब प्रकार के बन्धनो से रहित है, वह मुक्त कहलाता है। शास्त्रो मे 'बद्ध' शब्द का प्रयोग तो कम ही मिलता है। वहाँ तो 'ससारिणो मुक्ताश्च' अर्थात् ससारी और मुक्त शब्दो का ही अधिक प्रयोग है। कुछ व्यक्ति ऐसे है जो बँधे हुए तो है किन्तु छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करते है। मुक्त होने की अभिलाषा उनमें निरन्तर बनी रहती है। इस प्रकार की अभिलाषा और प्रयत्न उनको अपनी वर्तमान परिस्थिति का विरोध करने को बाध्य करते है। इस प्रकार का विरोध करना हर एक के वश की बात नही होती। दूसरे ऐसे है जो जिस बद्धावस्था मे है उसी मे रहना पसन्द करते है। इसका कारण है कि वे बद्धावस्था मे ही आनन्द का अनुभव करते है। बन्धन मे ही वे अपनी सुरक्षा मानते है और बन्धन के अतिरिक्त किसी भी वस्तु मे उनकी रुचि ही नही होती। उन्होने जो भी कुछ अपने जीवन मे देखा, सुना या अनुभव किया होता है वह सारा का सारा बन्धनमय ही होता है। वे ऐसा भी सोचते है कि यदि हम बन्धन मे नही रहे या हमारे बन्धन खुल गये तो हम यत्र-तत्र बिखर ही न जाए। भारा जब तक बँधा रहता है तब तक वह भारा कहलाता है, बिखरने के पश्चात् तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। क्या भारा रहना अच्छा है? कदापि नही। भारा तो भाररूप है। भारा का अस्तित्व तो भाररूप बने रहने मे ही है, क्योकि बिखरने के पश्चात् तो वायु उसका तिनका-तिनका उडाकर ले जायेगी, तब खोज करने से भी अस्तित्व नही मिलेगा।

जब कोई किसी पर नाराज होता है तो मारवाडी भाषा मे गाली के रूप मे उसे कहता है, 'थारो खोज जाइज्यो'। यह गाली अच्छी है या बुरी, लोकजीवन मे तो इसे बुरा ही समझा जाता है। जिसको यह गाली दी जाती है वह तो इसे इसलिए बुरा मानता है कि इसमे उसकी खोज भी नष्ट

जो उसके साथ कर्म चिपटे हुए है उनसे सहसा मुक्ति पाना उसके लिए सम्भव नही होता। इसके अतिरिक्त कर्म, कर्मो को आकर्षित किया करते हैं। दूर की स्थिति वाले अपने सहयोगियो को भी कर्म अपनी ओर खीचकर लाने का प्रयत्न करते हैं। बन्धन की यह परम्परा निरन्तर चालू रहती है, मिटती नही। बाकी आत्मा तो जैसा कि हम पहले बता आये है बन्धनो से छूटने के लिए सदा छटपटाता रहता है। उसे बन्धन पसन्द नही। आत्मा की इस छटपटाहट पर शास्त्र मे एक बडा सुन्दर उदाहरण आता है—तेल के कडाहे का। अग्नि के ऊपर रखे हुए तेल के कडाहे मे अग्नि की तीव्र आँच से तेल उबलने लगता है। खौलते समय उसमे से एक अव्यक्त ध्वनि भी निकलती है। इसके अतिरिक्त अग्नि की उत्कट गरमी से तेल ऊँचा-नीचा होता हुआ भी स्पष्ट दिखाई दिया करता है। ऊपर का हिस्सा नीचे जाता है और नीचे का ऊपर को आता है। अग्नि की भयानक उष्णता के कारण तेल का प्रत्येक परमाणु चचल बन जाता है। अग्नि की तीव्रता के आगे वह कर भी क्या सकता है? इसी प्रकार आत्मप्रदेश जब तक कर्म के साथ बँधे रहते है, तब तक आत्मा की भी यही दशा होती है। आत्मप्रदेश सारे शरीर के अन्दर चक्कर लगाया करते है। वे एक स्थान पर स्थिर नही रहते, स्थिर इसलिए नही कि उनके साथ भिन्न पदार्थ की शक्ति लगी हुई है। स्वय चैतन्य होते हुए भी वह कर्मो की जड शक्ति से आवृत है। उस विरोधी जड तत्त्व से छुटकारा पाने के लिए आत्मा छटपटाया करता है। या दूसरे शब्दो मे आत्मप्रदेश छटपटाया करते हैं।

इसके अतिरिक्त आपने यह भी देखा होगा कि कडाहे मे जब तेल खौलता है तो उसके अन्दर से सफेद सफेद झाग निकला करते है। प्रान्त भागो के झाग तो बडी आकृति के होते है किन्तु मन्दगति से सिमटते हुए वे मध्यभाग मे आकर छोटी आकृति के हो जाते है। छोटी आकृति मे आकर वे पूर्ववत् चचल नही रहते। हमारे भी जो बीच मे आत्मप्रदेश है वे मध्यवर्ती प्रदेश रुचक प्रदेश कहलाते है। उन रुचक प्रदेशो की सख्या आठ है। ये आठो ही प्रदेश एक स्थान पर स्थिर रहते है। बाकी के असख्य आत्मप्रदेश तो गतिशील रहते है। अपने से परिचित व्यक्ति के विषय मे हम जो कुछ सुनते हैं, सुनने के साथ ही हमारे आत्मप्रदेशो की स्थिति और आकृति भी वैसी बन जाया करती है। उस समय हमे ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे कि उस व्यक्ति के सम्पर्क का दृश्य हमारी अन्तर्दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष हो। ठीक चित्रपट की रील के समान बन जाता है उस समय हमारा अन्तर्मन। जैसे चित्रपट पर हजारो चित्र एक मिनट में खिसकते चले जाते है, हमे ज्ञात ही नही हो पाता कि एक चित्र दूसरे चित्र से जुडा हुआ है, ठीक इसी प्रकार हमारी विचारधारा मे भी अनेक प्रकार के दृश्य उपस्थित होने लगते है। उन दृश्यो के अनुसार ही हमारे

इतनी पक्की थी कि भयानक से भयानक किसी भी प्रकार के शस्त्रास्त्र से भग होने वाली नही थी। जयद्रथ को उस कोठी मे बैठा दिया गया। आठ बडे-बडे योद्धा राजाओ का अगरक्षक के रूप मे उसके चारो ओर खडे कर दिया जिससे कि कोई भी उस कोठी के समीप भी न फटक सके। बडा सख्त प्रबन्ध किया गया था जयद्रथ के प्राणो को बचाने के लिए। किन्तु हुआ क्या ? सायकाल सूय बादल के पीछे छिप गया। युद्ध की व्यग्रता के कारण कोई भी यह नही जान पाया कि सूर्य बादलो के पीछे है। सबने यही समझा कि सूर्य तो अस्त हो गया है। ऐसा समझकर अर्जुन ने भी स्वय के दाह के लिए अग्निकुण्ड की रचना करवा डाली—क्योकि वह अभी तक जयद्रथ को मार नही सका था, अपनी प्रतिज्ञा पूरी नही कर सका था। सब पाण्डव और कौरव अग्निकुण्ड के पास यह सारा काण्ड देखने के लिए एकत्रित हो गये। जयद्रथ को भी पता चला कि उसका शत्रु अर्जुन अग्नि की शरण मे जा रहा है। उसने सोचा कि "मेरी आँखो को ऐसा सौभाग्य फिर कब मिलने वाला है, मैं भी शत्रु को नष्ट होते देखकर क्यो न आनन्द का अनुभव कर लू।" अर्जुन को जलता देखने के लिए जयद्रथ ने अपनी कोठी का ढक्कन हटा दिया और अपना मुँह बाहर निकाला। सहसा बादलो मे तिरोहित सूर्य बाहर निकल आया। श्री कृष्ण ने तुरन्त अर्जुन को सकेत किया। सकेत पाते ही अर्जुन ने अपना धनुष उठाया और चला दिया बाण जयद्रथ की गर्दन पर। पता भी नही चला किसी को कि यह सारी क्रिया कब हो गयी। लोगो ने देखा कि बाण से बिधा हुआ जयद्रथ का सिर हवा मे उडता चला जा रहा है। आकाश मे ऐसा भयानक दृश्य देखते ही लोगो मे हाहाकार मच गया। इतनी लाघवता थी अर्जुन मे, इसी का नाम है—लाघवी विद्या। यह काम मन्दगति से होने वाला नही था। अर्जुन ने तो यह काम कुछ ही क्षणो मे कर डाला था। तो यहाँ तो हमारा कहने का और यह उदाहरण प्रस्तुत करने का यही आशय था कि नाशवान् वस्तु को जिस समय नष्ट होना है वह अवश्य होगी, उसे ससार की कोई भी शक्ति नही रोक सकती। जो विनाशी है वह अविनाशी नही बन सकता।

ससार मे ज्ञानी पुरुष ही इस तत्त्व को समझते है। तभी तो वे अपने शरीर की विशेष रूप से परवाह नही किया करते। वे तो आत्मोन्मुखी होते है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हे कि अविनाशी आत्मा कभी भी बन्धन पसन्द नही करता। यदि वह शरीर के बन्धन को पसन्द करता होता या उसको बन्धन इष्ट होता तो वह इस शरीर को कभी छोडकर न जाता। शरीर का बन्धन तो दरकिनार, आत्मा तो कर्मो के बन्धन मे बधकर रहना भी नही चाहता। समय-समय पर जैसे-जैसे उसे अवसर मिलता है वह कर्मो के बन्धन को भी मिटाने का प्रयत्न किया करता है। परन्तु वह करे भी क्या, अनादिकाल से

जो उसके साथ कर्म चिपटे हुए है उनसे सहसा मुक्ति पाना उसके लिए सम्भव नही होता। इसके अतिरिक्त कर्म, कर्मो को आकर्षित किया करते हैं। दूर की स्थिति वाले अपने सहयोगियो को भी कर्म अपनी ओर खींचकर लाने का प्रयत्न करते है। बन्धन की यह परम्परा निरन्तर चालू रहती है, मिटती नही। बाकी आत्मा तो जैसा कि हम पहले बता आये हैं बन्धनो से छूटने के लिए सदा छटपटाता रहता है। उसे बन्धन पसन्द नही। आत्मा की इस छटपटाहट पर शास्त्र में एक बडा सुन्दर उदाहरण आता है—तेल के कडाहे का। अग्नि के ऊपर रखे हुए तेल के कडाहे मे अग्नि की तीव्र आंच से तेल उबलने लगता है। खौलते समय उसमे से एक अव्यक्त ध्वनि भी निकलती है। इसके अतिरिक्त अग्नि की उत्कट गरमी से तेल ऊँचा-नीचा होता हुआ भी स्पष्ट दिखाई दिया करता है। ऊपर का हिस्सा नीचे जाता है और नीचे का ऊपर को आता है। अग्नि की भयानक उष्णता के कारण तेल का प्रत्येक परमाणु चचल बन जाता है। अग्नि की तीव्रता के आगे वह कर भी क्या सकता है? इसी प्रकार आत्मप्रदेश जब तक कर्म के साथ बँधे रहते है, तब तक आत्मा की भी यही दशा होती है। आत्मप्रदेश सारे शरीर के अन्दर चक्कर लगाया करते है। वे एक स्थान पर स्थिर नही रहते, स्थिर इसलिए नही कि उनके साथ भिन्न पदार्थ की शक्ति लगी हुई है। स्वय चैतन्य होते हुए भी वह कर्मो की जड शक्ति से आवृत है। उस विरोधी जड तत्त्व से छुटकारा पाने के लिए आत्मा छटपटाया करता है। या दूसरे शब्दो में आत्मप्रदेश छटपटाया करते है।

इसके अतिरिक्त आपने यह भी देखा होगा कि कडाहे मे जब तेल खौलता है तो उसके अन्दर से सफेद सफेद झाग निकला करते है। प्रान्त भागो के झाग तो बडी आकृति के होते है किन्तु मन्दगति से सिमटते हुए वे मध्यभाग मे आकर छोटी आकृति के हो जाते है। छोटी आकृति मे आकर वे पूर्ववत् चचल नही रहते। हमारे भी जो बीच में आत्मप्रदेश है वे मध्यवर्ती प्रदेश रुचक प्रदेश कहलाते है। उन रुचक प्रदेशो की सख्या आठ है। ये आठो ही प्रदेश एक स्थान पर स्थिर रहते है। बाकी के असख्य आत्मप्रदेश तो गतिशील रहते है। अपने से परिचित व्यक्ति के विषय में हम जो कुछ सुनते हैं, सुनने के साथ ही हमारे आत्मप्रदेशो की स्थिति और आकृति भी वैसी बन जाया करती है। उस समय हमे ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे कि उस व्यक्ति के सम्पर्क का दृश्य हमारी अन्तर्दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष हो। ठीक चित्रपट की रील के समान बन जाता है उस समय हमारा अन्तर्मन। जैसे चित्रपट पर हजारो चित्र एक मिनट मे खिसकते चले जाते है, हमे ज्ञात ही नही हो पाता कि एक चित्र दूसरे चित्र से जुडा हुआ है, ठीक इसी प्रकार हमारी विचारधारा मे भी अनेक प्रकार के दृश्य उपस्थित होने लगते हे। उन दृश्यो के अनुसार ही हमारे

इतनी पक्की थी कि भयानक से भयानक किसी भी प्रकार के शस्त्रास्त्र से भग होने वाली नही थी। जयद्रथ को उस कोठी मे बैठा दिया गया। आठ बडे बडे योद्धा राजाओ का अगरक्षक के रूप मे उसके चारो ओर खडे कर दिया जिससे कि कोई भी उस कोठी के समीप भी न फटक सके। बडा सख्त प्रबन्ध किया गया था जयद्रथ के प्राणो को बचाने के लिए। किन्तु हुआ क्या ? सायकाल सूर्य बादल के पीछे छिप गया। युद्ध की व्यग्रता के कारण कोई भी यह नही जान पाया कि सूर्य बादलो के पीछे है। सबने यही समझा कि सूर्य तो अस्त हो गया है। ऐसा समझकर अर्जुन ने भी स्वय के दाह के लिए अग्निकुण्ड की रचना करवा डाली—क्योकि वह अभी तक जयद्रथ को मार नही सका था, अपनी प्रतिज्ञा पूरी नही कर सका था। सब पाण्डव और कौरव अग्निकुण्ड के पास यह सारा काण्ड देखने के लिए एकत्रित हो गये। जयद्रथ को भी पता चला कि उसका शत्रु अर्जुन अग्नि की शरण मे जा रहा है। उसने सोचा कि "मेरी आँखो को ऐसा सौभाग्य फिर कब मिलने वाला है, मैं भी शत्रु को नष्ट होते देखकर क्यो न आनन्द का अनुभव कर लूं।" अर्जुन को जलता देखने के लिए जयद्रथ ने अपनी कोठी का ढक्कन हटा दिया और अपना मुँह बाहर निकाला। सहसा बादलो मे तिरोहित सूर्य बाहर निकल आया। श्री कृष्ण ने तुरन्त अर्जुन को सकेत किया। सकेत पाते ही अर्जुन ने अपना धनुष उठाया और चला दिया बाण जयद्रथ की गदन पर। पता भी नही चला किसी को कि यह सारी क्रिया कब हो गयी। लोगो ने देखा कि बाण से विधा हुआ जयद्रथ का सिर हवा में उडता चला जा रहा है। आकाश मे ऐसा भयानक दृश्य देखते ही लोगो में हाहाकार मच गया। इतनी लाघवता थी अर्जुन में, इसी का नाम है—लाघवी विद्या। यह काम मन्दगति से होने वाला नही था। अर्जुन ने तो यह काम कुछ ही क्षणो में कर डाला था। तो यहाँ तो हमारा कहने का और यह उदाहरण प्रस्तुत करने का यही आशय था कि नाशवान् वस्तु को जिस समय नष्ट होना है वह अवश्य होगी, उसे ससार की कोई भी शक्ति नही रोक सकती। जो विनाशी है वह अविनाशी नही बन सकता।

ससार मे ज्ञानी पुरुष ही इस तत्त्व को समझते हैं। तभी तो वे अपने शरीर की विशेष रूप से परवाह नही किया करते। वे तो आत्मोन्मुखी होते है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते है कि अविनाशी आत्मा कभी भी बन्धन पसन्द नही करता। यदि वह शरीर के बन्धन को पसन्द करता होता या उसको बन्धन इष्ट होता तो वह इस शरीर को कभी छोडकर न जाता। शरीर का बन्धन तो दरकिनार, आत्मा तो कर्मा के बन्धन मे बँधकर रहना भी नही चाहता। समय समय पर जैसे-जैसे उसे अवसर मिलता है वह कर्मो के बन्धन को भी मिटाने का प्रयत्न किया करता है। परन्तु वह करे भी क्या, अनादिकाल से

जो उसके साथ कम चिपटे हुए हैं उनसे सहसा मुक्ति पाना उसके लिए सम्भव नही होता। इसके अतिरिक्त कम, कर्मों को आकर्षित किया करते है। दूर की स्थिति वाले अपने सहयोगियो को भी कम अपनी ओर खीचकर लाने का प्रयत्न करते है। बन्धन को यह परम्परा निरन्तर चालू रहती है, मिटती नही। बाकी आत्मा तो जैसा कि हम पहले बता आये है बन्धनो से छूटने के लिए सदा छटपटाता रहता है। उसे बन्धन पसन्द नही। आत्मा की इस छटपटाहट पर शास्त्र मे एक बडा सुन्दर उदाहरण आता है—तेल के कडाहे का। अग्नि के ऊपर रखे हुए तेल के कडाहे मे अग्नि की तीव्र आँच से तेल उबलने लगता है। खौलते समय उसमें से एक अव्यक्त ध्वनि भी निकलती है। इसके अतिरिक्त अग्नि की उत्कट गरमी से तेल ऊँचा-नीचा होता हुआ भी स्पष्ट दिखाई दिया करता है। ऊपर का हिस्सा नीचे जाता है और नीचे का ऊपर को आता है। अग्नि की भयानक उष्णता के कारण तेल का प्रत्येक परमाणु चचल बन जाता है। अग्नि की तीव्रता के आगे वह कर भी क्या सकता है? इसी प्रकार आत्मप्रदेश जब तक कर्म के साथ बँधे रहते है, तब तक आत्मा की भी यही दशा होता है। आत्मप्रदेश सारे शरीर के अन्दर चक्कर लगाया करते है। वे एक स्थान पर स्थिर नही रहते, स्थिर इसलिए नही कि उनके साथ भिन्न पदार्थ की शक्ति लगी हुई है। स्वय चैतन्य होते हुए भी वह कर्मों की जड शक्ति से आवृत है। उस विरोधी जड तत्त्व से छुटकारा पाने के लिए आत्मा छटपटाया करता है। या दूसरे शब्दो मे आत्मप्रदेश छटपटाया करते हैं।

इसके अतिरिक्त आपने यह भी देखा होगा कि कडाहे मे जब तेल खौलता है तो उसके अन्दर से सफेद सफेद झाग निकला करते है। प्रान्त भागो के झाग तो बडी आकृति के होते है किन्तु मन्दगति से सिमटते हुए वे मध्यभाग मे आकर छोटी आकृति के हो जाते हैं। छोटी आकृति मे आकर वे पूर्ववत् चचल नही रहते। हमारे भी जो बीच मे आत्मप्रदेश है वे मध्यवर्ती प्रदेश रुचक प्रदेश कहलाते है। उन रुचक प्रदेशो की सख्या आठ है। ये आठो ही प्रदेश एक स्थान पर स्थिर रहते है। बाकी के असख्य आत्मप्रदेश तो गतिशील रहते है। अपने से परिचित व्यक्ति के विषय मे हम जो कुछ सुनते है, सुनने के साथ ही हमारे आत्मप्रदेशो की स्थिति और आकृति भी वैसी बन जाया करती है। उस समय हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे कि उस व्यक्ति के सम्पर्क का दृश्य हमारी अन्तर्दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष हो। ठीक चित्रपट की रील के समान बन जाता है उस समय हमारा अन्तर्मन। जैसे चित्रपट पर हजारो चित्र एक मिनट मे खिसकते चले जाते है, हमे ज्ञात ही नही हो पाता कि एक चित्र दूसरे चित्र से जुडा हुआ है, ठीक इसी प्रकार हमारी विचारधारा मे भी अनेक प्रकार के दृश्य उपस्थित होने लगते है। उन दृश्यो के अनुसार ही हमारे

आत्मप्रदेश उन-उन आकृतियो मे परिविनन होते रहते है। ऐसी स्थिति मे जो भी आकृति या दृश्य हमारी विचारधारा मे उतर गये, उन-उनके साथ हमारा बन्ध हो जाता है। उन विचारधाराओ से यह आत्मा इस प्रकार बन्ध जाता है कि वाकी के सीन तो आये गये हो जाते है। वह सीन या दृश्य जिसके ऊपर हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है, जिसपर राग या द्वेष आ जाने से आत्मा के साथ बन्धन होता है, उसी के अनुसार हमारे अगले भव या जन्म का निर्माण हुआ करता है। आगामी भव के सारे बन्धे हुए सीन हमारे सामने आ जाया करते है। जिस विचारधारा के साथ हम बन्ध जाते है, उसके अनुसार ही हमारे आगामी भव के आयुष्य का बन्ध होता है। जिस समय हमारा यह भव समाप्त होने को होगा उस समय हमारा अगामी भव का आयुष्य बन्धा होगा और हम अगले जन्म के लिए तैयार होगे। जिस समय किसी प्रस्तुत विचार-धारा के साथ हमारा आयुष्य बन्ध रहा था उस समय इस बात का हमे तनिक भी भान नही था कि हमारा आगामी भव का आयुष्य बन्ध रहा है। हमे भान भले ही न हो किन्तु हमारा वह बन्ध उसी समय जमा हो जाता है। जब हम मरण के सन्निकट होते है, इस भव की समाप्ति होने के लगभग मुहूर्त-भर पहले ही वे सारी विचारधाराएँ हमारे स्मृति-पटल पर अकित हो जाती है। इसको शास्त्रीय भाषा मे ज्ञान नही कहा जाता किन्तु 'आनुपूर्वी' कहा जाता है। नाम कर्म की तिरानवे प्रकृतियो मे से चार प्रकार की आनु-पूर्वी प्रकृतियाँ है। आयुष्य बन्धने के समय जो हमारे भाव थे, सठाण थे, लेश्या थी, वे के वे सभी उस समय आ जाते है और उन्ही के अनुसार फिर हमारा अगले भव मे जाना होता है। सक्षेप मे, कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मा का जब अमुक विचारधाराओ के साथ बन्ध पड जाता है उसी समय हमारे अगले भव के आयुष्य का भी बन्ध हो जाता है।

यह बात ध्यान मे रखने की है कि आयुष्य का बन्ध एक भव मे एक बार ही होता है। कर्म नि सन्देह बार बार बन्धते रहते है। अनेक भवो का आयुष्य एक भव मे बन्धना सभव नही होता। एक ही भव मे हम कम को इतने अधिक बान्ध सकते है जिनको लाखो, करोडो भव तक भोगते रहे। कई बार इतने कर्म बन्ध जाते हैं कि अनेक भवो मे भोगते-भोगते भी हम उनसे छुटकारा नही पा सकते। इसका कारण यह है कि उस कम प्रकृति की जितनी स्थिति होती है उसके अनुसार ही हमे कमफल भोगना पडता है। और भवो की स्थिति तो स्वत ही थोडी होती है। इस प्रकार आगामी भव का आयुष्य तो एक जन्म मे एक बार ही बन्धता है। किस समय वह आयुष्य बन्धा करता है, इसको जानने का भी शास्त्रकारो ने उपाय बताया है। जितना हमारा आयुष्य होता है, उसके तीसरे भाग के अन्दर अगले भव का आयुष्य बन्धता है।

यदि किसी कारणवश तीसरे भाग मे न बन्ध सके तो फिर शेष रहे आयुष्य के तीसरे भाग में बन्धता है। यदि उस समय भी न बन्ध सका तो फिर जो शेष रह गया है, उसके तीसरे भाग मे बन्धेगा। इस तरह भाग करते-करते जब भव का अन्त आ जाता है, तब भी आयुष्य बन्ध सकता है। ऐसा भी हो जाता है कि कभी-कभी आयुष्य बन्धता ही नही है, ऐसी दशा मे आत्मा चक्कर लगाती रहती है। ऐसी स्थिति शास्त्र की पारिभाषिक भाषा मे 'मारणान्तिक समुद्घात' भी कहलाती है। जिस समय आत्मा अपने ठिकाने को देखने के लिए जाता है उस समय बहुत-से आत्मप्रदेश शरीर के अन्दर से निकलकर चले जाते है। ये आत्मप्रदेश मृत्यु से पूर्व ही शरीर से निकल जाते है उस स्थान की खोज में जहाँ उनको जाना होता है। ठिकाना देखकर वे लौट आते है उसी शरीर में जहाँ अब तक स्थित थे। आत्मप्रदेशो मे जो आठ रुचक प्रदेश है वे पहले नही जाते। ये जो मध्य के आठ रुचक प्रदेश है, वे एक बार शरीर से निकल गये तो पुन उसमें प्रवेश नही करते। वैसे शरीर के अन्दर से अन्यान्य आत्मप्रदेश तो अनेक प्रसगो पर बाहर निकल जाया करते हैं। सारे कभी नही निकलते, कभी थोडे और ज्यादा निकल सकते है।

सात प्रसगो पर आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकला करते है। शास्त्रकारो ने कोई भी बात गुप्त नही रखी, लोगो के हित के लिए सब कुछ बता दिया है। ग्रहण करना या न करना यह तो लोगो की इच्छा पर निर्भर है। शरीर से सात प्रसगो पर निकलने वाले आत्मप्रदेशो को समुद्घात कहा जाता है। समुदघात का अर्थ है कि मूल शरीर को छोडे बिना आत्मप्रदेशो का शरीर से बाहर निकल जाना। सर्वप्रथम समुद्घात है—वेदनीय। वेदनीय दो प्रकार की होती है—साता वेदनीय और असाता वेदनीय। लेकिन लौकिक व्यवहार मे तो केवल एक वेदनीय—असाता या पीडा ही प्रसिद्ध है। बडे आश्चर्य से हम कहते हैं, 'ओ हो! बेचारो ने कितना वेदनीय कर्म बान्ध रखा है! किसी दु खी को, पीडित को और रोगी को देखकर प्राय ऐसे शब्दो का प्रयोग होता है। वास्तव मे वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ है साता वेदनीय और असाता वेदनीय। वेदना मे कुछ वास्तविकता है या नही है यह भी विचारणीय बात है। हमारे विरुद्ध जब कोई चुभने वाली बात कह देता है तो हमे बहुत दु ख का अनुभव होता है। कोई पास बैठा व्यक्ति हमको समझाता हुआ कहता है, "अरे भोले मनुष्य! तुम इतना क्यो फील करते हो, सामने वाले ने तो केवल शब्द ही बोले है, उन शब्दो से ही तुम्हे इतनी दु खानुभूति हो रही है कि उसने ऐसा तुमको कहा ही क्यो ?" उत्तर मे हम उसे कहते है कि "इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उसने हमारा तनिक भी लिहाज नही रखा। इसके बडे भाई-बन्धु किसी ने भी तो मुझे आज तक ऐसी बात नही कही जो इसने कह दी।" इस प्रकार हम

बहुत ही दु खानुभव करते है । दूसरी ओर एक ऐसा व्यक्ति है जिसको किसी-ने पत्थर मार दिया, गहरी चोट लग गई और रक्त बहने लगा । चोट खाने वाले को यह पता लगा कि पत्थर मारने वाले का लक्ष्य वह नही था, उसने तो किसी और के मारा था किन्तु निशाना चूक गया और पत्थर उसके लग गया । यह सब असावधानी से हुआ । ऐसा विचार करके चोट खाने वाला वेदना का अधिक अनुभव नही करता ।

अब आप वेदनीय शब्द पर विचार करें । वास्तव मे वेदना है क्या ? पत्थर की चोट खाने वाला व्यक्ति, जिसके चोट के कारण जखम भी हो गया है वह इतनी वेदना का अनुभव नही कर रहा है जितनी कि वह जिसको कि केवल विरुद्ध शब्द बोले गये थे और उन शब्दो का उसके शरीर पर कोई आघात भी नही है । शरीर का घायल मन की पीडा से इतना व्याकुल नही है जितना कि वाणी से घायल मानसिक पीडा से सतप्त है । लोगो के बहुत समझाने-बुझाने पर भी मन के घायल की वेदना शान्त नही हो पा रही । अब हम आपसे पूछते है कि वेदना या दु खानुभूति क्या वास्तविकता पर आधारित है अथवा विचारधारा पर आधारित है ? व्यवहार की दृष्टि से देखें तो अधिक वेदना तो उसको होनी चाहिए जिसके पत्थर की चोट लगी है और घाव भी हो गया है । वास्तविकता यह है कि वेदना की अनुभूति हमारी विचारधारा पर अवलम्बित है । इसी वेदना को ज्ञानी पुरुषो ने 'वेदनीय कर्म' कहा है । साता वेदन और असाता वेदन—इन दोनो मे वेदना के समय आत्मा अपना भान भूल जाता है । असाता हो गई और सहनशीलता का अभाव है तो व्यक्ति हाय-हाय और त्राहि-त्राहि मचा दिया करता है । वह छटपटाने लगता है, तड-पता है और अपने हाथो-पैरो को इधर-उधर पटकता है । वह समय आत्म प्रदेशो का बाहर निकलने का होता है । इसको वेदनीय समुद्घात भी कहते है । अपने दु ख को अन्दर ही समेटने की शक्ति न होने के कारण ही ऐसा हुआ करता है । इसी प्रकार तीव्र ज्वर आ गया, शरीर से गरमी की ज्वालाएँ-सी निकलने लगी, श्वास तीव्र गति से चलने लगा और शरीर तपने लगा—ऐसी दशा मे भी आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते है । आत्मप्रदेश को रोकने की शक्ति तो सहनशीलता मे ही होती है, सहनशीलता का अभाव होने से आत्मप्रदेश शरीर मे टिक नही पाते ।

इसी तरह से कषाय समुद्घात भी होता है । ऊपर के विवरण मे वेदनीय के केवल एक ही पहलू पर प्रकाश डाला गया है । साता या सुख का भी जिस समय वेदन या अनुभव होता है, उस समय भी व्यक्ति अपने आपे मे रहने नही पाता । शरीर द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाए करने लगता है । दूसरे देखने वाले उस समय यह कहने लगते हैं कि, "यह तो फूल कर कुप्पा हो गया है ।" कभी-

कभी तो अत्यधिक उल्लास के कारण व्यक्ति अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता है। उसके हृदय की गति सहसा बन्द हो जाती है। इसके पीछे भी एक रहस्य छिपा हुआ है जो प्रसग आने पर आपको बताया जायेगा।

साता के वेदन मे भी आत्मप्रदेश बाहर निकल जाते है शरीर से। साता और असाता दोनो को सहन करने की शक्ति के अभाव मे ही ऐसा होता है। इसी प्रकार कषाय मे भी जब क्रोध का आविर्भाव होता है तो आँखें लाल हो जाती है, ओठ फडफडाने लगते है, मनुष्य का सारा शरीर काँपने लगता है और चेहरा विकराल हो जाता है। वह भूत के समान नाचने लगता है। उस समय भी आत्म-प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते है। इसको कहा जाता है, 'कषाय समुद्-घात'। तीसरी समुद्घात है—'मारणातिक'। मारणातिक समुद्घात के विषय मे आपको पहले बताया जा चुका है। इसी प्रकार एक 'तेजस् समुद्घात' होती है जिसमे तेजस् लब्धि का प्रयोग किया जाता है। एक आहारक समुद्घात भी होती है जिसमे एक पुतला निकालकर केवल ज्ञानियो या सर्वज्ञो के पास भेजा जाता है। इसका उद्देश्य होता है—प्रश्न का समाधान पाना और समवसरण की ऋद्धि-सिद्धि को देखना। आहारक समुद्घात को आहारक लब्धि भी कहते है।

एक 'वैक्रिय समुद्घात' भी होती है। इसमे एक के अनेक रूप बनाये जाते है। एक ही व्यक्ति हजारो-लाखो अपने रूप बना सकता है। उन सब रूपो मे आत्मप्रदेश रहते है। सब रूपो मे आत्मप्रदेशो के सद्भाव मे भी सबका सबध रुचक प्रदेशस्थ अरूपात्मा से रहता है। रुचक प्रदेश वाले रूप से ही सारा तत्र सचालित हुआ करता है। बाकी के सब रूप तो भाडायती टट्टू होते है, कठ-पुतली के समान भी उनको समझा जा सकता है। सारे आत्मप्रदेशो की बाग-डोर उस मूल व्यक्ति के हाथो मे रहती है जहाँ रुचक प्रदेश रहते है। इस प्रकार वैक्रिय समुद्घात मे भी आत्मप्रदेश बाहर निकलते है।

केवली समुद्घात के समय भी बाहर निकलते है। केवली समुद्घात तो अपने-आप होती है किन्तु बाकी तेजस्, वैक्रिय और आहारक—ये समुद्घाते जान-बूझकर की जाती है। आठ समय के स्वल्पकाल मे ही केवली समुद्घात हो जाती है। शरीर के अन्दर हमारा आत्मा समेटे हुए कपडे के समान पडा रहता है। जब केवली समुद्घात की जाती है, तो वह आत्मा चौदह राजू लोक के अन्दर व्याप्त हो जाता है। जैसे किसी सोलह पटो वाले कपडे को खुला करते-करते एक लडा हो जाने के पश्चात् वह कितना लम्बा हो जाता है। उस कपडे को झटका दिया जाये तो रजकण झडने से कपडा स्वच्छ व हल्का बन जाता है, इसी प्रकार आत्मा जब चौदह राजू लोक मे फैल जाता है, उस समय ऐसी प्रक्रिया बन जाती है कि कर्मो की वर्गणाएँ उससे निर्जरित होने लग जाती

है। आठ समय के अन्दर जिस शरीर से आत्मा निकला था उसी मे प्रविष्ट हो जाता है। आठ रुचक प्रदेश तो हर एक हालत मे वही रहते हैं। इसका कारण यह है कि केवली समुद्घात करने वाला व्यक्ति लोक के मध्य भाग मे है। मनुष्य क्षेत्र के अन्दर ही केवली समुद्घात होती है। मनुष्य क्षेत्र बिल्कुल बीच मे है। इसलिए उन रुचक प्रदेशो को केवली समुद्घात करने के समय भी बाहर निकलने की आवश्यकता नही पडती। वे जहाँ पर हैं, वही टिके रहते है।

हमारा कहने का आशय यही है कि जिस समय हमारा अगले भव का आयुष्य बँधा हुआ होता है, उस आयुष्य बन्ध के साथ जो हमारी विचारधारा थी, वही विचारधारा मृत्यु के समय जागृत हो जाती है। इस प्रकार का आयुष्यबन्ध ससार मे परिभ्रमण करने वालो का ही होता है, जो मोक्ष मे जाने वाले आत्मा है, उनका आगामी भव का आयुष्य नही बँधा करता। आयुष्य कर्म की प्रकृति के अन्दर सबसे अधिक आयुष्य तैंतीस सागरोपम की ही होती है, इससे अधिक नही। विमुक्त होने वाला आत्मा जिस अवस्था मे रहेगा उस अवस्था का नाम है—'सादि-अनन्त।' सादि-अनन्त का अर्थ है कि मुक्त अवस्था का आदि तो है किन्तु उसका अन्त नही है। ऐसी कोई भी कर्म प्रकृति नही है जिसकी स्थिति सादि अनन्त हो। यही कारण है कि मुमुक्षु आत्माओ के आयुष्य का बन्ध नही हुआ करता। किसी भी कम के उदयभाव मे मुक्तावस्था नही मानी जा सकती। मुक्तावस्था तो तभी प्राप्त होती है जब सारे के सारे कर्म नष्ट हो जाते है और बन्धन टूट जाते है। शाश्वत सुखो की प्राप्ति जीव को तभी होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ६ अगस्त, १९७९

३१

# आत्मा से परमात्मा

शाश्वत सुखो की प्राप्ति अपने ही भावो पर निर्भर है। भाव अतरग की विचार-धारा को कहते है और उसी का दूसरा नाम सम्यक्त्व है। नि सदेह, भाव तो मिथ्यात्वी के भी होते है किन्तु यहाँ भाव का अभिप्राय अन्तरग के विचारो से है। अतरग के विचारो का आशय होता है अपने—अर्थात् आत्मा के विचार या भाव। आत्मा के भाव कुछ और प्रकार के होते है और कर्मो के भाव कुछ अन्य प्रकार के। कर्मो के जो भाव है उन्हे उदयभाव भी कह सकते है। उदयभाव से हमारा अभिप्राय है कि हमने जो कर्म बाँधा वह उदय मे आ गया। जब तक वह उदय मे नही आया था तब तक वह सत्ता मे था। सत्ता, शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है जिसका अथ है अन्दर रहने की स्थिति वाला। या फिर 'अस्तित्व' के रूप मे रहने वाला भी कह सकते है। अस्तित्व भी दो प्रकार का होता है एक तो हमारे सामने या प्रत्यक्ष रूप मे होता है और दूसरा परोक्ष रूप मे। परोक्ष भी तो अस्तित्व के रूप मे होता है, हम उसे निषेधात्मक नही मान सकते। जो वस्तु हमारे सामने है उसका तो अस्तित्व है और जो हमारे सामने नही है किन्तु परोक्ष रूप मे है, उसका तो अस्तित्व है ही नही, ऐसा हम नही मान सकते। हमारे सामने जो कुछ है वह तो सर्वथा नगण्य है, विश्व के उन परोक्ष पदार्थो के सामने जो सख्यातीत है। विश्व मे तो बहुत कुछ आ जाता है लोक भी, अलोक भी, चौदह रज्ज्वात्मक लोक भी—जिसमे नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव, सिद्ध आदि है तथा इसके अतिरिक्त जहाँ पर धर्मास्तिकाय है, अधर्मास्तिकाय है, आकाशास्ति-काय का एक देश है, काल है, पुद्गल है – सभी विश्व के अतर्गत हैं। इसके अति-रिक्त अलोक भी, जहाँ पर केवल आकाश ही है विश्व मे समाविष्ट हो जाता है। जितना कुछ हम प्रत्यक्ष रूप मे अपने चक्षुओ से देख पा रहे है, उसके सामने विश्व के असख्यात परोक्ष-पदार्थो से परिपूण विश्व तो बहुत बडा है। प्रत्यक्ष तो परोक्ष के सामने नही के ही बराबर है। इसलिए ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि यह मान्यता सर्वथा निर्मूल है कि जो भी कुछ हमारे सामने है वही है, इसके अतिरिक्त तो कुछ है ही नही।

जो वस्तु हमारे सामने है, हमारी दृष्टि मे आ रही है, हमारी अनुभूति द्वारा गम्य है, वह उदयावस्था कहलाती है। लोग बहुत बार यह पूछताछ किया करते है कि 'हमारा भाग्योदय कब होगा ?' पूछने वालो को नि सन्देह यह ज्ञान अवश्य होता होगा कि उनके भाग्य के अन्दर अनेक बाते होगी। इसका कारण है कि ऐसे व्यक्तियो को भी हम देखते है जिनका भाग्य खुला हुआ है या उदय में आया हुआ है, और उस भाग्य के परिणामस्वरूप उनको अनेक प्रकार की आनन्द की वस्तुएँ प्राप्त हुई है, तो इससे हमे यह मानना पडता है कि उस व्यक्ति के भाग्य मे पहले से वे वस्तुएँ मौजूद थी। किसी के भी भाग्य मे अनेक बातो का सद्भाव इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। किस के भाग्य मे क्या है, इसको जानना बडा कठिन होता है। किसी नीतिकार का कथन भी है

**पुरुषस्य भाग्य दैवो न जानाति कुतो मनुष्य ।**

अर्थात्—पुरुष के भाग्य मे क्या लिखा है इसका पता तो देवताओ को भी नही लग पाता मनुष्य की तो बात ही क्या है ?

अपने भाग्य के विषय मे जानने वाला व्यक्ति यह अच्छी तरह से जानता है कि उसके भाग्य मे है तो बहुत कुछ किन्तु वह उदय में नही आया है। 'सूर्योदय कब होगा ?' ऐसा भी प्रश्न पूछा जाता है, इस प्रश्न के पीछे यह बात तो निश्चित है ही कि ससार में सूर्य नाम की कोई सत्ता तो अवश्य है किन्तु उसका अभी उदय नही हुआ है। वह अभी परोक्ष मे है, अभी प्रत्यक्ष में नही आया है। जो कर्म हमने पिछले अनेक भवो में बाँधे और जो कर्म कितने ही भवो के पहले बाँधे, वे अभी तक उदय मे नही आये है। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि जो बँधे हुए कर्म है, वे स्टाक मे पडे है, सत्ता मे है। जब तक उनका वितरण नही होता, या दूसरे शब्दो में वे उदय मे नहीं आते तब तक उनके फल का हमें क्या पता चल सकता है ? जब वे उदय में आयेंगे उसी समय हमें उनके अच्छे या बुरे परिणाम का पता चल सकेगा।

दो तरह से कर्म उदय मे आते है एक तो अपने-आप उदय मे आ जाया करते हैं और कई बार उनको उदय में लाने के लिए व्यक्ति को प्रयत्न भी करना पडता है। जो व्यक्ति भाग्य के भरोसे बैठ जाता है, उसका अर्थ होता है कि वह अपने कर्मो को उदय में लाने का प्रयत्न नही करता है। दूसरा व्यक्ति भाग्य के भरोसे पर नही बैठता, वह पुरुषार्थ मे दृढ विश्वास रखता है और उसकी यह दृढ धारणा बनी होती है कि अकेले भाग्य के भरोसे कुछ भी नही बन सकता, बनता तो पुरुषार्थ करने से है। वे तो कहते हैं कि

**"दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति"**

अर्थात्—भाग्य का भरोसा करना तो कायर पुरुषो का लक्षण है। हिन्दी के भी एक कवि ने कहा है

**"बिना डुलाये ना मिले ज्यो पखे की पौन"**

अर्थात्—पखे की हवा भी बिना हाथ के डुलाये नही मिल सकती। जब बिजली नही आई थी, उस समय लकडी के फ्रेम पर कपडे के पखे छत से लटके होते थे। उनसे डोरी बँधी होती थी। परिचारक डोरी खीचता रहता था जिससे कपडा हिलता रहे और हवा आती रहे। डोरी हिलाने मे पुरुषार्थ किया जाता था तभी तो हवा मिलती थी। आजकल बिजली के पखे लग गये है, बटन को छूते ही गतिशील तो हो जाते है किन्तु तभी जब तार मे करट हो। पुराना तरीका और पुरुषार्थ स्व के अधीन थे और आजके पर के अधीन है। बना-बनाया भोजन थाल मे परोसा हुआ सामने लाकर रख भी दिया जाये तो ग्रास तोडने मे और दाँतो से चबाने मे पुरुषार्थ तो स्वय को ही करना पडता है। यदि ऐसा नही किया जायेगा तो वह भोजन किसी दूसरे के ही गले मे उतरेगा। हमारा कहने का अभिप्राय है कि उद्यम तो पुरुष को करना ही पडेगा। पुरुष को पुरुष कहते ही इसलिए है कि वह पुरुषाथ करे। इस उद्यम का नाम ही उदीरणा है। कर्मो को उदय मे लाने के लिए जो प्रयत्न किये जाते है, उनका नाम ही शास्त्रीय भाषा मे उदीरणा है। सस्कृत का यह शब्द बिगडकर हिन्दी मे उधेडना बन गया है। यदि डोरा किसी वस्तु पर लिपटा हुआ हो तो उसे हम सर सर उधेडकर अलग कर डालते है। इसी प्रकार उदीरणा के द्वारा जो कर्म पहले मन्दगति से उदय मे आते वे ही अब शीघ्र गति से उदय मे आने लगते है। इस प्रक्रिया मे बहुत से समय की बचत हो जाती है।

अशुभ कर्मो को उदय मे लाने के लिए ही सदा उदीरणा की जाती है। शुभकर्मो को उदय मे लाने के लिए उदीरणा की आवश्यकता नही पडती। इसका कारण है कि शुभ कर्मो का परिणाम भोग या सुख होता है और उस सुख को भोगने के लिए जो भी प्रयत्न किये जाते है, उनको उदीरणा नही कहा जा सकता। इसलिये नही कहा जा सकता कि उन प्रयत्नो के द्वारा जो सुख मिलेगा, एशो-आराम मिलेगा उससे सभव है कुछ न कुछ मन मे आसक्तिभाव या रागभाव उत्पन्न हो जाये और सुख तथा शुभ कम भोगते-भोगते आत्मा नये कम भी बान्ध ले। इसीलिए शुभ कर्मो को उदय मे लाने की आवश्यकता नही समझी जाती। उनको तो उपशम भाव मे ही रखना चाहिए ऐसी शास्त्र की आज्ञा है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष अशुभकर्मो को, जिनके भोगने मे पीडा होती है, दु ख होता है, उदय मे लाने का प्रयत्न किया करते

है। तपश्चर्या करने से शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है, कुछ दुख का भी अनुभव होता है। लोच करना, आतापना लेना, एक पैर पर खडे होकर ध्यान करना, बैठकर भी विभिन्न आसनो मे ध्यान करना जिससे कि शरीर में कुछ न कुछ पीडा हो—आदि-ादि ऐसी अनेक कष्टप्रद क्रियाएँ हैं जिन को यदि समभाव से सहन कर लिया जाये तो उदीरणा होती है। जिस व्यक्ति मे न तो सहन करने की शक्ति है और न ही भावना है वह उदीरणा नही कर सकता। वह तो यही सोचा करता है कि कर्म जैसे-जैसे अपने-आप उदय मे आते जायेंगे, भोग लिया जायेगा, क्यो व्यर्थ में अभी से कष्ट मोल लिया जाये।

तो ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि जो कर्म पहले से बन्धे हुए है वे जब फल भुगताने के लिए आते है तो उसको कर्मो का उदय कहा जाता है। जिस समय कर्मो का उदय होता है तो कर्म अपना दुष्प्रभाव आत्मा पर डालते है। आत्मा उदयावस्था मे कमजोर पड जाता है। कर्मो की शक्ति बलवत्तरा हो जाती है।

कर्मो की उदय की अवस्था मे भी कभी-कभी ऐसी विचारधारा उत्पन्न हो जाती है कि कर्मो का उदय एकदम रुक जाता है। या ऐसा कहो कि कर्मो का उदय रुकता नही किन्तु उसे रोक दिया जाता है। जैसे कि किसी को क्रोध आ जाये और वह उसको रोककर उसको शात कर दे। इस प्रकार के रोकने के भाव को उपशम भाव कहते है। मन के विचारो की धारा बदलने की आवश्यकता है। विचार परिवर्तित होते ही क्रोध शात हो जाता है। किसी व्यक्ति की आकृति पर क्रोध के लक्षण देखकर सामने बैठे व्यक्ति ने सोचा कि पता नही क्रोध के वशीभूत होकर वह क्या कह बैठे और क्या कर बैठे। और वास्तव में वह क्रोध के आवेश मे भी था परन्तु उसके मन में विचार आया, 'अरे क्रोध करना तो बहुत बुरी बात है, क्रोध का परिणाम तो कई बार बहुत ही भयानक होता है। क्रोध तो आपत्ति का मूल है। क्यो न क्रोध के स्थान पर प्रेम भाव से ही मै अपने झगडे का निपटारा कर लूँ।' इस प्रकार की चिन्तनधारा से क्रोध का तूफान एकदम शान्त हो जाता है। इसी का नाम उपशम भाव है। इस भाव से क्रोधादि जितने भी अशुभ कर्म है वे उपशान्त हो जाते हैं। वे कर्म फिर निर्बलता की स्थिति मे आकर जोर नही पकड पाते। उपशम भाव में आत्मिक शक्ति का विकास होने के कारण कर्म निर्बल पड जाते हैं। कर्मों को निर्बल बनाने की शक्ति आत्मा के अन्दर ही रहती है। कर्मो के उपशमन की इस प्रक्रिया से आत्मा को जो लाभ पहुँचा वह कहलाया औपशमिक लाभ। कर्मों के उदयकाल मे आत्मा पर जो बुरा प्रभाव पडता है वह औदयिक भाव कहलाता है।

उपशम सम्यक्त्व भी होता है। इसमे मिथ्यात्व की सहायक कर्मप्रकृतियाँ एकदम दब जाती है। औपशमिक भाव मे सम्यक्त्व और चारित्र दोनो रहते है। उदयभाव तो सभी कर्मो का होता है अर्थात् आठो ही कर्मो की सभी प्रकृतियाँ उदय मे आती है किन्तु उपशम भाव केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। मोहिनीय कर्म की ही प्रकृतियाँ उपशान्त की जाती हैं। मोहिनीय कम के उपशमन के कारण ही जीव को सम्यक्त्व भी प्राप्त होता है और चारित्र भी। ठेठ ग्यारहवे गुणस्थान का चारित्र औपशमिक भाव में प्राप्त हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान को मोक्ष का द्वार माना गया है। उपशम भावी आत्मा मुक्तिद्वार को खटखटाता है, खुलवाने के लिए, किन्तु जितने समय मे द्वार खुले उससे पूर्व ही वह नीचे गिर जाता है। उसका नाम 'औपशमिक भाव' ही इस स्थिति का द्योतक है। सब कुछ दबाया हुआ था। दबाए हुए कर्म तो कभी न कभी उफान मे आकर ही रहते है। दबाने की इस प्रक्रिया से आत्मा लाभान्वित तो अवश्य होता है किन्तु इस लाभ मे स्थायित्व नही रहता। या दूसरे शब्दो मे आत्मा अधिक समय तक एक-सा शक्तिमान बना नही रह सकता। यदा-कदा उसको हानि का भाजन बनना ही पडता है।

जिस प्रकार उसने मोहनीय कर्म का उपशम किया था, उसी प्रकार यदि वह उस कर्म का क्षय कर देता तो उसको क्षायिक-लाभ प्राप्त हो जाता जिसमे स्थायित्व की सत्ता रहती है। औपशमिक के समान इसमे अस्थायित्व की गुजाइश नहीं रहती। केवल-ज्ञान और केवल दशन, ये सारे क्षायिक भाव के अन्तर्गत आते है। सिद्ध अवस्था भी क्षायिक भाव मे है। क्षायिक भाव का अर्थ ही यह है कि जिस कर्म समूह का क्षय कर दिया गया उसके पुन उभरने की शक्ति समाप्त हो गई और कर्मक्षय से जो भी आत्मा को लाभ प्राप्त हुआ उसके मिटने या न्यून होने की सभावना तक जाती रही। इसके अतिरिक्त ज्ञातव्य बात यह है कि क्षायिक भाव सब व्यक्तियो का (अर्थात् जिन-जिन को क्षायिक भाव की उपलब्धि हो चुकी है—उन सबका) एक सरीखा ही होता है। जितने भी केवल ज्ञानी, केवल दशनी है वे सब के सब एक समान है। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्यवज्ञानी एक समान नही है। इनके तो भेद हैं—किसी के दो तो किसी के दो से अधिक। केवल ज्ञानी और केवल ज्ञानो मे कोई भेद नही होता, हजारो की सख्या मे हो तो भी भेद नही होता। जिसको केवलज्ञान आज प्राप्त हुआ है, जिसको हजारो वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था या आगे होगा—सब समान होते हैं। केवल ज्ञान कभी पुराना नही पडता। अरिहतो का, सिद्धो का, स्त्रियो का और पुरुषो का सबका केवल ज्ञान समान होता है। केवल ज्ञान तब होता है जब केवल ज्ञान का अवरोधक कर्म क्षय हो गया हो, और आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध पूर्णरूपेण मिट गया हो। केवल ज्ञान की दशा मे

आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाश की तरह प्रकट हो जाता है और उस पर पुन किसी प्रकार के आवरण आने की सभावना सर्वथा मिट जाती है। इसका कारण है कि क्षायिक भाव मे उसे यह लाभ प्राप्त हुआ है। सब आत्माओ का वास्तविक स्वरूप एक-सा है, केवल ज्ञानी आत्माओ की एकरूपता का यह भी एक कारण है। यद्यपि जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न आत्मा है किन्तु स्वरूप की दृष्टि से देखने पर तो आत्मा एक ही है। ठाणाग सूत्र के आरभ का उल्लेख

"एगे आया"

अर्थात् - आत्मा एक ही है, आत्मा के एक स्वरूप की ओर ही सकेत करता है।

क्षायिक भाव आत्मा का भाव होता है। जो भाव कभी भी नष्ट होने वाला न हो, वह आत्मा का भाव होता है। इसके विपरीत जो भाव समय पाकर नष्ट हो जाते हो, जिनमे न्यूनाधिकता आ जाती हो—वे भाव कर्मो के होते है। अपने भावो के अन्दर तो आत्मा सिद्धावस्था को पहुँच जाता है किन्तु पराये भावो के अन्दर आत्मा ऊर्ध्वगति का भी अधिकारी नही बन पाता। अपना भाव स्वभाव कहलाता है और कर्मो का जो भाव है वह परभाव या विभाव कहलाता है। ज्ञानीपुरुषो का इसीलिए बार-बार कहना है कि अपने स्वभाव की पहचान करो, अपने स्वभाव को प्रकट करो। 'स्व' के अतिरिक्त ससार की जितनी भी वस्तुएँ है उन सबको इसी रूप मे समझना होगा कि 'वे और है', और 'मैं और हूँ'। 'स्व' और 'पर' की इस भिन्नता को समझे बिना हमारे वास्तविक स्वभाव को प्रकट करने वाली उमग उत्पन्न नही हो सकेगी। उमग के अभाव मे प्रयास का भी अभाव रह जायेगा। सर्वप्रथम तो हमको स्वभाव और विभाव मे भेद समझना होगा। स्व अलग है, पर अलग है। स्व और पर ये दो भिन्न वस्तुओ का एकत्र समिश्रण है – ऐसी दृढ धारणा बनानी होगी। जब तक किसी व्यक्ति को यह दृढ निश्चय नही हो जायेगा कि दूध के अन्दर घृत और छाछ, सार और असार —ये दोनो चीजें निहित है, तब तक वह दूध में से घृत निकालने का प्रयत्न कैसे करेगा ? दूध से घी निकालने के लिए सर्वप्रथम तो दूध को गरम करना पडेगा। आजकल की वैज्ञानिक पद्धति में यद्यपि ठडे दूध से भी मक्खन निकाल लिया जाता है परन्तु उससे निर्मित घी उतना स्वास्थ्यवर्धक और लाभदायक नही होता जितना कि मथित दूध से निकाला गया घृत। ऊपर से एक दिखाई देने वाली वस्तु दूध मे दो तत्त्व निहित है—जो आपस मे इतने घुले-मिले है और दूध के अणु-अणु मे ऐसे समाए हुए है कि जिनकी सामान्यबुद्धि का व्यक्ति कल्पना भी नही करता। इन दो तत्त्वो को पृथक्-पृथक् करने के लिए बडा

प्रयत्न करना पडता है। गर्म किए हुए दूध को उचित प्रमाण मे ठडा करना पडेगा। तव उसमे दही डाला जायेगा जिसे मारवाडी भाषा मे 'जामण' कहते हैं। जमाने के लिए जो उसमे दही डाला गया वह दूध का ही विकार था। दही और दूध -दोनो की एक ही प्रकृति थी इस कारण दूध जम गया। किसी कवि की इस पर उक्ति भी है

प्रकृति मिले मन मिलत है,
अनमिलते न मिलात।
दूध दही से जमत है,
काँजी से फट जात॥

अर्थात्—मन तभी मिला करते है जब दोनो की प्रकृति समान हो। इसी प्रकार दूध तभी जमा करता है जब उसमे दही डाल दिया जाये। दही और दुध की प्रक्रित समान जो ठहरी। काँजी डालने से दूध इसलिए फट जाता है क्योकि काँजी की प्रकृति दूध से नही मिलती। खटाई-खटाई एक होने से कुछ नही बनता जब तक प्रकृति मे समानता न हो।

दही के सम्पक से दूध जम जाता है, ठोस बन जाता है। इस ठोस हुए दूध का जब मथन किया जाता है तो दही के गुण मे वृद्धि होने लगती है। इस पर किसी कवि की उक्ति है

"दधि चन्दनताम्बूले मर्दनं गुणवर्धनम्।"

अर्थात्—दही, चन्दन और पान को जितना अधिक मथा जाये, घिसा जाये, चबाया जाये उतना ही उनका गुण बढता है।

देर तक की मथन क्रिया के बाद ही मक्खन छाछ से अलग होकर तैरने लगता है। इस माखन को जब अग्नि पर रखा जाता है तब छाछ अलग हो जाती है और शुद्ध घी अलग निकल आता है। कितने परिश्रम के पश्चात् यह कीमती पदार्थ निकला। भोजन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि सब मे घी की सुगन्ध वातावरण को सुरभित करने लगी।

ठीक घी के समान ही आत्मा जैसे कीमती पदाथ को जडतत्त्व का तपश्चर्या द्वारा मथन करके जड तत्त्व से अलग करना पडता है। इसके लिए असाधारण परिश्रम की आवश्यकता रहती है। आत्मा और कर्म—ये दोनो परस्पर विरोधी तत्त्व है। आत्मा चेतन है और कर्म जड। एक पदाथ स्वरूप है दूसरा पररूप है। पहला ऊर्ध्वगामी है और दूसरा अधोगामी है। हमारी आत्मा और कमवगणाएँ दोनो पूणरूपेण भिन्न हे—ऐसा दृढ श्रद्धान होना चाहिए। आत्मा की शरीर से पृथक्ता का पूर्ण भान होना चाहिए। इस प्रकार

आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाश की तरह प्रकट हो जाता है और उस पर पुन किसी प्रकार के आवरण आने की सभावना सर्वथा मिट जाती है। इसका कारण है कि क्षायिक भाव मे उसे यह लाभ प्राप्त हुआ है। सब आत्माओ का वास्तविक स्वरूप एक-सा है, केवल ज्ञानी आत्माओ की एकरूपता का यह भी एक कारण है। यद्यपि जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न आत्मा है किन्तु स्वरूप की दृष्टि से देखने पर तो आत्मा एक ही है। ठाणाग सूत्र के आरभ का उल्लेख

"एगे आया"

अर्थात्– आत्मा एक ही है, आत्मा के एक स्वरूप की ओर ही सकेत करता है।

क्षायिक भाव आत्मा का भाव होता है। जो भाव कभी भी नष्ट होने वाला न हो, वह आत्मा का भाव होता है। इसके विपरीत जो भाव समय पाकर नष्ट हो जाते हो, जिनमे न्यूनाधिकता आ जाती हो—वे भाव कर्मो के होते है। अपने भावो के अन्दर तो आत्मा सिद्धावस्था को पहुँच जाता है किन्तु पराये भावो के अन्दर आत्मा ऊर्ध्वगति का भी अधिकारी नही बन पाता। अपना भाव स्वभाव कहलाता है और कर्मो का जो भाव है वह परभाव या विभाव कहलाता है। ज्ञानीपुरुषो का इसीलिए बार-बार कहना है कि अपने स्वभाव की पहचान करो, अपने स्वभाव को प्रकट करो। 'स्व' के अतिरिक्त ससार की जितनी भी वस्तुएँ है उन सबको इसी रूप मे समझना होगा कि 'वे और है', और 'मैं और हूँ'। 'स्व' और 'पर' की इस भिन्नता को समझे बिना हमारे वास्तविक स्वभाव को प्रकट करने वाली उमग उत्पन्न नही हो सकेगी। उमग के अभाव मे प्रयास का भी अभाव रह जायेगा। सर्वप्रथम तो हमको स्वभाव और विभाव मे भेद समझना होगा। स्व अलग है, पर अलग है। स्व और पर ये दो भिन्न वस्तुओ का एकत्र समिश्रण है–ऐसी दृढ धारणा बनानी होगी। जब तक किसी व्यक्ति को यह दृढ निश्चय नही हो जायेगा कि दूध के अन्दर घृत और छाछ, सार और असार —ये दोनो चीजें निहित है, तब तक वह दूध मे से घृत निकालने का प्रयत्न कैसे करेगा ? दूध से घी निकालने के लिए सवप्रथम तो दूध को गरम करना पडेगा। आजकल को वैज्ञानिक पद्धति मे यद्यपि ठडे दूध से भी मक्खन निकाल लिया जाता है परन्तु उससे निर्मित घी उतना स्वास्थ्यवर्धक और लाभदायक नही होता जितना कि मथित दूध से निकाला गया घृत। ऊपर से एक दिखाई देने वाली वस्तु दूध मे दो तत्त्व निहित है—जो आपस मे इतने घुले मिले हैं और दूध के अणु-अणु मे ऐसे समाए हुए है कि जिनकी सामान्यबुद्धि का व्यक्ति कल्पना भी नही करता। इन दो तत्त्वो को पृथक्-पृथक् करने के लिए बडा

प्रयत्न करना पडता है। गर्म किए हुए दूध को उचित प्रमाण मे ठण्डा करना पडेगा। तब उसमे दही डाला जायेगा जिसे मारवाडी भाषा मे 'जामण' कहते हैं। जमाने के लिए जो उसमे दही डाला गया वह दूध का ही विकार था। दही और दूध —दोनो की एक ही प्रकृति थी इस कारण दूध जम गया। किसी कवि की इस पर उक्ति भी है

प्रकृति मिले मन मिलत है,<br>
अनमिलते न मिलात।<br>
दूध दही से जमत है,<br>
कांजी से फट जात॥

अर्थात्—मन तभी मिला करते है जब दोनो की प्रकृति समान हो। इसी प्रकार दूध तभी जमा करता है जब उसमे दही डाल दिया जाये। दही और दुध की प्रकृित समान जो ठहरी। कांजी डालने से दूध इसलिए फट जाता है क्योकि कांजी की प्रकृति दूध से नही मिलती। खटाई खटाई एक होने से कुछ नही बनता जब तक प्रकृति मे समानता न हो।

दही के सम्पक से दूध जम जाता है, ठोस बन जाता है। इस ठोस हुए दूध का जब मथन किया जाता है तो दही के गुण मे वृद्धि होने लगती है। इस पर किसी कवि की उक्ति है

"दधि चन्दनताम्बूले मर्दन गुणवर्धनम्।"

अर्थात्—दही, चन्दन और पान को जितना अधिक मथा जाये, घिसा जाये, चबाया जाये उतना ही उनका गुण बढता है।

देर तक की मथन क्रिया के बाद ही मक्खन छाछ से अलग होकर तैरने लगता है। इस माखन को जब अग्नि पर रखा जाता है तब छाछ अलग हो जाती है और शुद्ध घी अलग निकल आता है। कितने परिश्रम के पश्चात् यह कीमती पदाथ निकला। भोजन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि सब मे घी की सुगन्ध वातावरण को सुरभित करने लगी।

ठीक घी के समान ही आत्मा जैसे कीमती पदार्थ को जडतत्त्व का तपश्चर्या द्वारा मथन करके जड तत्त्व से अलग करना पडता है। इसके लिए असाधारण परिश्रम की आवश्यकता रहती है। आत्मा और कर्म—ये दोनो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। आत्मा चेतन है और कर्म जड। एक पदार्थ स्वरूप है दूसरा पररूप है। पहला ऊर्ध्वगामी है और दूसरा अधोगामी है। हमारी आत्मा और कमवगणाएँ दोनो पूणरूपेण भिन्न हे—ऐसा दृढ श्रद्धान हाना चाहिए। आत्मा की शरीर से पृथक्ता का पूर्ण भान होना चाहिए। इस प्रकार

की दृढ धारणा के पश्चात् जो व्यक्ति तपश्चर्या करता है, सम्यक्त्व धारण करके अनादिकालीन मिथ्यात्व का त्याग करता है, जितनी इच्छाएँ है, लालसाएँ है, महा-आरभ, महापरिग्रह—सब का त्याग कर देता है वही अपने सचित कर्मो का क्षय कर सकता है। सचित कर्मो के क्षय के पश्चात् आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप निखर आता है। आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप ही परमात्म पद को प्राप्त करता है। जो आत्मा था वह परमात्मा बन जाता है। परमात्मा बनते ही शाश्वत सुखो का साम्राज्य आरभ हो जाता है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १० अगस्त, १६७६

□□

# सॉच को ऑच नही

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना ससार मे सुख की आशा नही करनी चाहिए। सचाई और अच्छाई के सामजस्य का नाम ही सम्यक्त्व है। जिस व्यक्ति का जीवन सत्य पर आधारित है, वह तो सुखी ही रहता है। तभी तो लोक मे कहावत प्रचलित है कि 'साँच को आँच नही।' साँच को आँच आ भी कैसे सकती है ? साँच तो ठोस है, निगोट है। यह तो पोल-पाल से रहित होता है। पोल तो असत्य मे, झूठ मे होती है। ठोस और घन पदार्थ आँच से आसानी से आक्रान्त नही हुआ करते। जो पोले, पोचे या कमजोर होते है उनको आग बडी सरलता से पकड लेती है। घास, तृण और कागज आदि ऐसे ही हल्के पदार्थ होते हैं जो आग की लपेट में तुरन्त आ जाते हैं। अग्नि की ज्वालाओ से एक क्षण मे ही राख की ढेरी बन जाते है। लकडी जैसा ठोस पदाथ न तो शीघ्र आग ही पकडता है और न ही जलकर तुरन्त राख ही बनता है। वह तो जलकर भी ठोस कोयलो के रूप में रहता है। लकडी, तिनको की अपेक्षा ठोस होती है। सब लकडियाँ भी एक सरीखी नही होती। कुछ अधिक ठोस होती है तो कुछ कम। गजसुकुमाल के स्तवन मे आता है इसका प्रसग

**"खेरा ना खीरा सिर घरिया असरालो।<br>मुनि नजर न खडी मेटी मन नी झालो॥"**

गजसुकुमाल मुनि पर खेर की लकडी के खीरे धरे गये थे। खेर की लकडी बडी दृढ और पक्की होती है। श्मशान भूमि में शवो को बडी पक्की लकडी से जलाया जाता है जिससे कि उसके खीरे जल्दी से बुझने न पायें। इससे शव का दाह पूरी तरह से हो जाता है, उसका अवशेष बचने नही पाता। खेर के समान और भी ऐसे पदार्थ है जो इतने ठोस और घन है कि जिनको जलाने के लिए अग्नि की अधिक मात्रा की आवश्यकता पडा करती है। अमुक-अमुक पदार्थों को जलाने और गलाने के लिए निश्चित डिग्री की हीट की अपेक्षा रहती है। लोहे की भट्टियो, तावे की भट्टियो और सोने की भट्टियो मे धातुओ की शुद्धि निमित्त रज कणो के पृथक्करण के लिए धातु की ठोस

या कोमल प्रकृति को ध्यान मे रखकर छीट दी जाती है। ठोस पदार्थ के सामने तो कई बार आग स्वय बुझ जाती है और उस पदार्थ का कुछ भी नही बिगाड सकती। उदाहरण के लिए सीमेट और ककरीट के बने या पत्थर के बने फर्श पर आप जलता हुआ खीरा लाकर रख दें, वह ठोस फर्श का कुछ भी नही बिगाड सकेगा और स्वय बुझकर राख बन जायेगा। तो हमारा कहने का आशय यही है कि ठोस पदार्थ को आँच लगनी वडी कठिन है। ससार मे सत्य से वढकर कोई ठोस तत्त्व या पदार्थ नही है।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि सत्य की शक्ति के सामने अन्य सभी शक्तियाँ कुठित हो जाती है। उदाहरण के लिए क्रोध असत्य है और क्षमा की भावना सत्यपूर्ण है। जिसके पास क्षमा रूपी सत्य का शस्त्र है उसके सामने दुजन का क्रोध कुण्ठित हो जाता है। तभी तो किसी नीतिकार ने कहा है

"क्षमा खड्ग करे यस्य दुर्जन कि करिष्यति ?"

जिस व्यक्ति ने क्षमारूपी तलवार को धारण कर रखा है उसके सामने दुर्जन का क्रोध क्या कर सकता है ? लोहे की तलवार को धारण करने वाला तो स्वय अपना विनाश भी उसी तलवार से कर सकता है, किन्तु क्षमा की तलवार को धारण करने वाले को तो किसी भी प्रकार का खतरा नही। क्रोध से क्रोध टकराता है तो हानि होती है, जब क्रोध से क्षमा टकराती है तो क्रोध स्वय शान्त हो जाता है। घास-फूस-विहीन स्थान मे फेंकी हुई अग्नि स्वय ही शान्त हो जाती है

"अतृणे पतितो वह्नि स्वयमेवोपशाम्यति"

इसीलिए ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि सत्य के समक्ष सब शक्तियाँ सारहीन हो जाती है।

जैसा कि हमने पहले निर्देश किया है सम्यक्त्व मे सचाई और अच्छाई दोनो का सामजस्य है। हमारे मस्तिष्क मे यदि सचाई होगी तो विश्व-भर में जितने भी पदाथ है उनका वास्तविक स्वरूप हमको दृष्टिगोचर होगा। विश्व के पदार्थो की वास्तविकता का दर्शन मस्तिष्क की सचाई का ही परिणाम होता है। ससार के दृश्यमान पदार्थ विनाशशील है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी पदाथ हैं जो विनाशशीलता की परिधि मे न आकर स्थिर रहने वाले हैं। इस प्रकार सब पदार्थो का आन्तरिक रहस्य जानने और समझने से हमारे मस्तिष्क मे सत्य की पुष्टि होती है। सत्य की पुष्टि होने के पश्चात् हमे न तो किसी भी पदाथ पर क्रोध आयेगा, न ईर्ष्या होगी और न ही द्वेष की भावना जागृत होगी। इससे हमारे मन मे स्थिरता आ जायेगी और हम स्थिरमति बन

जायेंगे। स्थिरमति की स्थिति मे कोई भी दूसरा व्यक्ति या अन्यमति यदि हमको सचाई और अच्छाई से विचलित करना चाहेगा, हटाना चाहेगा तो वह सफल नही हो सकेगा। उसका कुछ भी प्रभाव हम पर नही पड सकेगा। हम यदि ऐसे वातावरण मे रह रहे हो जहाँ विपरीत-विचारो की आँधी चल रही हो, विरोधी तत्त्वो का सघर्ष चल रहा हो तो भी हमको किसी प्रकार की आँच इसलिए नही आ सकती क्योकि हमने सचाई को परखकर उस पर अपने को दृढ कर रखा है। विश्व-भर के पदार्थों की प्रकृति से हम भलीभाँति परिचिति हो चुके है और अपने स्वभाव की वास्तविकता को भी हम भलीभाँति जान चुके है। हमने अपने स्वभाव पर भी वहुत चिन्तन-मनन किया है। जव ससार के सब पदार्थों का स्वभाव अपनी विशिष्टता रखता है तो हमारे स्वभाव की भी तो अपनी विशेषता है—यह बोध हमको हो चुका है। हमारे जीवन मे ससार के अनेक पदार्थ हमारे सामने आते है। अपने-अपने आकर्षण व प्रभाव से वे हमे उत्तेजित व प्रेरित करने का प्रयत्न करते है। यह उनका स्वभाव है। वे अपने स्वभाव का प्रभाव जब हम पर डालना चाहते है, उस समय उनके प्रभाव से अपनी रक्षा के लिए हमे सोचना चाहिए कि आखिर हमारा भी तो स्वभाव है, हम अपने स्वभाव का त्याग क्यो करे? जैसे ये पदार्थ अपने स्वभाव का त्याग नही करते, वैसे मैं भी अपने स्वभाव का त्याग क्यो करूँ—ऐसी चिन्तनधारा होनी चाहिए और होती है सत्य के अनुयायी की। क्या आप बतायेंगे कोई ऐसा पदाथ जो अनेक विषमताओ और बाधाओ के मध्य मे भी अपने स्वभाव को स्थिर रखता हो? इसके लिए आपमें से एक श्रावक ने चन्दन वृक्ष का उदाहरण दिया है। चन्दन का वृक्ष अनेक विषैले भयानक नागो से घिरा रहकर भी अपनी सुगन्धि का, जो उसका स्वभाव है, प्रसार करता रहता है। यह उदाहरण बराबर नही है, इसका कारण है कि चन्दन की लकडियो का भी यदि पारस्परिक सघर्ष हो जाये तो अग्नि प्रकट हो जाती है। स्वभाव की वास्तविक स्थिरता का उदाहरण पानी का है। पानी के घडे के उदाहरण से आप बडी सरलता से स्वभाव की स्थिरता को समझ सकते है। मिट्टी से निर्मित एक पानी का भरा हुआ घडा है। खिडकी के अन्दर उसे रखा है। ग्रीष्म की ऋतु है, चारो ओर जलती हुई लू के झोके चल रहे हे। ऐसे तप्त लू के झोके कि मकान तक आग उगल रहे है। ऐसी भयानक तपस मे पानी का घडा, जिस पर पानी से भीगा गरणा लपेट रखा है, ज्यो-ज्यो लू की अधिकाधिक गरमी पाता है त्यो-त्यो अन्तर्निहित जल की शीतलता को बढाता जाता है। कितनी भयानक तपस से आक्रान्त है जल किन्तु तब भी अपने वास्तविक स्वभाव मे विषमता नही आने देता। इसको कहते हे अपने स्वभाव की स्थिरता। पानी का स्वभाव या पानी का गुण शीतलता है, पानी अपने स्वभाव का कभी त्याग

नही करता। कोई इस प्रकार की शका कर सकता है कि पानी को आग पर चढाने से वह इतना भयानक रूप से उबलने लगता है कि यदि किसी पर उसका एक छीटा भी पड जाये तो चमडी जल जाती है और छाले उठ जाते हैं। उस समय कहाँ चला जाता है उसकी शीतलता का स्वभाव ? इस शका का यही समाधान है कि जल तपकर और उबलकर भी अपने शीतलता के स्वभाव का त्याग नही करता है। उस उबलते हुए जल को यदि जलती हुई अग्नि पर डाल दिया जाये तो वह अपने शीतलता के गुण से उसको शान्त कर देता है, बुझा देता है। इससे स्पष्ट है कि पानी ने जलकर भी अपने शीतल स्वभाव को नही छोडा है। जलती अग्नि पर डाला गया खौलता हुआ पानी इस प्रकार पानी का ही काम करता है, घासलेट या पेट्रोल का नही। यह सब स्वभाव का ही चमत्कार है। इस ससार मे जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबका वास्तविक स्वरूप सम्यक्त्वी ही जानने मे समर्थ हो सकता है। मिथ्यात्वी लोगो के लिए यह सभव नही है। इसका कारण है कि मिथ्यात्वी लोग शास्त्र-श्रवण और शास्त्र-वाचन से सदा वचित रहते है। शास्त्रो मे उनकी रुचि ही कहाँ होती है ?

हमारे शास्त्र तो सर्वज्ञो की वाणी है। जो ससार की सब बातो को जानने वाले हो, ससार की कोई भी बात जिनकी जानकारी से अछूती न रही हो, वे सर्वज्ञ कहलाते है। वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान—तीनो कालो की बातो को जानने वाले होते है। ऐसे सर्वज्ञो की वाणी के बाहर दुनियाँ का कोई भी तत्त्व नही रहता। आपको ससार का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना हो तो आप शास्त्रो का अभ्यास करो, ज्ञान प्राप्त करो, उनका चिन्तन करो, मनन करो। जिन श्रावको का मन दिन-रात सर्वज्ञो की वाणी मे रमण करता रहता है, उनके प्रति अटूट श्रद्धा रखता है, उन सम्यक्त्वी पुरुषो मे सचाई और अच्छाई दोनो बाते निवास करती है। ऐसा ससार का चितनशील व्यक्ति ही अपने स्वभाव को ऐसी स्थिरता प्रदान करता है जिसके परिणाम-स्वरूप उसमें यह भावना उत्पन्न होती है कि जब ससार के अन्य पदार्थ अपना स्वभाव नही छोडते तो मैं अपना स्वभाव क्यो छोडूँ ? ससार के सामान्य व्यक्तियो की तो बात ही क्या है यदि स्वय देवता भी आ जाये तो भी उसको उसके स्वभाव से विचलित नही कर सकते। देव, दानव, मानव—कोई भी उनके मन के समेरु को नही डिगा सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि उनका जीवन सत्य पर आधारित होता है। सभी वस्तुओ का ज्ञान उनको पहले ही हो जाता है। इसलिए उनको आँच नही आती। साँच को आँच कैसे लग सकती है ? ज्ञानी पुरुष बार-बार यह कह रहे है कि मनुष्यो को ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए और ज्ञान के माध्यम से विश्व की वस्तुओ की वास्तविकता को समझना चाहिए। यह कहना कि इतने बडे विश्व मे असख्य

वस्तुओ का बोध अकेला व्यक्ति कैसे कर सकता है—सारहीन है। विश्व के सभी पदार्थों का ज्ञान आपको एक वाक्य से कराया जा सकता है। वह वाक्य है 'ससार के अन्दर सभी पदार्थों का अस्तित्व है।' वे सब पदार्थ क्या है और क्या नही है, इस बात को जानने से पूर्व दो बातें स्पष्ट जानने मे आती है। वे है कि विश्व के सभी पदार्थ दो भागो मे विभक्त है एक तो जड, दूसरे चेतन। तीसरा कोई भाग नही है। जड और चेतन भागो मे ससार के सब पदार्थों का समावेश हो जाता है। जड पदार्थो मे भी—विनाशी और अविनाशी—ये दो तरह के पदार्थ हैं। जो नाशवान् हैं वे विनाशी कहलाते है और जो स्थिर रहनेवाले है वे नित्य या अविनाशी कहलाते हैं। जो भी पदार्थ हमारी इन्द्रियो के गोचर हैं, वे निश्चितरूप से नाशवान् हैं। दृश्यमान सभी पदार्थ नाशवान् होते हे। जो कुछ भी दिखाई देता है वह वस्तु का स्थूल रूप होता है, स्थूल रूप का नाश अवश्यभावी होता है। स्थूल वस्तु का कुछ नाम अवश्य होता है, जिसका नाम होता है, वह वस्तु नाशवान् होती है। 'जेनु नाम तेनु नाश' यह कहावत भी प्रसिद्ध है। धूप और छाया आदि जो भी पदार्थ हमे दिखाई दे रहे है वे सब पदार्थ के स्थूल रूप ही हैं। पदार्थो का परमाणुओ के रूप मे जो सूक्ष्मरूप है वह तो हमको दिखाई नही देता। परमाणु अविनाशी होते है। इस प्रकार जड पदार्थो मे परमाणु नाशवान् नही होते। बाकी जो भी परमाणु के पिण्ड की बनावट है, परमाणुओ के स्कन्ध है जिनको हम देख रहे है उन सबका नाश हो जाता है। देवताओ के विमान, सुमेरु पवत आदि-आदि और भी जो वस्तुएँ शाश्वतिक है उनमे से भी पुराने परमाणु निकलते रहते है और नये परमाणु पुद्गल जुडते रहते है। जैसे वे होते है वैसे सदा नही रहते। समय-समय पर उनकी पर्यायें परिवर्तित होती रहती है। हमारे शरीर की पर्याये भी समय समय पर पलटती रहती है। यहाँ इस बात का ध्यान रहे कि हमारी बदलने वाली पर्यायें विनाशोन्मुखी होती है, उनका विनाश किसी न किसी दिन अवश्यभावी होता है। शरीर की दृष्टि से शाश्वत पदार्थो की पर्यायें जो पलटती है वे वतमान की पर्याय से दूसरी पर्याय मे जाकर दूसरे पुद्गलो की पूर्ति कर देती है। हम तो भरतक्षेत्र मे रहते है, भरतक्षेत्र की कोई भी वस्तु शाश्वतिक नही है। इस प्रकार का सारा ज्ञान जिसका विवरण हमने ऊपर प्रस्तुत किया है, ज्ञानी पुरुषो के कथनानुसार, सम्यक्त्वी को होता है। सम्यक्त्वी ही ऐसा सोचा करता है कि, 'मैं तो ससार के उन पदार्थो मे से हूँ जो अविनाशी है। मैं अविनाशी होकर क्यो किसी से राग-द्वेष करूँ ? मैं अपने स्वभाव का त्याग क्यो करूँ ? भले ही शरीर की दृष्टि से मैं विनाशी हूँ, किन्तु मैं वास्तव मे शरीर तो नही हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। आत्मिक दृष्टि से मैं अवि-

नही करता । कोई इस प्रकार की शका कर सकता है कि पानी को आग पर चढाने से वह इतना भयानक रूप से उबलने लगता है कि यदि किसी पर उसका एक छीटा भी पड जाये तो चमडी जल जाती है और छाले उठ जाते है । उस समय कहाँ चला जाता है उसकी शीतलता का स्वभाव ? इस शका का यही समाधान है कि जल तपकर और उबलकर भी अपने शीतलता के स्वभाव का त्याग नही करता है। उस उबलते हुए जल को यदि जलती हुई अग्नि पर डाल दिया जाये तो वह अपने शीतलता के गुण से उसको शान्त कर देता है, बुझा देता है। इससे स्पष्ट है कि पानी ने जलकर भी अपने शीतल स्वभाव को नही छोडा है । जलती अग्नि पर डाला गया खौलता हुआ पानी इस प्रकार पानी का ही काम करता है, घासलेट या पेट्रोल का नही। यह सब स्वभाव का ही चमत्कार है । इस ससार मे जितनी भी वस्तुएँ है, उन सबका वास्तविक स्वरूप सम्यक्त्वी ही जानने मे समर्थ हो सकता है । मिथ्यात्वी लोगो के लिए यह सभव नही है । इसका कारण है कि मिथ्यात्वी लोग शास्त्र-श्रवण और शास्त्र-वाचन से सदा वचित रहते है । शास्त्रो मे उनकी रुचि ही कहाँ होती है ?

हमारे शास्त्र तो सर्वज्ञो की वाणी है। जो ससार की सब बातो को जानने वाले हो, ससार की कोई भी बात जिनकी जानकारी से अछूती न रही हो, वे सर्वज्ञ कहलाते हैं । वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान—तीनो कालो की बातो को जानने वाले होते है । ऐसे सर्वज्ञो की वाणी के बाहर दुनियाँ का कोई भी तत्त्व नही रहता । आपको ससार का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना हो तो आप शास्त्रो का अभ्यास करो, ज्ञान प्राप्त करो, उनका चिन्तन करो, मनन करो । जिन श्रावको का मन दिन-रात सर्वज्ञो की वाणी मे रमण करता रहता है, उनके प्रति अटूट श्रद्धा रखता है, उन सम्यक्त्वी पुरुषो मे सचाई और अच्छाई दोनो बाते निवास करती है । ऐसा ससार का चितनशील व्यक्ति ही अपने स्वभाव को ऐसी स्थिरता प्रदान करता है जिसके परिणाम-स्वरूप उसमे यह भावना उत्पन्न होती है कि जब ससार के अन्य पदार्थ अपना स्वभाव नही छोडते तो मैं अपना स्वभाव क्यो छोडूं ? ससार के सामान्य व्यक्तियो की तो बात ही क्या है यदि स्वय देवता भी आ जाये तो भी उसको उसके स्वभाव से विचलित नही कर सकते । देव, दानव, मानव—कोई भी उनके मन के समेरू को नही डिगा सकता । इसका मुख्य कारण यही है कि उनका जीवन सत्य पर आधारित होता है । सभी वस्तुओ का ज्ञान उनको पहले ही हो जाता है । इसलिए उनको आँच नही आती । साँच को आँच कैसे लग सकती है ? ज्ञानी पुरुष बार-बार यह कह रहे है कि मनुष्यो को ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए और ज्ञान के माध्यम से विश्व की वस्तुओ की वास्तविकता को समझना चाहिए । यह कहना कि इतने बडे विश्व मे असत्य

वस्तुओ का बोध अकेला व्यक्ति कैसे कर सकता है—सारहीन है। विश्व के सभी पदार्थो का ज्ञान आपको एक वाक्य से कराया जा सकता है। वह वाक्य है 'ससार के अन्दर सभी पदार्थो का अस्तित्व है।' वे सब पदार्थ क्या हैं और क्या नही है, इस बात को जानने से पूर्व दो बातें स्पष्ट जानने मे आती है। वे है कि विश्व के सभी पदार्थ दो भागो मे विभक्त हैं एक तो जड, दूसरे चेतन। तीसरा कोई भाग नही है। जड और चेतन भागो मे ससार के सब पदार्थो का समावेश हो जाता है। जड पदार्थो मे भी—विनाशी और अविनाशी—ये दो तरह के पदार्थ हैं। जो नाशवान् है वे विनाशी कहलाते है और जो स्थिर रहनेवाले है वे नित्य या अविनाशी कहलाते हैं। जो भी पदाथ हमारी इन्द्रियो के गोचर हैं, वे निश्चितरूप से नाशवान् हैं। दृश्यमान सभी पदार्थ नाशवान् होते है। जो कुछ भी दिखाई देता है वह वस्तु का स्थूल रूप होता है, स्थूल रूप का नाश अवश्यभावी होता है। स्थूल वस्तु का कुछ नाम अवश्य होता है, जिसका नाम होता है, वह वस्तु नाशवान् होती है। 'जेनु नाम तेनु नाश' यह कहावत भी प्रसिद्ध है। धूप और छाया आदि जो भी पदार्थ हमे दिखाई दे रहे है वे सब पदार्थ के स्थूल रूप ही हैं। पदार्थो का परमाणुओ के रूप मे जो सूक्ष्मरूप है वह तो हमको दिखाई नही देता। परमाणु अविनाशी होते है। इस प्रकार जड पदार्थो मे परमाणु नाशवान् नही होते। बाकी जो भी परमाणु के पिण्ड की बनावट है, परमाणुओ के स्कन्ध है जिनको हम देख रहे है उन सबका नाश हो जाता है। देवताओ के विमान, सुमेरु पर्वत आदि-आदि और भी जो वस्तुएँ शाश्वतिक हे उनमे से भी पुराने परमाणु निकलते रहते है और नये परमाणु पुद्गल जुडते रहते हे। जैसे वे होते है वैसे सदा नही रहते। समय-समय पर उनकी पर्यायें परिवर्तित होती रहती है। हमारे शरीर की पर्याये भी समय-समय पर पलटती रहती है। यहाँ इस बात का ध्यान रहे कि हमारी बदलने वाली पर्यायें विनाशोन्मुखी होती है, उनका विनाश किसी न किसी दिन अवश्यभावी होता है। शरीर की दृष्टि से शाश्वत पदार्थो की पर्यायें जो पलटती हैं वे वतमान की पर्याय से दूसरी पर्याय मे जाकर दूसरे पुद्गलो की पूर्ति कर देती हैं। हम तो भरतक्षेत्र मे रहते है, भरतक्षेत्र की कोई भी वस्तु शाश्वतिक नही है। इस प्रकार का सारा ज्ञान जिसका विवरण हमने ऊपर प्रस्तुत किया है, ज्ञानी पुरुषो के कथनानुसार, सम्यक्त्वी को होता है। सम्यक्त्वी ही ऐसा सोचा करता है कि, 'मैं तो ससार के उन पदार्थो मे से हूँ जो अविनाशी है। मैं अविनाशी होकर क्यो किसी से राग-द्वेष करूँ ? मैं अपने स्वभाव का त्याग क्यो करूँ ? भले ही शरीर की दृष्टि से मैं विनाशी हूँ, किन्तु मैं वास्तव मे शरीर तो नही हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। आत्मिक दृष्टि से मैं अवि-

नाशी हूँ, इसलिए मेरा कभी नाश होने वाला नही है। नि सन्देह मैं अविनाशी पद अभी तक प्राप्त नही कर सका हूँ किन्तु उसके लिए मैं प्रयत्नशील हूँ। अविनाशी पद को प्राप्त करने हेतु मेरे लिए यह परमावश्यक है कि मैं अपने स्वभाव से कभी भी पतित न होऊँ। मुझे मेरे स्वभाव से विचलित करने वालो की ससार में कोई भी कमी नही है। शास्त्रो मे यत्र-तत्र प्रसग आते है कि प्राचीन समय मे साधुओ को और श्रावको को उनके धर्म से डिगाने के लिए अनेक शक्तियाँ आईं किन्तु जो डिगे नही, अविचल रहे वे ससार-सागर को पार कर गए।'

अरणक का नाम तो आपने सुना ही होगा। वे भगवान् मल्ली के शासन-काल के श्रावक थे। भगवान् मल्ली उन्नीसवे तीर्थकर थे। अरणक श्रावक का जहाज अबाध गति से समुद्र पर चला जा रहा था। वह बडा प्रसिद्ध सार्थवाह माना जाता था अपने समय का। हजारो व्यापारी, भिन्न-भिन्न नगरो के, व्यापार-निमित्त उसके जहाज मे विराजमान थे। सैकडो मुनीम और नौकर-चाकर सेवा के लिए जहाज मे थे। बडा ही सम्पन्न साथवाह था अरणक। धर्म का आचरण जब भरे पूरे सम्पन्न व्यक्ति करते है तो उनका बाहर के लोगो पर बडा अच्छा प्रभाव पडता है। अपने आत्मा का कल्याण तो वैसे सामान्य व्यक्ति भी कर ही लेते है किन्तु बडे आदमी निज के आत्म-कल्याण के साथ अन्य भी अनेक लोगो को आत्मकल्याण के लिए प्रेरित कर देते है और प्रोत्साहन भी देते है। जब अरणक श्रावक का जहाज समुद्र मे से गुजर रहा था, उस समय देवलोक मे इन्द्र ने अपने पास बैठे हुए देवताओ से कहा, "आज के दिन मनुष्यलोक मे जैसा अरणक श्रावक अपने धर्म मे दृढ है, वैसा दूसरा व्यक्ति मिलना कठिन है।" सुनने वाले देवताओ मे से एक देव के मन मे विचार आया, "अन्न का कीडा और मलमूत्र का पुतला मनुष्य क्या इतनी बात पर दृढ रह सकता है ? मैं अभी जाकर उसको विचलित कर देता हूँ। वापिस आकर इन्द्र से कहूँगा कि तुम्हारे द्वारा प्रशसित व्यक्ति की क्या दशा है।" वह भयकर रूप बनाकर जहाज के पास आया। सात खण्ड का जहाज था वह। सबसे ऊपर की मजिल पर अरणक बैठा था। नीचे के कुछ खण्डो मे मालताल भरा था और कुछ मे साथी व्यापारी भरे थे। यह जहाज इतना विशाल था कि अच्छा-खासा नगर-सा प्रतीत होता था। जहाज के पास खडे एक विचित्र एव भयानक व्यक्ति की ओर दृष्टि गई अरणक की। उस व्यक्ति ने अरणक से कहा, "अरणक ! तू ऐसा कह दे कि तेरा धर्म खोटा है, खोटा कहकर इसका त्याग भी कर दे। ऐसा यदि तू नही करेगा तो तेरा जहाज मैं अभी समुद्र मे गर्क कर दूगा।"

"अरे भाई, यह भी कोई बात है ? तुमको मेरा धर्म छुडाने से क्या मिल

जायेगा ? यदि तेरी आज्ञा को नही मानूँगा तो तू मेरे जहाज को समुद्र मे डुबो देगा। तेरा मेरे जहाज के साथ क्या सम्बन्ध है ? मेरे धर्म मे हस्तक्षेप करने वाला तू कौन होता है ? बडी विचित्र बात कर रहा है तू।"

अरणक ने दृढता से उत्तर दिया।

देवता ने क्रोध मे आकर कहा, "मैं ऐसी किसी भी बात को मानने के लिए तैयार नही हूँ। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' हम तो इस बात को मानने वाले दैत्य है। हम जैसा चाहे वैसा खेल मनुष्यो के साथ खेल सकते हैं। अपना मन बहलाने के लिए हम जो चाहे कर सकते हैं।"

"यहाँ कोई खेलने की वस्तु नही है। धर्म को खेल की वस्तु बताने वाले तेरे तो शब्दो को भी सुनना मैं पसन्द नही करता, धर्म के त्याग करने की बात तो बहुत दूर की है।"

अरणक ने नहले पर दहला मारते हुए देवता को उत्तर दिया।

"अरे तुम मेरे सामने इतना गर्व, इतना अभिमान करते हो और अपनी हेकडी दिखाते हो, मानते हो या नही ?" ऐसा कहते हुए उसने जहाज को ऊपर उठा लिया। भय दिखाते हुए बोला, "जल्दी कहो कि तुम अपने धर्म का त्याग करते हो, वरना हाथ को हिलाने की देर है कि तुम समुद्र-तल पर पहुँच जाओगे।"

"तुम्हे कौन कहता है कि तुम अपने हाथ को मत हिलाओ, तुम, जो जी चाहे, कर सकते हो, मैं किसी स्थिति मे भी धर्म का त्याग करने वाला नही हूँ।" अरणक ने कडाके से देव को उत्तर दिया।

उस समय अरणक के पास हजारो जहाज के यात्री बैठे हुए थे। वे भय के मारे काँपने लगे। सबको यह भय लग रहा था कि वह दैत्याकार प्राणी सबको समुद्र मे गर्क कर देगा। सब यात्री एक वाणी मे अरणक से कहने लगे, "सेठ साहब ! क्या बात कह रहे हो, आप नही कहते तो हम सब कह देते है।" सबने सम्मिलित स्वर मे कह दिया, "लो भाई, हम सब अपना धर्म छोड देते है, हमारे प्राणो को तुम खतरे मे मत डालो।"

"तुमसे पूछता ही कौन है ? तुम्हे बीच मे हस्तक्षेप करने को कहा किसने है ? तुम्हारी हस्ती ही क्या है ? मैं सार्थवाह से बात कर रहा हूँ। जहाज के सर्वेसर्वा तो ये है, सारा काम इन्ही के इशारे पर चलता है।"

देव ने कठोर शब्दो मे सब जहाज यात्रियो को धमकाते हुए कहा।

"मैं अपने धर्म का कदापि त्याग नही कर सकता और न ही इसे खोटा ही कह सकता हूँ। खोटा तो तब कहूँ यदि मैं इसको खोटा समझूँ।" अरणक ने

तुम्हारा धर्म खोटा है।" देव ने पुन सार्थवाह से आग्रह किया।

अरणक ने बडी दृढता से उत्तर देते हुए कहा, "यदि मैं अपने धर्म को खोटा समभता तो इसको धारण ही क्यो करता? आप मेरे मुख से धर्म के विरुद्ध शब्द त्रिकाल मे भी नही सुन सकते। मै जिस धर्म को धारण कर रहा हूँ, उस धर्म को सर्वश्रेष्ठ समभता हूँ। विश्व मे धर्म की समानता करने वाली कोई भी वस्तु नही है। धर्म तो आत्मा को परमात्मा बनाने वाला तत्त्व है। धर्म की आराधना करने वाले जो व्यक्ति है उनके शरीर का एक-एक कण, जो अपवित्र है वह, पवित्र बन जाता है। तुम धर्म के महत्त्व को समभते नही हो। धार्मिक लोगो का तो पसीना भी औषधि का काम करता है। उनके तो पसीने के स्पर्श से भी अनेक रोग नष्ट हो जाते है। ऐसे धर्म को तू खोटा कह रहा है। मुझे तो तेरी धारणा पर आश्चर्य हो रहा है।"

सेठ की बात को सुनकर हजारो जहाजयात्रियो ने पुन एकस्वर मे सेठ से कहा, "सेठ साहब! आप हमारी सबकी जान को खतरे मे क्यो डाल रहे हो? आप अपनी जिद् को छोड दो, अन्यथा हम सब मौत के ग्रास बन जायेंगे। कहने मात्र से तो धर्म को कोई धक्का लगने वाला नही है। आप अपने मन से धर्म को जैसा चाहो समभो। केवल आपकी जबान से हम सबके प्राण बच जायेंगे। और आप पाप के भागी नही बनेंगे, अन्यथा हमारी हत्या का पाप आपको लगेगा।"

अरणक ने सबको समभाते हुए कहा, "मैं पाप का भागी बनने वाला नही हूँ। पाप उसको लगता है जो किसी को मारता है। जो किसी को मारता नही है, उसको भला पाप कैसे लगेगा? यदि कोई अपनी बात को मनवाने के लिए बल का भी प्रयोग करेगा तो उसकी भी मै परवाह करने वाला नही हूँ। अच्छे कर्मो से डिगाने वालो की ससार मे कोई भी कमी नही है। यदि मनुष्य डिगाने वालो से भयग्रस्त होता रहेगा तब तो वह कभी भी धर्म का आराधन कर ही नही सकता। पाप का भागी तो हिंसा की भावना वाला होता है। जो मन से, वाणी से और कर्म से किसी का बुरा सोचता ही नही है, उसको किसी प्रकार का पाप स्पर्श नही कर सकता। यदि किसी के आयुष्य का अन्त ही आ जाये तो उसको तो कोई बचा भी नही सकता। यदि इस प्राणी के द्वारा ही तुम्हारी जीवन-लीला समाप्त होनी है, तो उसको मैं तो क्या कोई भी टाल नही सकता। मै तो टालने वाला नही हूँ, मेरी स्वय की भी मृत्यु तुम्हारे साथ ही हो जायेगी। यदि तुम्हारी और हमारी मृत्यु का योग नही है, तो यह क्या इसकी सात पीढी भी उठकर आ जाये तो हमारे मे से किसी का भी बाल बाँका नही कर सकती। तुम सब निश्चिन्त रहो और सर्वज्ञ पर भरोसा रखो, सब ठीक हो जायेगा। आपत्तिकाल मे प्रभु का चिन्तन, साहस और सहनशीलता रक्षा करते

हैं।"

इस प्रकार मौत के कगार पर खडा होने पर भी अरणक सार्थवाह के मन मे या आत्मप्रदेश मे धर्म के प्रति तनिक भी शिथिलता नही आयी। परिणामस्वरूप देवता अरणक के सामने घुटने टेक देता है, और जहाज को स्थिर कर देता है। अपने वास्तविक रूप को प्रकट करके देवता ने अरणक के चरणो मे प्रणाम किया और कहने लगा, "देवलोक मे इन्द्र महाराज आपकी वडी प्रशसा कर रहे थे, वास्तव मे जैसी उन्होने प्रशसा की थी आप उस प्रशसा के पात्र हैं। मुझे तो किंचित् भी विश्वास नही था कि एक मनुष्य जाति का प्राणी भयानक भय के आने पर भी अपने धर्म मे इतना अडिग रह सकता है जितने आप रहे हैं। मैंने तो आपकी परीक्षा ली थी और आप उस परीक्षा मे सही उतरे।"

देवता की बात को सुनकर भी अरणक के मन मे किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न नही हुआ। अभिमान सम्यक्त्वी को नही आया करता, कारण कि वह भलीभाति जानता है कि ससार के सभी पदार्थ नाशवान् है। परिवार, धन, शरीर, रूप सभी तो नष्ट होने वाले है, मात्र एक आत्मा अविनाशी है जो अपने शुद्धस्वरूप मे अहकारादि विकारो से सदा परे रहता है।

इस प्रकार सम्यक्त्वी व्यक्ति को जिसके मस्तिष्क मे सचाई और अच्छाई का सामजस्य रहता है किसी भी प्रकार की जीवन मे आच नही आती। 'सांच को आंच नही,' जो इस सत्यानुप्राणित सूत्र को अपने हृदय मे प्रतिष्ठित कर लेता है, उसकी यशोगाथा ससार मे सदा अमर रहती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) ११ अगस्त, १९७९

# होनहार भी हितकर होती

शाश्वत सुखो की उपलब्धि सम्यक्त्वी ही कर सकता है, मिथ्यात्वी नही। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, सम्यक्त्व का अर्थ है-सचाई और अच्छाई। यदि कोई यह कहे कि जहाँ सचाई होती है वहाँ तो अच्छाई होती ही है, फिर एक सचाई से ही काम चल जाता, साथ मे अच्छाई जोडने की क्या आवश्यकता थी। इसका उत्तर है कि एक से काम नही चल सकता। अकेली सचाई तो कभी-कभी व्यवहार में भी खरी नही उतरती। तभी तो नीतिकार कहते है

**"सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात्"**

अर्थात्—सत्य बोलो परन्तु प्रिय या मीठा सत्य बोलो। सुनने वाले को अच्छा लगे ऐसा ही बोलो। यह ऐकातिक युक्ति भी निर्दोष नही है। यदि इसको माना जायेगा, तो कपट चलेगा, धोखा चलेगा ससार मे। ससार को अच्छा क्या लगता है ? हमारे गुरु महाराज फरमाया करते थे

**"साँच मिरचाँ कूड गूड,<br>पइसो परमेसर लुगाई गुर।"**

ससार मे चार चीजें चलती है। सत्य तो सुनने वाले को मिरच के समान तीखा लगता है। सत्य बोलने से सुनने वाले नाराज हो जाते है। मारवाडी भाषा में कहावत है

**"साच केवे जणा माँ ही माथा मे देवे"**

कूड गुड के समान मीठा लगता है। कूड शब्द का अर्थ समझने योग्य है। सामान्य बोलचाल की भाषा में कूड झूठ को कहते है किन्तु यह उसका वास्तविक अर्थ नही है। कूड शब्द की निष्पत्ति सस्कृत के कूट शब्द से हुई है। कूट से ही कूटनीति शब्द भी बनता है। कूट शब्द का प्राकृत मे कूड बनता है। प्रतिक्रमण मे भी कूड शब्द आता है। "कूडा-तोल माप कीधा होय तो " 'कूट

तुला मान'। तुला—यानी तोलना, माप यानी मापना। तोलना वजन के हिसाव से होता है और मापना लम्बाई के हिसाब से। इस प्रकार कूट शब्द का अर्थ हुआ नकली, असली नही। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे,
अयतिए कूड-कहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइह जाणएसु॥

कोई व्यक्ति मुट्ठी वन्द करके रोते हुए वालक को फुसलाने के लिए कहता है, "लो तुम्हे कुछ दूँ।" मुट्ठी मे तो कुछ भी नही होता किन्तु वालक सोचता है कि मुट्ठी मे कुछ न कुछ वस्तु अवश्य है यदि मैं रोना वन्द कर दूगा तो मुझे मिल जायेगी। वच्चा व्यक्ति की बात मे आकर चुप हो जाता है। शास्त्रकार कहते है कि जिस प्रकार खाली मुट्ठी मे कुछ भी सार नही है, असार है, लोक मे कहावत भी प्रचलित है कि "वँधी मुट्ठी लाख की, खोल दी तो खाक की", और 'अयत्रित कूट कार्पापण' अर्थात् यत्र के अन्दर नही गया हुआ सिक्का। यत्र से अभिप्राय यहाँ टकसाल से है जहाँ सिक्को का निर्माण हुआ करता है। ऐसा सिक्का जो वजन मे और आकार मे टकसाल के सिक्के जैसा ही हो किन्तु टकसाल मे निर्मित न होते हुए भी वाजार मे चल रहा हो, वह नकली सिक्का कहलाता है। इस सिक्के को कूट—अर्थात् नकली सिक्का कहते है।

'राढामणी वेरुलियप्पगासे' राढामणी काच के टुकडे को कहते है। काच के टुकडे को मणि का रूप दे दिया गया हो, वैडूर्यमणि का सा ही उसका रग और प्रकाश हो, किन्तु

"अमहग्घए होइ हु जाणएसु"

पारखी के सामने वह वहुमूल्य नही वन सकता, उक्त वस्तुओ की वास्तविकता को जानने वालो के सामने उनका कोई मूल्य नही होता। इस प्रकार कूड शब्द का शास्त्र प्रतिपादित अर्थ होता है नकली, बनावटी। किसी की वनावटी तौर से प्रशसा की जाये तो वह प्रसन्न हो जाता है। उसको वह प्रशसा गुड के समान मीठी लगती है। इसीलिए कहा है 'साच मिरचाँ, कूड गुड'।

इसी प्रकार पैसे को भी लोग परमेश्वर समझते है। जैसे परमेश्वर की आराधना करते समय किसी का लिहाज नही रखा जाता, न तो वह अपने परिवार की परवाह करता है और न ही अपने शरीर की, इसी प्रकार धन की आराधना करने वाले लोग ससार की तो क्या अपने सगे से सगे सम्बन्धियो

की भी परवाह नही करते। घनार्जन करते समय अपने शरीर की भी सुध बुध उनको नही होती। वे यही सोचा करते हैं कि क्या रखा है सगे सम्बन्धियो में, पैसा पास होगा तो काम आयेगा, सगे-सम्बन्धी भी पैसे के यार है। िना घन के मनुष्य को कौन पूछता है। अपने जीवन को बडे से बडे खतरे में डालकर वे घनार्जन किया करते है। बस, पास मे पैसा होना चाहिए यही उनके जीवन का लक्ष्य होता है

"पास मे होगा नाणा,
तो परणीजेगा बीद काणा"
"पास होवेगा रोकडा,
तो परणीज जावेगा डोकरा"
"नहीं तो मुंह देखता रेवेला छोकरा"

और भी

"रूपचन्द जी होवे पल्ले,
चारो दिशा मे उणरी चल्ले"
"कने होवे चन्दगी, तो लोग बजावे बदगी"

इन लोकोक्तियो मे पैसे का कितना महत्त्व प्रकट किया गया है, आप स्वय विचार सकते है। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि पैसे को भी लोग परमेश्वर मानते है। चार बातो में से तीन की रूपरेखा तो आपके सामने प्रस्तुत कर दी गयी। अब चौथी बात है 'लुगाई गुर।' हम तो यह सोचा करते हैं कि आप हमारे चेले है, हम है आपके गुरु, किन्तु वास्तव मे तो आपके गुरु आपकी लुगाइयाँ है। हम कोई आदेश दे तो, "बाप जी, कल परसो करेंगे" और घर की गुरुणी आज्ञा दे दे तो काम शाम से पहले ही आपको करना पडता है, न करो तो शाम की रोटी नसीब होने की सम्भावना नही रहती।

हाँ, तो हमारी तो सम्यक्त्व की व्याख्या चल रही थी। हम बता रहे थे कि सचाई और अच्छाई का सामजस्य ही सम्यक्त्व है। कोई भी सचाई जिसमें अच्छाई का अभाव है सम्यक्त्व की प्रतीक नही बन सकती। कोई अच्छाई जिसमें सचाई का अभाव है सम्यक्त्व नही बन सकती। यदि हम यह धारणा बना लें कि हमे तो सबको प्रसन्न रखना है, किसी का भी दिल नही दुखाना है तब तो हमें प्रसन्न रखने के लिए झूठी प्रशसा करनी पडेगी। उस प्रशसा मे अच्छाई तो है परन्तु सचाई का अभाव है, इसलिए वहाँ सम्यक्त्व नही रह सकता। सम्यक्त्व के लिए तो जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है, सचाई और अच्छाई दोनो अपेक्षित है। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि जिन व्यक्तियो की भावना सच्ची है,

ससार की सभी वस्तुओ का जिन को वास्तविक ज्ञान हो गया है और ससार की वास्तविकता को जिन्होने जान लिया है, वे कुछ भी काम करेंगे सब अच्छे ही होगे ।'

एक निश्चित सिद्धान्त की धारणा जब मनुष्य बना लेता है कि जो होता है सब अच्छे के लिए ही होता है, तो जीवन मे पश्चात्ताप का पात्र नही बनता । नि सन्देह यह सिद्धान्त बडा कठिन है, इसको जीवन मे सरलता से उतारा नही जा सकता किन्तु है यह उपादेय सिद्धान्त । एक प्रसग स्मरण हो आया है इस पर । एक राजा और उसका मन्त्री अपनी सेना के साथ कही जा रहे थे । इन दोनो के पास अवली बाग के घोडे थे । ज्यो खीचो त्यो दूर ही दूर निकल जाते थे । दोनो सेना से पिछड कर जगल मे अकेले रह गये । किसी शिकारी ने आहट पाकर कि कोई जगली पशु होगा, तीर चला दिया उन पर । मन्त्री बच गया और राजा की अगुली कट गई । राजा पीडा से कराहने लगा तो मन्त्री ने कहा, "राजन् ! आप इतना दु खी क्यो हो रहे हैं ? जो होता है सब अच्छा ही होता है ।" राजा को मन्त्री की बात सुनकर बडा क्रोध आया और उसने कहा, "तुम कितनी नीच प्रकृति के प्राणी हो, मैं दु ख से व्याकुल हो रहा हूँ और तुम मेरे दु ख का अनुमोदन कर रहे हो । मुझे तुम्हारे जैसे मन्त्री की आवश्यकता नही है, चले जाओ यहाँ से ! मुझे पुन मुह नही दिखाना ।" मन्त्री चला गया । अब राजा सवथा अकेला रह गया । इधर-उधर भटकने लगा, कौन मार्ग बताने वाला था और कौन सुध-बुध लेने वाला था ! अचानक ही कुछ लोगो के गिरोह से शब्द सुनाई दिये राजा को 'रुको- रुको ।' इन लोगो ने राजा को आकर पकड लिया और बडे प्रसन्न हुए मोटे-ताजे-सुदर-सुडौल राजा के शरीर को देखकर । सबने एक स्वर मे कहा, "बहुत अच्छा रहेगा यह बलिदान के लिए ।" देव पर बलि चढाने के लिए उसको मन्दिर मे ले गये । बलिदान की विधि के अनुसार तो जिन पुरुषो को बलि चढाया जाता है वह सर्वांग-पूर्ण होना चाहिए । उन्होने राजा को नगा करके उसके सारे अगो को देखा तो अगुली कटी पाई । पुजारी ने कहा, "इस नर की बलि नही चढाई जा सकती, यह तो खडित-शरीर है, इसकी एक अगुली कटी हुई है ।" राजा को मुक्त कर दिया गया । अब राजा को मन्त्री पर किये गये अपने क्रोध पर बडा ही पश्चात्ताप होने लगा । वह सोचने लगा, "मेरा सुयोग्य मन्त्री ठीक ही तो कहता था कि जो कुछ होता है सब अच्छे के लिए ही होता है । यदि मेरी अगुली न कटी होती तो मैं आज बलि चढ जाता, अकाल मृत्यु से अपने प्राण खो बैठता । अब मुझे अपने मन्त्री की तलाश करनी चाहिए ।" वह जगल मे मन्त्री की खोज मे निकला और अल्प समय मे ही उसने मन्त्री को खोज डाला । मन्त्री की बुद्धि की सराहना की और उससे क्षमायाचना की । मन्त्री ने कहा, "जो

कुछ होता है सब अच्छा ही होता है। यदि आप मुझ पर क्रोध करके मुझे न निकालते तो बलि देने वालो के हाथो से आप तो बच जाते किन्तु मैं उनकी लपेट मे आ जाता। मैं तो सर्वांगपूर्ण हूँ इसलिए मेरी बलि चढ जाती।" मत्री की बात सुनकर राजा को अकल आ गई और उस दिन से वह मत्री के सिद्धात "जो होता है सब अच्छे के लिए ही होता है" का कायल हो गया।

इस प्रसग पर कोई व्यक्ति यह शका कर सकता है कि 'जो कुछ होता है वह अच्छे के लिए होता है' इस सिद्धान्त को ध्यान मे रखते हुए "अच्छा काम जो कुछ होता है वह तो अच्छे के लिए होता है किन्तु क्या जो बुरा काम होता है वह भी अच्छे के लिए होता है ?" इसका उत्तर यही है कि जो कुछ अच्छा या बुरा होता है सब अच्छा ही होता है। बुरा जो था वह भी होनहार ही तो था। जो नही होने वाला होता है वह तो कभी होता ही नही। बुरा होने वाला काम यदि तुम्हारी इच्छा के अनुसार और विलम्ब से होता तो क्या अन्तर पडने वाला था ? इस बात की क्या गारटी है कि उस समय उस बुरे काम या परिणाम को सहने के लिए तुम्हारे पास कोई असाधारण प्रकार की सहनशक्ति आ जाती। जो सहनशीलता हमारे पास इस समय है वह वैसी की वैसी सदा बनी रहेगी यह भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। हमने किसी से ऋण ले रखा है। वह ब्याज समेत अपनी रकम मांगने के लिए हमारे पास आये तो अपनी प्रतिष्ठा की सुरक्षा के लिए चुका देना चाहिए। अब सम्पन्नावस्था है, सरलता से चुकाई जा सकती है, भविष्य की क्या गारटी है कि ऐसे के ऐसे धनवान बने रहेगे। हम यदि यह सोचने लगें कि अब चुका देंगे तो हमारे खजाने मे पूंजी की कमी आ जायेगी तो यह बात बराबर नही। इस प्रकार सोचना सर्वथा सारहीन है। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि जो कष्ट, विपत्ति या दुख शीघ्र ही उदय मे आने वाले है, वह तो बहुत ही अच्छी बात है। अभी यदि वे उदय मे आ जाते हे तो उन्हे समभाव से भोगने की हमारे पास सहनशक्ति है और यह समझ भी है कि जो कर्म हमने बांध रखे है उनको तो हमे ही भोगना है और किसी को नही इसलिए उनका क्षय जितना जल्दी हो जाये उतना ही अच्छा है। इस प्रकार समभाव से उन कर्मो को भोगने के लिए हमारे पास वर्तमानकाल मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो है। शास्त्रकारो ने इन तीनो को रत्नत्रय की सज्ञा दी है

"रत्नत्रयाराधका"

इन तीनो रत्नो की आराधना करने वालो के पास ही ये तीन रत्न होते है

"अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता"

यह अर्हन्तो की स्तुति है।

"सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता ।"

यह सिद्धो की स्तुति है।

"आचार्या जिन शासनोन्नतिकरा पूज्या"

यह आचार्यो की स्तुति है।

"उपाध्यायका श्रीसिद्धान्त-सुपाठका"

यह उपाध्यायो का गुणगान है।

"मुनिवरा रत्नत्रयाराधका"

यह साधुओ की प्रशस्ति है।

रत्नत्रय की आराधना करने वाले मुनि होते है। ससार के लोग तो ककर, पत्थर तथा पृथ्वीकायिक जीवो को ही रत्न कहकर पुकारा करते है। चौदह रत्न, नवरत्न, चौरासी रत्न—और भी न जाने कितने प्रकार के रत्न लोक मे माने जाते है। लोग अपने बच्चो को भी प्यार से लाल या रत्न कहते है। लोकभाषा मे यह भी कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति के साथ भाणा(भोजन का) व्यवहार तो है किन्तु रत्ना व्यवहार (बेटे बेटी का व्यवहार) नही है। यहाँ रत्नो का अर्थ बेटे बेटियाँ है। ये सच्चे रत्न नही है, सच्चे रत्न तो ज्ञानी पुरुषो के अनुसार 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र' ही है। कोई व्यक्ति यदि यह शका करे कि ससार के बहुमूल्य हीरो या रत्नो को तो मुनिमहाराज ने नगण्य बता दिया और अपने रत्नो को बहुमूल्य बता दिया, यह बात कहाँ तक ठीक है ? इसका उत्तर यह है कि आप जिसको रत्न समझते है, उसका नाम ले लीजिये। किसी भी हीरे को ले लो, चिन्तामणि रत्न को ले लो, ससार का बहुमूल्य हीरा कोहिनूर है, उसको भी लिया जा सकता है। थोडी देर के लिए कल्पना कीजिये कि कोहिनूर हीरा मार्ग मे पडा हुआ है। अनेक यात्री वहाँ से निकल जाते है, कई एक तो पैरो मे कुचलते हुए भी चले जाते है, सब अज्ञानी है उस हीरे के महत्त्व के विषय मे, कोई उसकी कीमत नही जानता। कोई पारखी वहाँ से गुजरा, उसने समझ लिया उसकी महार्घता को, उठा लिया और अच्छे स्थान पर सभालकर रख दिया। अब आप विचार कीजिये कि पारखी ने उसकी श्रेष्ठता को जिससे जाना वह ज्ञान ही तो है। यदि उसे ज्ञान न होता तो वह उसकी कदर कैसे करता ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि महत्त्व वस्तु का नही है, महत्व तो ज्ञान का है। यदि वस्तु का महत्त्व होता

तो अज्ञानियो द्वारा कोहिनूर हीरे की उपेक्षा क्यो होती ? हीरे के मूल्य को बढाने वाला तो ज्ञान ही हुआ। तो सिद्ध यह हुआ कि कोहिनूर हीरा रत्न नही हैं, रत्न तो वास्तव में ज्ञान है। हमारा ज्ञान ही वास्तव मे कोहिनूर हीरा है। वही सच्चा रत्न है। इस प्रकार ससार के रत्न, रत्न नही है, ये रत्न तो गुम हो सकते है, चोरी हो सकते हैं और लूटे जा सकते है किन्तु वास्तविक ज्ञान-रत्न को उक्त किसी भी प्रकार का भय नही है। इसके अतिरिक्त ज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके आधार पर हम सारे ससार को तोल सकते है और ससार के सब पदार्थों की वास्तविकता को समझ सकते है।

कोहिनूर उठाने वाले पारखी ने उस रत्न को उठा तो लिया कीमती जानकर किन्तु यदि उसके मन मे अज्ञानवश सन्देह उत्पन्न हो जाये कि "पता नही कि वह सच्चा रत्न भी है या नही, कही नकली ही न हो और मैंने इसे असली समझ लिया हो!" ऐसी स्थिति मे वह उसको फेक भी सकता है। वह रत्न उसके पास तभी सुरक्षित रहेगा यदि उसके मन मे कोहिनूर की महार्घता पर पूर्ण विश्वास होगा, पूर्ण श्रद्धा होगी। इसी का नाम है दर्शन। जिस दृष्टिकोण से पदार्थ को देखना चाहिए वह दृष्टिकोण यदि स्थिर रूप मे बना रहे, कोई उसे विचलित न कर सके तभी वही दृढ श्रद्धा कहलाती है। इसी श्रद्धा का धनी प्राप्त हुए रत्न की रक्षा कर सकता है। वस्तु की प्राप्ति तो हो गई किन्तु उसकी सुरक्षा तो दर्शन से ही सभव है। विश्वास, प्रतीति और भरोसा उसके लिए अपेक्षित है। वस्तु की प्राप्ति और चीज है और उसकी सुरक्षा उससे भिन्न वस्तु है। रत्न के पारखी को रत्न का पूरा ज्ञान भी हो, रत्न की बहुमूल्यता पर भी पूर्ण विश्वास हो किन्तु यदि वह उस रत्न का उपयोग नही करता, शरीर पर उसको धारण नही करता और जो उसका उपयोग हो सकता है वह नही करता तो उस रत्न से उसको क्या लाभ ? ज्ञान और दर्शन का लाभ तो तभी प्राप्त होगा जब उनको जीवन मे उतारा जायेगा। यह जीवन मे उतारना ही चारित्र कहलाता है। तो हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि ससार के बाकी सब रत्न झूठे हैं। सच्चे रत्न तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र हैं। इस रत्नत्रयी की प्राप्ति से जीव की जन्मजन्मान्तर की दरिद्रता समाप्त हो जाती है।

ये तीनो रत्न कई बार आकर चले भी जाते हैं इसलिए सम्यग् दृष्टि से विचार करते हुए जो कर्म, परीषह, उपसर्ग या अन्य कोई कष्ट तुरन्त आ जाता है तो उसे भोगकर क्षय कर देना चाहिए—यही बुद्धिमत्ता है। यह कर्म भोग भी एक प्रकार का आत्मा पर कर्जा ही है जिसके चुकाने मे ही लाभ भी है और शान्ति भी। साधुजन तो अशुभ कर्मो को उदय मे ला लाकर समभाव से भोगा करते है। उदीरणा शब्द इसी स्थिति के लिए प्रयोग मे लाया जाता

है। वे अन्त के परमानन्द को आदि के उपसर्गो से वेहतर समझा करते है। सामान्य लौकिक जीवन मे भी लोग बुढापे मे सुख चाहते है। युवावस्था मे शान्ति और सहनशीलता के कारण वे बडे से बडे दु ख का सामना करने मे समर्थ होते है, इसलिए दु ख उसी समय भोगना पसन्द करते है। आदि के दु ख से अन्त का सुख अच्छा होता है। दु ख का पहले आना ही अच्छा होता है और सुख का अन्त मे आना श्रेयस्कर होता है। ज्ञानीपुरुषो का यह कथन कि 'जो कुछ अपने-आप होता है वह शतप्रतिशत अच्छा होता है" सत्य है। जो व्यक्ति इस सत्य का पालन करता हुआ समभाव से रहता है उसको ऐहिक और पारलौकिक सुखो की प्राप्ति होती है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १२ अगस्त, १९७९

३४

# परतंत्रता ही बंधन है

शाश्वत सुखो की प्राप्ति करना जीव के लिए कोई सरल काम नही है। जब ससार के क्षणिक सुख भी बडी कठिनाई से मिल पाते है तो फिर शाश्वत सुखो की तो बात ही क्या है ? ससार के सुखो को प्राप्त करने के लिए भी जीव को भगीरथ प्रयत्न करना पडता है यद्यपि उनकी प्राप्ति कर्मों के अधीन होती है। शुभ कर्मो का उदय होने से ही सुखो की प्राप्ति होती है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि क्या शुभकर्मो का उदय जीव के अपने हाथ की बात है ? शुभ कर्म तो वही उदय मे आयेंगे जो पूर्व मे बान्धे होगे, जो बन्धा हुआ नही है वह उदय मे भी नही आता।

कर्म बन्धने के पश्चात् आत्मा की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। जो व्यक्ति चोरी नही करता वह स्वतन्त्र है, वह चाहे कही भी सोये, बैठे, उठे— उसको किसी भी प्रकार का भय नही होता। जब उसने चोरी कर ली तो उसकी दशा बदल जाती है। ठीक है, उसने चोरी अन्धकार मे की जब कि उसको कोई देख नही रहा था किन्तु प्रात काल जब लोगो को पता चलता है चोरी का तब चोर की निन्दा होती है। चाहे वह चोरी करके कही भी देश-परदेश मे चला जाये, वेश बदल ले, कुछ भी कर ले किन्तु खोज करने वाले तो उसको खोज ही निकालते है। पैरो के निशानो से, हाथो की अगुलियो के निशानो से उसको खोज निकाला जाता है। देर हो सकती है खोजियो को खोज निकालने मे। कई-कई चोर तो बीस-बीस वष तक पकड मे नही आते। ठीक है, रात्रि के अन्धकार मे चोर को कोई देख नही सकता किन्तु चोर स्वय तो अपने-आपको देखता है। जब तक चोर ने चोरी नही की थी या दूसरे शब्दो मे जब तक वह चोर नही था तब तक वह स्वतन्त्र था, निर्भीक था इसलिए जहाँ चाहे वहाँ आ जा सकता था, उठ बैठ सकता था किन्तु अब चोरी करने के पश्चात् उसकी सारी स्वतन्त्र क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती है। वह जहाँ भी आता है, जाता है डरता रहता है, सदेह करता रहता है कि कही उसके पीछे कोई पुलिस का आदमी या गुप्तचर न लगा हो। चोरी के पाप के कारण

उसके चेहरे पर शका, भय और परेशानी के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते है। उसका पीछा करने वाले पुलिस के लोग तुरन्त समझ जाते है कि यह कोई चोर है, अपराधी है अथवा खूनी है। वह पकडा जाता है। हमारा यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि जीव या आत्मा जब तक चोरी के कर्म से या पाप से मुक्त था तब तक स्वतन्त्र था और चोरी के पापकर्म के पश्चात् वह अपने ही कर्म मे बन्धकर परतन्त्र हो गया। कर्म मे बन्धने के पश्चात् आत्मा की ऐसी दशा हो जाती है कि वह किंकर्तव्यविमूढ बन जाता है। इस किंकर्तव्यविमूढता का कारण होता है उसकी परतन्त्रता। वह जिसके तन्त्र मे होता है उसी के अनुरूप उसे ढलना पडता है। जैसे कोई पशु डोरी से बन्धा हो, उसका स्वामी डोरी पकडकर जिधर भी उसको ले जाना चाहे ले जाता है, पशु का कोई वश नही चलता। पशु की जिधर उसे ले जाया जा रहा है उधर न जाने की इच्छा भी हो तो भी उसकी इच्छा का कोई महत्त्व नही होता। वह पराधीन जो ठहरा। इसी प्रकार जो जीव कर्मो से बन्धा हुआ है वह परतन्त्र होता है। यदि उसने अशुभकर्म बान्ध रखे है तो शुभकर्मजन्य सासारिक सुख उसको कैसे प्राप्त हो सकते है? अशुभ कर्मो का जब क्षय होगा या वे कमजोर पड जायेंगे और शुभ कर्मों का जब उदय आयेगा तभी कही सुखो की प्राप्ति हो सकेगी। आत्मस्वतन्त्रता को खोने के बाद, कर्मों के बन्धनो से आत्मा को क्षणिक सुख मिला करते है। कितनी विडबना है, आत्मा को अपने द्वारा किये गये कर्मो का फल भोगने मे भी स्वतन्त्रता नही है। आत्मा ने शुभकर्म किये, सुकृत किये, पुण्योपार्जन किया—तब कही जाकर वह सासारिक सुखो को भोगने का अधिकारी बना, वे सुख तो उसे मिलने ही चाहिए परन्तु पूर्व मे बान्धे हुए अशुभकर्मो का उदय जब तक समाप्त नही होता, जब तक उसका भोग चालू है तब तक उसका पूर्वार्जित शुभ कर्मजन्य सुख आत्मा को प्राप्त नही हो सकता। यह विडबना नही तो क्या है कि स्वय के अर्जित कर्मो का फल भोगने मे भी जीव स्वतन्त्र नही है। यह सब होते हुए भी सासारिक सुख भोगने की जीव की लालसा निरन्तर बनी रहती है। अशुभ कर्मो के परिणाम दु ख को कोई भी भोगना नही चाहता और पुण्यकर्म किये बिना ही फल सुख भोगने की लालसा रखता है। धर्माराधन के बिना ही सुख चाहता है और पाप करके भी उसके परिणाम-दु ख को भोगना नही चाहता। अपनी ही लापरवाही से यदि कोई रोग हो जाता है, तो औषधि सेवन करके उसे बीच में ही दबा देना चाहता है। महापराध करके, वकीलो को और जिलाधिकारियो को धन देकर, रिश्वत देकर न्यायालय के दण्ड से बचना चाहता है। जाने अनजाने मे यदि कोई अच्छा काम हो जाये तो उसके महान् फल की अपेक्षा रखता है। तभी तो किसी कवि ने कहा है

"ऐरण री चोरी करे, करे सुई को दान।
ऊँचा चढने देखियो, आवे अमर विमान ।।"

अर्थात्—

मनुष्य 'ऐरण' (लुहार के उस भारी लोहपिण्ड को कहते है जिस पर कूट-काट कर वह लोहे के औजार बनाया करता है) की तो चोरी करता है और दान देना हो तो सूई का देता है। इस प्रकार अधिक से अधिक लेकर और कम से कम देकर वह ऊँचे चढकर उसे लेने के लिये आने वाले अमरलोक के विमान की प्रतीक्षा किया करता है।

सराश यह कि वह साधारण-सा पुण्य कर्म करके अधिकतम रूप मे लाभान्वित होना चाहता है। ऐसा करके वह अपने साथ या अपनी आत्मा के साथ धोखा करता है। जो लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-धर्ता मानते हैं और कहते है कि उसकी मर्जी के बिना पेड का पत्ता भी नही हिल सकता है वे लोग ऐसा कहते है तो वह स्पष्ट ईश्वर को धोखा देना है। आत्मा को तो वे लोग कर्ता मानते नही, ऐसी स्थिति मे अल्प करके महान् की कामना करना ईश्वर को धोखा देना ही हुआ। ज्ञानवान पुरुषो का कथन है कि व्यक्ति सोचा करता है, "मैंने आराम से दिन बिताने के लिये सुकृत किया, पुण्य किया और अनेक शुभकर्म किये जिनका फल भोगने मे मैं स्वतत्र नही हूँ। पहले के अशुभकर्म जो मैंने बान्ध रखे है, वे अब तक मेरा पिण्ड नही छोड रहे हैं। यह तो एक प्रकार की विडबना है।"

मनुष्य जब तक कुछ नही करता तब तक स्वतत्र रहता है और कुछ कर्म कर लेने के पश्चात् वह परतत्र बन जाता है। उसे फिर शुभाशुभ कर्मानुसार फल भोगने के लिए विवश होना ही पडता है। अच्छा काम करने मे कठिनाई होती है और बुरा काम बडी सरलता से हो जाता है। इस भाव की किसी कवि ने बडे सुन्दर शब्दो मे अभिव्यक्ति की है

"भली करत लागे बिलब, बिलब न बुरे विचार।
भवन बनावत दिन लगे, ढहत न लागे बार।।"

कई बुरे कामो मे को करने की भी आवश्यकता नही पडती, वे तो अपने-आप ही हो जाते है। अच्छे कामो में अनेक विघ्न आकर पड जाते है

'श्रेयासि बहुविघ्नानि"

बुरे कामो प्रवृत्ति के समय कोई विघ्न उपस्थित नही होता। भवन बनाया जाता है तो बडा समय लगता है, बडा परिश्रम करना पडता है, बहुत धन भी खर्च होता है। जब वह गिरने लगता है तो कुछ भी समय नही लगता और

न ही वह कोई परिश्रम ही माँगता है।

कोई व्यक्ति अपने मन मे यह शका कर सकता है कि 'मैं स्वय के पुण्यकर्मों, सुकृत एव शुभ कर्मों के फल को अपनी इच्छानुसार क्यो नही भोग सकता? मेरे तीव्र शुभ कर्मों का फल भी मुझे प्राप्त नही हो रहा है। इसके विपरीत पहले के बन्धे हुए पापकर्म मेरे सामने विघ्नो की दीवार बनकर खडे हैं। यह तो बडी भयानक और बुरी है कर्मो की परतन्त्रता। ऐसे कर्मों से तो बहुत बडी हानि है। यह तो कर्मों की गुलामी हुई। मैं इन कर्मो के बन्धन को तोड-कर ही दम लूगा।' ऐसा विचार करके वह कर्मग्रन्थियो को तोडने का प्रयत्न करता है। वह बन्धन तोडता है अथवा खोलता है—यह भी एक विचार-णीय बात है। बन्धन तोडने मे और बन्धन खोलने में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है। यदि बन्धनो को खोलने का प्रयत्न किया जाये और प्रयत्न के परिणामस्वरूप एक ओर तो बन्धन खुलते जायें और दूसरी ओर बन्धते जायें, जैसे अरहट की पट्टी की या टीन की टिडो की माला का उपक्रम होता है, तब तो इस खुलने का और बन्धन का क्रम कभी भी समाप्त नही हो सकता। दायाँ हाथ खुला तो बायाँ बँध गया, बायाँ खुला तो दायाँ बँध गया। तब तो "उतर भीका म्हारी बारी" वाली कहावत चरितार्थ होने लगेगी। इसीलिए ज्ञानी पुरुषो ने फरमाया है कि बन्धनो को खोलना नही किन्तु बन्धनो को तो तोड देना चाहिए। हम बन्धनो को खोलते तो तब हैं जब हमारे मन मे यह विचार आता है कि ये बन्धन दूसरो के भी काम आयेंगे। दूसरे के काम आने की अपेक्षा से ही तो हम बन्धन खोलकर और समेटकर एक ओर रख दिया करते है। यदि हमारे मन मे यह विचार होगा कि ये बन्धन किसी काम के नही तब उनको सभालकर नहीं रखेंगे किन्तु तोड डालेंगे। एक बार टूटने के पश्चात् पुन वे हमारे से नही बन्ध सकेंगे। ये बन्धन तो परतन्त्रता की बेडियाँ है, इनको सही-सलामत नही रखना चाहिये, इनको तो तोड ही डालना चाहिये। खोलने का कोई लाभ नही। ऐसे बन्धनो को जो स्वय के लिए शुभकर्मो के फल को भी हमे भोगने नही देते, अधिकार की वस्तु की प्राप्ति मे भी विघ्न डालते है, तोडना ही श्रेयस्कर है।

स्वतन्त्र आत्मा ही वास्तविक अर्थ मे सच्चे सुख की प्राप्ति कर सकता है। परतन्त्र व्यक्ति तो दुखी ही दुखी रहता है। सुख की नींद सोना और जागना भी उसके लिये तो हराम होता है। स्वतन्त्र व्यक्ति अपनी इच्छा और अनुकुलता के अनुसार काम करता है, उस पर किसी का बन्धन नहीं होता किन्तु परतन्त्रता की दशा मे इच्छा हो चाहे न हो, अनुकूलता हो चाहे न हो,बाध्य होकर दूसरे के दबाव से काम करना ही पडता है। परतन्त्रता भी दो प्रकार की है एक तो दूसरो की और एक स्वय की, स्वय पर आरोपित। आज आपकी क्या दशा है? आपने आगे होकर

गुलामी मोल ले रखी है। आपने जान-बूझकर अपने को अपनी तृष्णा के, लालच के और लोभ के अधीन कर रखा है। आपको कोई नही कहता कि आप कमाओ परन्तु सब यह बात अवश्य कहते है कि पाप की कमाई मत करो, छल-कपट की कमाई मत करो, काले बाजार का धन्धा मत करो। सरकार भी आपको ऐसा करने से मना करती है, घरो मे छापे मारती है, तस्करी का माल निकलता है तो धर पकड होती है, न्यायलयो मे केस चलते है, दण्ड भी मिलता है किन्तु लालच और लोभ की प्रवृत्ति वैसे ही अजस्र रूप मे चल रही है। आपके गुरु भी आपको पाप की कमाई न करने का उपदेश देते है किन्तु धारण कोई नही करता, एक कान से सुना दूसरे से निकाल दिया। यह सब क्यो है, इसलिये कि आप वशीभूत हैं लोभ और लालच के। भले ही आप कितनी ही कमाई कर लो। खाओगे तो रोटी ही, रोटी भी उतनी ही जितनी शक्य हो। फिर क्यो पापकर्म की कमाई से कर्म बांधते हो ?

इस पर एक प्रसग याद आ गया है। कही कोई बारात गयी। बेटे के बाप ने बेटी के बाप को समाचार पहुँचाये कि, "हमारी बारात और हमारा घर दोनो बडे स्टैण्डर्ड के है। हमे सन्देह है कि आप हमारा आदर-सत्कार ठीक से कर पायेंगे भी या नही।" अनेक प्रकार की अहकारपूर्ण बातें सन्देश मे कहलाकर भेजी। बेटी के बाप ने अहकार की भावना को समझ लिया। बारात आ गई। सब बारातियो की सुन्दर व्यवस्था कर दी गई। पुराने समय मे बारात बैल-गाडियो मे आया करती थी। बीद की गाडी के बैल बडे ही सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट थे। उनके बाँधने की भी अच्छी व्यवस्था कर दी। बीद का पिता सारी व्यवस्था का निरीक्षण करता-करता घूम रहा था। उसने देखा कि सब बारा-तियो के लिए गादी, तकिया, ओढना, गलीचा आदि की जहाँ जैसी आवश्यकता थी वे सब यथाव्यवस्थित थे। बीद को गाडी के बैलो के सामने चारे के स्थान पर मोहरो के भरे बर्तन रखे थे। बेटी का पिता भी अपने नये समधी के पीछे चल रहा था कि जहाँ कमी होगी पूरी कर दी जायेगी। बैलो के सामने मोहरो के भरे बर्तन देखकर बेटे के बाप ने पूछा, "यह क्या किया आपने! चारे के स्थान पर मोहरें क्यो रखी है ?" "मैने सोचा, चारा तो हमारे जैसो के सामान्य बैल चरा करते है, आपके बैल तो विशेष प्रकार के होगे इसलिए शायद चारा न खाते हो। आप और आपके बाराती भी सभवत अलौकिक प्रकार के ही होगे इसलिए आपके और सब बारातियो के थालो मे भी वस्तु-विशेष ही रखी जायेगी।" बेटे के बाप की अक्ल ठिकाने आ गई।

आखिर खाना तो अन्न ही है, मोहरें तो खानी नही। फिर अधिक सग्रह की भावना क्यो ? उतना ही कमाओ जिससे जीवन-निर्वाह आराम से हो जाये। ज्यादा हाय-हाय करने से क्या लाभ ? क्यो अपने जीवन को लोभ के अधीन

करते हो या दूसरे शब्दो मे क्यो अपनी स्वतन्त्रता खोकर परतन्त्र बनते हो? सादगी से रहना सीखो, शान्ति से रहना सीखो। आपकी सादगी के ऊपर सहस्रो, लाखो निम्नतर लोगो का जीवन निर्भर करता है। आपकी शान-शौकत से लाखो के पेट कटते है। केवल अपने लिये मत सोचो, औरो के लिए भी सोचो। तुम मानव हो मानवता को पहचानो। पृथ्वी की ओर देखकर चलो, आकाश की ओर मत देखो, ठोकर खा जाओगे। ससार के अन्य पदार्थो के समान तुम भी पार्थिव हो, पार्थिवता के अश की उपेक्षा मत करो। शास्त्रो ने, महर्षियो ने, गुरुओ ने बहुत समझाया, समझाते आ रहे है अनादिकाल से परन्तु कौन सुनने वाला है। जो सुनकर जीवन मे उतार लेते हैं वे परतन्त्रता के बन्धनो से मुक्त हो जाते है, जो उपेक्षा करते है गुरुओ के वचनो की वे दुख-सागर मे डूबे रहते हैं।

आज मनुष्य का जीवन मशीन बना हुआ है यद्यपि मशीन की अपेक्षा जीवन की वास्तविकता कही बेहतर है। हम घडी को चाबी दे देते है। घडी की मशीन चाबी के अधीन है, उसे तो चलना ही पडेगा, सारे पुर्जो को काम करना ही पडेगा। वे पराधीन जो ठहरे चाबी के। मनुष्य तो घडी से बेहतर है। घडी जड है, मनुष्य चेतन है। मनुष्य के पास इच्छाशक्ति है, समझदारी है किन्तु जडता की चाबी लगी होने के कारण, जड से श्रेष्ठतर होते हुए भी वह घडी की मशीन की तरह परतन्त्रता मे भटकता हुआ चला आ रहा है। वह रुकता नही, क्षण-भर के लिए भी विश्राम नही लेता और सोचता नही कि जीवन की लम्बी यात्रा के लिये अपने आत्मा के निमित्त भी कुछ पाथेय लेकर आगे बढू। यही सब देखकर ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि आत्मा की परतन्त्रता ही सबसे बडा बन्धन है। मुमुक्षु आत्मा चाहता है कि मै सब सासारिक बन्धनो को तोड डालूँ। वह यह बात भी भलीभाँति जानता है कि इन बन्धनो को तोडने के पश्चात् उसके सोना, चाँदी, हीरे, जवाहिरात, धन, मकानादि कुछ भी नही रहेगे। आत्मा की केवलमात्र सम्पत्ति आत्मा होगी। इस सासारिक सम्पत्ति का आत्मस्वरूप को समझने के पश्चात् उसे मूल्य दिखाई नही देगा। वह तो तब यही सोचेगा कि आत्मा की परतन्त्रता के जो कारण थे वह उनसे छुटकारा पा गया। इसका यह अर्थ कदापि नही समझना चाहिये कि स्वतन्त्रता की अवस्था मे पहुँचा हुआ आत्मा मुर्दे के समान हो जाता है। जैसे मुर्दा ससार के भार से मुक्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी मुक्त हो गया, ऐसी बात नही है। मुक्त आत्मा को तो सब बोध होता है, उसे ससार के सब पदार्थो का ज्ञान रहता है, परन्तु इस प्रकार के ज्ञान के सद्भाव मे भी वह अकिंचन होता है। ससार के पदार्थो के अभाव मे उसको दुख का अनुभव नही होता। वह अत्यन्त शान्त होता है। उसमे तो आनन्द की धारा अजस्र रूप मे

बहने लगती है। परतन्त्रता के मिटते ही अब स्वतन्त्रता उसका अक्षय धन बन गया है। अब तो उसके पास आनन्द का अक्षय भण्डार है। परन्तु इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि इस अवस्था तक वही व्यक्ति पहुँच सकता है जिसको 'स्व' के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो गया हो। सचाई और अच्छाई का जिसमे सामजस्य हो गया हो, दूसरे शब्दो मे जो सम्यक्त्व का धनी बन गया हो।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १३ अगस्त, १९७९

□
□□

३५

# आत्म-विकास की पद्धति

शाश्वत सुखो की प्राप्ति आत्मा को उच्चतम स्थान पर पहुँचने से होती है। ऊँचा स्थान दो अपेक्षाओ से होता है प्रथम क्षेत्र की अपेक्षा से होता है। क्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा का ऊँचा होना कोई भी महत्त्व नही रखता। स्थान की अपेक्षा से तो यदि कौआ भी मन्दिर के कलश के ऊपर जाकर बैठ जाये तो क्या उसको मन्दिर मे विराजमान प्रतिमा रूप भगवान् के समान आदर मिल सकता है ? ऊँचे बैठने मात्र से कुछ नही बनता। क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा ऊपर से ऊपर जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान है वहाँ पहुँच सकता है। यह कोई कल्पना मात्र नही है, वास्तव मे सामान्य आत्मा की भी वहाँ तक पहुँच है। आत्मा के सिद्ध क्षेत्र मे पहुँचने मात्र से कोई काम सिद्ध नही हो जाता। क्षेत्र की दृष्टि से जो आत्मा ऊँचे जाता है वह एकेन्द्रिय आत्मा जाता है। एकेन्द्रिय के अन्दर भी बादर नही किन्तु सूक्ष्म हो जाता है। सूक्ष्म पृथ्वी, सूक्ष्म अप्, सूक्ष्म तेजस्, सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म वनस्पति—ये पाँच सूक्ष्म स्थावर है। ये सारे के सारे लोक मे व्याप्त है। लोक का कोई भी भाग इनसे अछूता नही है। आपके और हमारे मध्य मे जो खाली जगह दिखाई देती है, यह कल्पनामात्र है। वास्तव मे खाली जगह कहाँ है ? सब ठसाठस भरी हुई है। जैसे काजल की कूँपली मे काजल ठसाठस भरा होता है। ऐसे ही समूचे लोक मे जीव ठसाठस भरे पडे है। चाहे वे सूक्ष्म रूप मे हो चाहे बादर रूप मे। यह जो कभी-कभी पदार्थो पर लीलन या फूलन आप देखा करते है वह बादर वनस्पतिकाय है। जो सूक्ष्म है, वह तो दृष्टिगोचर भी नही होती किन्तु सर्वत्र भरी पडी है।

इसी प्रकार इस बात को कौन सत्य मानेगा कि आपके और हमारे बीच मे जो अन्तराल है उसमे अग्नि है, किन्तु अग्नि की सत्ता सत्य है। यह जो समूचा लोक है उसके अमुक-अमुक स्थानो पर बादर अग्निकाय है। बादर अग्निकाय का यदि आपके और हमारे मध्य मे अभाव होता तो माचिस की तीली की रगड से यहाँ अग्नि कैसे पैदा हो जाती ? अग्नि ने स्थूल रूप धारण कर लिया तो हमने देख लिया किन्तु जब वह सूक्ष्म रूप मे थी तब हमे दिखाई नही देती

थी। दिखाई न देने का अर्थ यह कदापि नही था कि अग्नि का अभाव था। इस प्रकार जब बादर अग्निकाय है तो सूक्ष्म अग्निकाय सर्वत्र व्याप्त हो तो इसमे कोई आश्चय करने की बात नही है। इसीलिये ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि सूक्ष्म स्थावर सारे लोक मे व्याप्त है। इस सूक्ष्म स्थावर के रूप मे हमारी आत्मा लोक के ऊँचे से ऊँचे भाग मे जाकर रही हुई है। एकेन्द्रिय की सूक्ष्म अवस्था के रूप मे इसने पर्याप्त समय वहाँ बिताया है। अपनी अवस्था के अनुरूप इस आत्मा को वहाँ रहकर भी पुन नीचे आना पडा। सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेशो वाले क्षेत्र मे रहकर भी हमारी आत्मा को नीचे गिरना पडा। वहाँ रहकर भी यह मुक्त नही हो पाई। यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि आठ कर्मो को क्षय करने वाली मुक्तात्माओ के मध्य मे रहकर भी स्थावर नीचे क्यो आ गये ? तो इसका उत्तर है कि राजमहल के अन्दर सफाई करने वाले भी तो जाते है, नौकर-नौकरानियाँ, दास-दासियाँ सभी वही तो रहती है किन्तु राजा और रानियो के समान उनका अधिकाधिक जीवन थोडे ही होता है। वे तो केवल जी-हजूरी और परिचर्या के लिए होते है राज परिवार के सदस्यो की।

तो हमारा जो प्रसग चल रहा था वह यह था कि आत्मा क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्ध शिला तक भी चला गया, वहाँ पर्याप्त समय तक रहा भी किन्तु उसका कुछ भी उद्धार नही हुआ, उसे अन्त मे पुन नीचे ही आना पडा। नीचे इस लिये आना पडा कि वह मात्र क्षेत्र की अपेक्षा से ऊँचा गया था। वास्तव मे आत्मा का उद्धार तो तब सभव है जबकि वह गुणस्थानो की अपेक्षा से ऊँचा चढे। गुणस्थान की अपेक्षा से तो वह पहले गुणस्थान मे ही था। सूक्ष्म एकेन्द्रिय का गुणस्थान तो पहला ही होता है। इस प्रकार पहले गुणस्थान मे रहने वाला जीव नीचे से ऊपर तक भले ही कितनी बडी उडान क्यो न भर ले किन्तु उसका किसी भी प्रकार से विकास नही होता। स्थान की अपेक्षा से ऊपर जाना कोई भी महत्त्व नही रखता। शास्त्रकारो का कहना है कि आत्मिक उत्थान के लिए ऊपर चढना हो तो अवस्था की दृष्टि से चढना चाहिए। आत्मा जिस अवस्था मे हो, उससे ऊँचा चढे। केवल पहले गुणस्थान मे ही नीचे से ऊँचे चढने की अनेक अवस्थाएँ है। पहले गुणस्थान मे नीचे दर्जे का स्तर भी है और ऊँचे दर्जे का स्तर भी है। एक तो आत्मा पहले गुणस्थान के नीचे से नीचे स्तर पर था और अब पहले ही गुणस्थान के ऊपर से ऊपर स्तर की अवस्था मे आ गया तो इसको आत्मा की उन्नति समझना चाहिए। इस प्रकार आत्मा ज्यो-ज्यो आगे के गुणस्थानो मे चढता है उसका महत्त्व बढता जाता है।

मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान की मान्यता के अनुसार तो अच्छा बुरा प्रतीत होता है और बुरा अच्छा लगा करता है। अच्छा लगे चाहे बुरा लगे जो बात

कहने योग्य होती है उसे तो कहना ही पडता है। मिथ्या दृष्टि वाले व्यक्ति को यदि कोई आत्मोन्नति के लिये कहे तो वह बात अच्छी होती ह और अच्छे के लिये ही कही जाती हे। अच्छा व्यक्ति ही अच्छी बात कहा करता है। जैसे कि कोई अच्छा व्यक्ति किसी को कहे "ये जितने राग-रग ह, भोग-विलास ह, सब आत्मा के पतन के कारण ह। भविष्य म भी इनके दुष्परिणाम स्वरूप आपत्ति उठानी पड सकती है। इसलिये इनका त्याग करो।" यह त्याग और वैराग्य की बात आत्मा के लिए अच्छी ह। यदि सुनने वाला इस बात को मान लेता हे तो भविष्य मे उसका आत्मा दु ख से बच सकता ह। किन्तु सुनने वाला यदि मिथ्यादृष्टि हे तो वह इस बात को अच्छी नहीं मानता और कहने वाले पर द्वेप की बुद्धि रखता हे। वह तो अच्छी सम्मति देने वाले को अपने जीवन मे हस्तक्षेप करने वाला समझता है। वह यह भी सोचने लगता ह कि, "म ससार के कामकाज नि शक होकर कर रहा था, जीवन का आनन्द लूट रहा था। इस व्यक्ति ने भविष्य का भय दिखाकर मेरे मन पर ऐसा प्रभाव डाला है कि अब किसी काम को करने मे रुचि ही नही होती। किसी भी काम को करते समय मेरे मन मे हिचकिचाहट-सी होने लगती हे। सारा का सारा जीवन का आनद किरकिरा कर दिया है इस व्यक्ति ने।" इस प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुप अच्छे को बुरा समझा करता है। इसके विपरीत जो बुरा व्यक्ति हे, जो उसकी भावना के अनुसार बात करता है, उसकी हाँ मे हाँ मिलाता हे, वह उसको प्यारा लगता है। जो अच्छा है वह बुरा लगता हे और जो बुरा है वह उसे अच्छा लगता है—यह एक विपरीत या विरुद्ध मान्यता हो गई इसीलिये यह मिथ्यादृष्टि है। पहले गुणस्थान का नाम है मिथ्यात्व गुणस्थान।

पहले जो अच्छे के प्रति द्वेप था और अच्छे की बात सुनते ही खलती थी, वह द्वेप भाव इसमे मन्द पड जाता हे। बुरा तो उसको पहले भी अच्छा लगता था और अब भी अच्छा लगता है, अन्तर इतना आ गया हे कि अब उसको अच्छा भी अच्छा लगने लगा है। वह सोचता है, "यह बेचारा अपनी बात कहता है, इसके पास जो है वही तो कहेगा। जो कहता है, ठीक ही कहता है।" अच्छा और बुरा दोनो को वह अच्छा समझने लग गया है। अच्छे के प्रति अब उसमे थोडा राग भी उत्पन्न हो गया है। अच्छी बातो के प्रति अब उसके मन मे द्वेप की भावना नही रह गई हे। अच्छी बात को सुनकर अब वह चिढता भी नही है। वह यह भी सोचता हे कि यह व्यक्ति तो सभी को यही बात कहता है, कोई भी इसका बुरा नही मानता तो मै क्यो चिढू। इस प्रकार अच्छे और बुरे दोनो को अच्छा समझना 'मिश्र गुण स्थान' कहलाता हे। इस गुणस्थान के आने से उसकी अवस्था मे परिवतन आ गया है। पहले वह जितना समय बुरे के साथ बुरी प्रवृत्तियो मे व्यतीत करता

था अब वह कुछ समय अच्छे के साथ अच्छी प्रवृत्तियो मे भी विताने लगता है। अच्छी बातो को भी वह ध्यान से सुनता है। अच्छी बातो के प्रति भी अब उसके मन मे राग-भाव जागृत हो गया है। परिणामस्वरूप वह अच्छा व बुरा दोनो को अच्छा समझने लगा है। इससे उपलब्धि यह होती हे कि कुछ समय के पश्चात् वह चोथे गुणस्थान मे आ जाता है। अच्छी-अच्छी बातो को सुनते-सुनते उसको यह भान भी हो जाता हे कि वह आज तक जिन बातो को अच्छी समझता रहा हे, वे वास्तव मे अच्छी नही किन्तु बुरी थी, त्यागने योग्य थी। इस स्थिति मे वह सम्यक्त्वी बन जाता है।

अब वह अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा समझने लग गया हे। वह अब जानता है कि अमुक व्यक्ति आदर के योग्य हे और अमुक छोडने लायक है। अब यहाँ पर पहले वाला बुरो के प्रति राग भी नही है और अच्छो के प्रति द्वेप भी नही है। जो जैसा है उसको वैसा समझता है। सबप्रथम तो वह अच्छे व्यक्ति पर व अच्छाई पर तीव्र द्वेप करता था और बाद मे वह द्वेप राग के रूप मे परिणत हो गया और अब न तो राग की तीव्रता है और न ही द्वेप की। हम यह भी कह दे तो अतिशयोक्ति नही होगी कि अब उसमे राग और द्वेप दोनो नही है। क्योकि जो वस्तु जैसी है उसे वैसा समझना राग नही कहलाता। आदरणीय को आदरने योग्य समझना राग मे नही आता। राग तो अनुचित होता है और राग के अन्दर अज्ञानता का पुट रहता हे। सम्यक्त्व की अवस्था मे राग की मात्रा भी मन्द पड जाती है और द्वेप की मात्रा भी। यह विवरण प्रस्तुत किया गया चौथे गुणस्थान का।

तो सक्षेप मे तीन भग हुए। पहला तो—अच्छा है वह बुरा और बुरा है वह अच्छा—यह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का पहला भग है। दूसरा भग है—अच्छा भी अच्छा और बुरा भी अच्छा—यह तीसरे मिश्र गुणस्थान का दूसरा भग हे। तीसरा भग है चौथे सम्यग् दृष्टिगुणस्थान का जिसमे अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार आत्मा ने चौथे गुणस्थान तक अपना उत्थान किया। शरीर दृष्टि से शरीर वही है और स्थान की दृष्टि से भी स्थान वही है किन्तु स्तर की दृष्टि से आत्मा ने अपनी अवस्था का स्तर जरा ऊँचा बना लिया।

अब आगे चलकर वह आत्मा यदि अपने शुद्ध विचारो के अनुसार शुद्धि के लिए कुछ (देश) मूल तथा उत्तर गुणो को धारण करके अपने अनादिकाल के रमणभाव से विरमण कर लेता है तो वह पचम गुणस्थान पर चढ जाता है। इस प्रकार अभ्यास करता हुआ आगे जाकर सवमूल तथा उत्तरगुणो का धारक बन जाता है और छठा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से एक स्थान पर रहता हुआ अपने-आपको अवस्था की अथवा योग्यता की अपेक्षा से उत्तरोत्तर चढाता रहता है। अवस्था की अपेक्षा से उन्नति करने के चौदह

गुणस्थान है। इनमे से ग्यारह गुणस्थान तक वापिस नीचे गिरने की सभावना रहती है, इसलिये साधक को चाहिये कि वह अपने को प्रतिक्षण सावधान रखे। आत्मा की चरम उन्नतावस्था यद्यपि चौदहवे गुणस्थान के भी ऊपर है किन्तु वहाँ पर आत्मा साधक दशा मे न रहकर सिद्ध अवस्था मे शाश्वतरूप मे विराजमान हो जाता है। उस अवस्था को गुणस्थान के रूप मे नही बताया गया है। सिद्ध अवस्था तो आत्मा की चरम एव परम अवस्था है। सक्षेप मे, आत्मोन्नति का यही उपक्रम है।

अब यदि जीव चौथे सम्यक्त्व गुणस्थान मे आकर आगे बढने की उपेक्षा कर देता है तो वह उन्नति के विपरीत अवनति की ओर गिरने लगता है। कर्म के उदय के अनुसार कई तरह की बाते सुनते सुनते, उनके मन मे कई तरह की कल्पनाए उठने लगती है। वह बुरा, वह बुरा, वह बुरा—सब बुरा ही लगने लगता है। बुरो की बाते सुनते-सुनते वह सोचने लगता है कि "यदि ससार मे सब बुरे ही बुरे है तो फिर अच्छे तो गिनती के लोग होगे जिनका महत्त्व ही क्या है?" आखिर प्रभाव तो बहुमत का ही पडता है। कमजोर दिल वाले पर तो बहुमत का और जल्दी असर पड जाता है। बहुसख्यक बुरो के निरन्तर सम्पर्क से अब उसके अन्दर अच्छो के प्रति भी द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह पुन इस कारण मिश्रगुणस्थान मे आ जाता है। इस मिश्रगुणस्थान की स्थिति भी दो प्रकार की होती है—एक तो मिश्रगुणस्थान उन्नति के समय आता है। यह ध्यान रहे कि पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान को जाते समय जो मिश्रगुणस्थान आता है, उस समय वह सबको अच्छा समझने लगता है और परिणामस्वरूप अच्छे से लाभान्वित भी होता है। उसकी आत्मा का स्थान ऊँचा चढ जाता है। दूसरी मिश्रगुणस्थान की स्थिति तब आती है जब वह अवनति की ओर गतिशील होता है। चौथे गुणस्थान से पुन तीसरे मे आते समय मिश्रगुणस्थान की स्थिति बदल जाती है। वह बुरे को तो बुरा समझता ही था लेकिन अब अच्छे को भी बुरा समझने लगता है। यही नही, वह तो सबको ही बुरा समझने लगता है। इस प्रकार अब वह अच्छो से भी बचना चाहता है क्योकि उसकी दृष्टि मे अब वे भी बुरे बन जाते है। उसके बुरेपन के सस्कार क्योकि अनादिकाल से चले आ रहे थे इसलिये वह सोचता है कि वह जैसा पहले था वही अच्छा था। वह पुन मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे गिर जाता है। आत्मा रागभाव से तो उन्नति करता है किन्तु द्वेपभाव से नीचे गिर जाता है।

इस प्रकार आत्मा के उन्नति के और अवनति के स्थान, शास्त्रकारो ने जिस दृष्टि से वर्णित किये है उनको समझने की आवश्यकता है। तदनुसार आत्मा का स्थान सदा सँभालते रहने की जरूरत है। इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि हमारे विचार कब कैसे है, सम्यग्दृष्टि के है, मिथ्यादृष्टि के है या मिश्रदृष्टि

के है। रागभाव मे परिणति चल रही है या द्वेषभाव मे परिणमन हो रहा है। यह सारा का सारा विचार प्रतिक्षण करते रहना चाहिए। ऐसा तभी सभव है जब शास्त्रो का, थोकडो का और बोलचाल का मनुष्य को ज्ञान हो। इस ज्ञान की सहायता से वह आत्म की गिरती हुई स्थिति पर काबू पाने मे समथ हो जाता है। मिथ्यात्व रूपी अवनति के गत से निकलकर, जब आत्मा सम्यक्त्वरूपी उन्नति के शिखर पर आरुढ हो जाता है, स्थिर हो जाता है, दृढ हो जाता है, उस समय तो उसकी स्थिति और की और हो जाती है। वह बुरे को बुरा समझता अवश्य है किन्तु उसके बुरेपन को वह अपने अन्दर हावी नही होने देता। अपने अतरग मे वह आत्मा बुरे से बुरे को भी अच्छे के रूप मे परिणत कर लेता है। जैसा कि आचाराग-सूत्र मे स्वय शास्त्रकार फरमाते है

**"समिय ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया**
**वा समिया होइ उवेहाए।।"**

वह यह भी समझता है कि यह बुरा है तो हो किन्तु इसका बुरापन मुझ पर किसी प्रकार का प्रभाव नही डाल सकता। ससार के परिवर्तनशील स्वभाव को समझता हुआ वह स्वय मे समभाव रखकर आत्मा का पतन नही होने देता।

एक बार किसी राजा की सवारी निकल रही थी। सारे नगर का गन्द, कुत्ते, बिल्लियो और चूहो के शव, सब नगर की खाई मे बह रहे थे। गन्दे कूडे के ढेर भी यत्र तत्र लगे थे। सारा वायुमण्डल भयानक दुर्गन्ध से भरा हुआ था। सयोगवश राजा की सवारी उधर से आ निकली। अनेक प्रकार के मनुष्य थे राजा की शोभा-यात्रा मे। कुछ ने तो नाक बन्द कर लिये, दूसरो ने नाक पर रूमाल बान्ध लिये, कइयो ने कान के इतर के फोए को नाक पर रगडकर दुगन्ध से बचने का प्रयत्न किया और बहुतेरे खू-खाँ करके ऐसे थूकने लगे जैसे गन्दगी का भाग उनके मुह मे प्रवेश कर गया हो। इस प्रकार दुर्गन्ध से त्राण पाने के लिये तरह-तरह के प्रयत्न किये जाने लगे। राजा से लेकर वहाँ उपस्थित प्रजाजन दुगन्ध से व्याकुल थे। परन्तु प्रधानमत्री ने उक्त प्रकार की कोई भी हरकत नही की। उस पर राजा ने तो कोई ध्यान नही दिया क्योकि वह तो स्वय दुगन्ध से व्याकुल था किन्तु दूसरे जिन लोगो का ध्यान गया वे सोचने लगे कि हम पर तो दुर्गन्ध का इतना असर पडा है कि हमे व्याकुल किये दे रही है किन्तु यह प्रधान-मत्री इससे तनिक भी विचलित नही हुआ, यह बडे ही आश्चर्य की बात है। लोगो ने राजा का ध्यान प्रधानमत्री के विचित्र व्यवहार की ओर आकर्षित किया। लोगो ने राजा से कहा, "हजूर! देखो आप तो दुर्गन्ध के कारण नाक बन्द कर रहे ह किन्तु प्रधानमत्री तो तनिक भी दुर्गंध से बचने की चेष्टा नही कर रहा ह। वह तो अपने-आपको ऐसे दर्शा रहा है जैसे उसका व्यक्तित्व आपसे भी

ऊँचा हो। दरबार साहब लोगो के बहकावे मे आ गये और प्रधानमन्त्री को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उनको भी प्रधानमन्त्री का व्यवहार पसन्द नहीं आया। राजा ने प्रधानमन्त्री को सुनाते हुए किसी दूसरे व्यक्ति से कहा "ऐसा प्रतीत होता है कि प्रधानमन्त्री को जुकाम हो गया है। जुकाम होने से दुर्गन्ध अनुभव नही हुआ करता क्योकि घ्राणेन्द्रिय जुकाम के गन्ध से आक्रान्त होती है।" राजा की बात का सबने अनुमोदन करते हुए कहा, "हाँ हजूर, इनको अवश्य पीनस की शिकायत हो गई है।" राजा ने पूछा, "क्यो मन्त्री जी, आपको क्या पीनस की शिकायत हो गई है?" 'अन्नदाता! हो सकता है, जुकाम ही क्यो शरीरधारी को क्या नही हो सकता, किन्तु इस समय तो मैं पूर्णरूपेण स्वस्थ हूँ, मुझे जुकाम आदि की कोई भी शिकायत नही है।"

बडी ही नम्रता से प्रधानमन्त्री ने उत्तर दिया।

"फिर क्या कारण है कि आपको दुर्गन्ध नही आ रही है, गन्ध को ग्रहण करना तो घ्राणेन्द्रिय का स्वभाव है। किसी भी व्यक्ति के चाहने या न चाहने की इसमे कोई बात नही, सुगन्धित या दुर्गन्धित पदार्थ यदि निकट मे पडे होगे तो उनकी गन्ध तो नाक मे प्रवेश करेगी ही।"

राजा ने पुन मन्त्री से पूछा।

"महाराज! नफरत किससे करना? ये तो पुद्‌गल ह, परिवर्तनशील हैं। प्रकाश के पुद्‌गल अन्धकार मे परिवर्तित हो जाते है और अन्धकार के प्रकाश मे। सफेद पुद्‌गल काले मे और काले सफेद मे बदल जाते है। यह पुद्‌गलो का स्वभाव होता है। जब वस्तु ही परिवतनशील है तो उससे घृणा करने से क्या लाभ?"

प्रधानमन्त्री ने दार्शनिक भाषा मे उत्तर दिया। लोगो ने 'बडे ज्ञानी बने ह प्रधानमन्त्री जी' ऐसा कहकर उनकी हँसी उडाई। प्रधानमन्त्री ने उनकी उपेक्षा कर दी। बडे आदमी बोलकर अपने विचार व्यक्त नही किया करते, वे तो आचरण से अथवा फल से ही अपने मन्तव्य की अभिव्यक्ति किया करते है।

सब व्यक्ति वहाँ से अपने-अपने ठिकाणे चले गये। इसके पश्चात् प्रधान-मन्त्री ने अपने चार-पाँच विश्वस्त व्यक्तियो को बुलाया और उनको नये घडे लाने के लिये आदेश दिया। घडे हाजिर कर दिये गये। उन घडो को खाई के गन्दे पानी से भरवाकर प्रधानमन्त्री ने अपने घर पर रखवा लिया। इन घडो का पानी सातवे दिन दूसर घडो मे बदल दिया गया। जो गन्दे परमाणु थे या गन्दा विकार था वह अलग हो गया और पानी स्वच्छतर हो गया। इस प्रकार सात सप्ताह तक अर्थात् ४९ दिन तक ऐसी ही प्रक्रिया घडो से अन्य घडो मे जल परिवर्तन की चलती रही और परिणामस्वरूप जल इतना स्वच्छ हो गया कि उसमे मात्र जल के परमाणु शेष रह गये और बाकी सब अलग हो गये। जल की इस शुद्ध

स्थिति मे भी इलायची, सोठ और लौग डालकर जल को और पवित्र किया गया। फिर केवडा और गुलाब जल डालकर उसको सुगन्धित बनाया गया। इस सारी प्रक्रिया के पश्चात् प्रधानमत्री ने उस जल का आचमन किया। वह जल अत्यन्त सुगन्धित, सुस्वादु और हल्का बन गया था। तब प्रधानमत्री ने राजा को अपने घर पर निमत्रित किया भोजन के लिए। व्यक्तिगत रूप से प्रार्थना की दरबार से, "अन्नदाता! कभी-कभी तो हमारे जैसे अनुयायी कर्मचारियो के घर का भी तो आतिथ्य स्वीकार करना चाहिए आपको।"

आग्रह करने पर राजा ने प्रधानमत्री का निमत्रण स्वीकार कर लिया। पधार गये प्रधानमत्री के घर दरबार साहब। बडे मनुहारो के साथ उनको भोजन कराया जाने लगा। राजा जब भोजन से पूर्णरूपेण तृप्त हो गये तो एक जल का गिलास सामने रखा। इतना सुगधित, सुस्वादु और हल्का कि दरबार का खाया-पिया सब हजम हो गया। पेट पूर्णतया हल्का अनुभव किया दरबार ने जल पीते ही। इस जल ने राजा पर जादू-सा कर दिया। दरबार ने पूछा मत्री से, "तुम सदा ऐसा पानी पीते हो, किस कुए का पानी है, यहाँ हमे तो ऐसा पानी कभी भी सुलभ नही होता? हमारे यहाँ का तो पानी भारी है, यह पानी तो इतना पाचक है कि जो कुछ खाया था सब भस्म हो गया और अब पुन खाने की रुचि जागृत हो गई है।"

"अन्नदाता, यह बडा ही कीमती पानी है। इसका जलाशय, तालाब वगैरह सब अलग ही प्रकार के है।" राजा ने बीच मे ही मत्री की बात को भग करते हुए कहा, "छोडो इन बातो को। तुम जैसा पानी प्रतिदिन पीते हो वैसा हमको तो कभी नसीब ही नही हुआ। जितना खर्चा लगे, खजाने से निकलवा लेना, मुझे तो प्रतिदिन ऐसा ही पानी सुलभ होना चाहिये। अब तक तो मुझे ज्ञान नही था कि ऐसा पाचक पानी भी है ससार मे। आज पीया है तो पता चला है। अब तो दूसरा पानी अच्छा भी नही लगेगा। जैसे भी हो सके मेरे लिये ऐसे ही पानी की व्यवस्था करो।"

प्रधानमत्री को राजा की बात सुनकर हँसी आ गई। राजा ने हँसी का कारण पूछा तो प्रधानमत्री ने कहा, "अन्नदाता! यह पानी बडा ही स्वच्छ, शीतल, सुगन्धित और पाचक है। आपके द्वारा इसकी प्रशसा सुनकर मुझे हँसी आ गई।"

"प्रशसा सुनकर भला हँसी आने की क्या बात थी?" राजा ने बडी उत्कठा से पूछा।

"हजूर! यह पानी उसी खाई का है जिसके प्रान्त भाग मे पहुँचकर आपने और प्रजाजनो ने दुर्गन्ध के कारण नाक बन्द कर ली थी और मेरी हँसी उडाते हुए मुझे पीनस का रोगी बताया था।" मत्री ने बडी शालीनता से राजा को

उत्तर दिया।

"यह बात सर्वथा असभव है। मैं इसे कभी नही मान मकता।" राजा ने मन्त्री की बात का प्रत्याख्यान किया।

"हम आपके सामने जलशोधन की सारी प्रक्रिया करके दिखा देंगे, तब ता आप मानेंगे?"

मन्त्री ने राजा को विश्वास दिलाते हुए कहा।

राजा ने स्वीकृति दे दी। जैसा का जैसा जलशोधन का प्रयोग प्रधानमन्त्री ने अपने घर पर किया था वैसा का वैसा राजमहल मे राजा के सामने करके बता दिया। राजा ने जब वह शुद्ध पानी पिया तो उसको विश्वास हो गया। मन्त्री से पूछा, "आपने यह विद्या कहाँ से सीखी?" इसके उत्तर मे प्रधानमन्त्री ने कहा, "हुजूर! यह तो एक सामान्य बात थी, आपको इस पर आश्चर्य नही करना चाहिये। हमारे सर्वज्ञो के सिद्धान्तो मे आता है कि विश्व मे पुद्गलो का परिवर्तित होने का और परिणमित होने का स्वभाव होता है। कल शाम को हमने बहुत बढिया से बढिया भोजन खाया था। भोजन मे दाल का सीरा, खीर, पिश्ता की चक्कियाँ, बादाम का हलवा आदि-आदि अनेक प्रकार के स्वादिष्ट और सुगन्धित पदार्थ थे। वे सारे पदार्थ हमारे पेट मे जाकर रात-भर मे सड गये और दुर्गन्धित हो गये। जब शुभ पुद्गलो का अशुभ पुद्गलो के रूप मे परिणमन हो सकता है तो अशुभ पुद्गलो का भी शुभ के रूप मे परिणमन हो सकता है। यह तो प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि रात तो पडती है किन्तु वह निरन्तर तो नही रहती, इसी प्रकार दिन आता है तो वह भी सदा स्थायी रूप से नही रहता। रात और दिन दोनो का स्वाभाविक चक्र चलता रहता है। ठीक इसी प्रकार पुद्गलो का स्वभाव भी परिवर्तनशील है। पेट मे रखे पदाथ के अतिरिक्त आप किसी सुगन्धित खाद्य पदार्थ को एक कटोरदान मे ही बन्द करके रख दो, सात दिन के बाद ढक्कन खोलो तो आप वहाँ दुर्गन्ध पाओगे। यह दुगन्ध कही बाहर से नही आती, यह तो पदार्थ मे ही अन्तर्निहित होती है। पदाथ की ताजगी के समय वह दबी रहती है, गौणरूप मे होती है, ताजगी समाप्त होते ही दुर्गन्ध मुख्य रूप धारण कर लेती है।"

राजा के मन मे इस सिद्धान्त ने घर कर लिया और उसने प्रधानमन्त्री से पूछा "आपने यह सिद्धान्त किससे सीखा जरा और विस्तार से इस पर प्रकाश डालिये।"

प्रधानमन्त्री ने राजा को समग्र सिद्धान्त विस्तार से समझाया और यह भी बताया कि इसका विस्तृत विवेचन हमारे आगमो मे आता है। राजा मन्त्री से सर्वज्ञो की वाणी सुनकर बडा प्रभावित हुआ और श्रावक के व्रतो को ग्रहण करके शुद्ध सम्यक्त्वी बन गया। अच्छे श्रावक ऐसे-ऐसे महान् कार्य कर देते

हे। अब वह राजा प्रधानमत्री का शिष्य बन गया था। साधुओ के द्वारा श्रावक बनाना कोई बडे आश्चर्य की बात नही हे जबकि कई श्रावक भी ऐसी धार्मिक बुद्धि के धनी होते ह कि वे बडे राजाओ तक को श्रावक बना डालते है। जिस काम को एक साधु अपने पूरे जीवन मे नही कर सका उस महान् कार्य को जम्बुकुमार ने एक रात्रि मे कर डाला था। गृहस्थ ही तो था उस समय वह, किसी धर्मस्थानक मे तो नही बैठा था। वह तो भोग-भवन की चित्रशालिका मे विराजमान था। सवत्र विलास और रगमगल का वातावरण था। उसने एक रात्रि मे ही पाँच सौ सत्ताईस जनो को प्रतिबुद्ध व विरक्त कर दिया। ऐसी वैराग्य की भावना जागृत कर दी उन सबमे कि सबने दीक्षा ग्रहण कर ली। ऐसे होते थे प्राचीनकाल मे श्रावक जो दूसरो को भी पक्का कर देते थे। आज खुद की ही सुध-बुध नही है।

साराश यह है कि अवस्था व स्तर की अपेक्षा से आत्मा जो उन्नति करता है, वही वास्तविक उन्नति होती हे। उन्नत होने के पश्चात् भी कई आत्माएँ असावधानी से पुन पतित हो जाती है किन्तु जो सम्यक्त्व मे आकर स्थिर, दृढ व अटल हो जाती हे उन पर किसी भी वाह्य पदाथ का प्रभाव नही पड सकता। सम्यक्त्वी व्यक्ति बुरी से बुरी बात को भी अपने अन्दर अच्छे रूप मे परिणत करने की शक्ति से सम्पन्न होता है। वह तो उपासक ही 'सचाई और अच्छाई' का होता है। 'आप भला तो जग भला' इस कहावत को वास्तव मे वही चरिताथ करता है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १४ अगस्त, १९७९

३६

# धर्मक्रियाएँ और धर्मध्यान

शुद्ध सम्यक्त्व ही शाश्वत सुखो का जनक है। कल हमने ध्यान के विषय मे प्रसग आरम्भ किया था। ध्यान चार प्रकार का होता है (१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्ल ध्यान। इन चारो ध्यानो मे से सन्त लोग धर्मध्यान का सन्देश आपको दिया करते है। सामान्य और विशेष सभी प्रसगो पर वे आपको धर्मध्यान का उपदेश दिया करते है। वस्तुत धर्मध्यान का कोई खास प्रसग नही कहा जा सकता। फिर भी व्यवहारत धर्मध्यान के कुछ खास प्रसग है। चातुर्मास भी धर्मध्यान का खास प्रसग है और उसके अतिरिक्त जब मुनिराज नगरो और देहातो मे प्रवेश करते है वे भी धर्मध्यान के प्रसग होते है। सन्तो के अभाव मे भी अष्टमी, चतुर्दशी, पाक्षिक तिथि आदि बडी तिथियो के दिनो मे भी लगनशील व्यक्ति अनेक प्रकार के त्याग और व्रत ग्रहण किया करते है। सामायिक और प्रतिक्रमण भी उन दिनो मे विशेष रूप से करते है। पाँच तिथिया, बडी तिथियो के रूप मे मानी जाती है—द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी। इन तिथियो मे भी धर्मध्यान का विशेष महत्त्व और प्रसग होता है। इसका अभिप्राय यह कदापि नही है कि इन तिथियो के अतिरिक्त धर्मध्यान का कोई महत्त्व ही नही है। असली बात तो यह है कि जिन व्यक्तियो मे धर्म के प्रति प्रेम है, श्रद्धा है और लगन है वे तो प्रत्येक तिथि को ही यथाशक्ति अष्टमी-चतुर्दशी की ही तरह धर्मध्यान करते है। विशेष प्रसगो का सकेत तो उन व्यक्तियो के लिये किया जाता है जिनका धर्म के प्रति प्रेम शिथिल है। चार मास के चातुर्मास मे क्या सब दिन एक सरीखे होते है? उत्तर 'नही' मे है। कुछ दिन विशेष महत्त्वपूर्ण होते है। पर्युषणपर्व के आठ दिन वैसे ही तो है जिनमे सवत्सरी का महापर्व भी समाविष्ट है।

जब-जब धर्मध्यान की बात का प्रसग आता है तब-तब लोग यही समझते है कि सामायिक करना, पौषध करना, उपवास, दया, आयबिल करना, प्रतिक्रमण करना इसी का नाम धर्मध्यान है। वास्तव मे ये धर्मध्यान नही है, ये तो धर्म-क्रियाए है। या यो कहो कि ये धर्म के कार्य है। एक स्थान पर बैठ जाना, यत्न से

वोलना, खुले मुँह नही बोलना, कच्चे पानी का सस्पर्श नही करना, विजातीय का स्पर्श नही करना, सचित्त को न छूना—ये सारी की सारी धर्म की क्रियाएँ है। ऐसा करने से धर्म की आरावना होती है। धर्मत्रियाएँ और धमध्यान दोनो का पृथक् अस्तित्व है। लोग प्राय कहा करते है, "कि हम तो निम्नकथित वातो को ही धर्मध्यान समझते आये है, जैसे गुरुमहाराज की तीन वार वन्दना की तो वे पहली वार फरमाते है 'दयापालो' दूसरी वार मे कहते है 'धर्मध्यान करो' और तीसरी वार जब सुखसाता पूछी जाती है तो कहते है 'देव, गुरु और धर्म की कृपा से सब आनन्द ही आनन्द है।' इस प्रकार महाराज के धमध्यान करने के सदेश मे हम तो इन्ही क्रियाओ को समझते है।" इस प्रकार का समझना भ्रान्ति-पूर्ण है। धमध्यान और धमक्रिया मे तो बडा अन्तर है। हमे ज्ञात है कि धर्मक्रिया और धर्मध्यान मे जो भी सरल मार्ग है, आप सब वही पसन्द करेगे। तो सर्वप्रथम तो आप यह समझने का प्रयत्न करे कि धर्मक्रिया और धर्मध्यान मे अन्तर क्या है? धर्मक्रिया तो एक स्थान पर बैठकर भगवान् का नाम लेना, भजन स्मरण करना, सामायिक-प्रतिक्रमण करना, पौषध, दया, तपस्या आदि करना ये तो धर्म की क्रियाएँ है। अव धर्मध्यान के विपय मे समझिये। धर्मध्यान मे ध्यान शब्द बडा ही सारगर्भित है। सामान्य व्यवहार मे भी हम कई बार कहा करते है 'किधर है ध्यान तुम्हारा,' कई बार पुकारने पर भी जब वह उत्तर नही देता तो और जोर से कहना पडता है कि 'अरे श्रीमान् जी, कहाँ खो रहे हो?' इससे स्पष्ट है कि ध्यान अलग चीज है और क्रिया अलग। क्रिया तो देखी जा सकती है किन्तु ध्यान दिखाई नही देता। सामने वाला व्यक्ति क्या क्रिया कर रहा है, यह तो स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु उसका ध्यान किधर जा रहा है और कहाँ केन्द्रित है इसका तो कुछ पता नही चलता। इस प्रकार क्रिया वहिरग है और ध्यान अन्तरग है। सामायिक, पौपध आदि धमकियाएँ है और समभाव के विचारो का चलना, साधुता का चिन्तन करना आदि धर्मध्यान है। आप क्रियाएँ तो करते है किन्तु आपका ध्यान भी क्रियाओ मे केन्द्रित रहता है या नही यह बात सन्देहात्मक है। यदि हमारी क्रिया के साथ-साथ हमारा ध्यान भी उधर ही केन्द्रित हो जाये तो क्रिया मे ध्यान का पुट लग जाने से ध्यान का सहयोग क्रिया को मिल जाता है। इससे क्रिया मे दुगुना बल आ जाता है और क्रिया की शक्ति अधिक बलवती हो जाती है। क्रिया मे शक्ति का समागम ध्यान से ही सम्भव है। अब आप भली-भाति समझ गये होगे कि धर्मक्रिया और धर्मध्यान मे क्या अन्तर होता है।

अब प्रश्न है सरलता का, क्रिया सरल है अथवा ध्यान सरल है। दोनो का विवेचन आपके सामने कर दिया गया है। कार्यरूप से बाहर दीखने मे आने वाला कुछ भी हो वह क्रिया कहलता है और मनन-चिन्तन के रूप मे विचारो का प्रवाह ध्यान है। क्रिया समय पर आश्रित होती है। सामायिक के लिए आपको कम से

कम अडतालीस मिनट का समय चाहिये, तभी आप सामायिक कर सकते है। प्रतिक्रमण के लिए उससे भी अधिक समय अपेक्षित है। दया, तपस्या, जप, माला, स्मरण आदि सभी क्रियाओ के लिए अल्पाधिक समय की आवश्यकता रहती है। विना निश्चित समय के किसी भी धर्मक्रिया को करना सम्भव नही है। किन्तु ध्यान किसी निश्चित समय की मांग नही करता। मन मे विचार करने मे, चिन्तन करने मे, ध्यान करने मे आपको अलग समय की आवश्यकता नही पडती। आप किसी भी अवस्था मे मार्ग मे चलते हुए, दुकान पर बैठे हुए, माल तोलते हुए, खरीदते हुए, वेचते हुए, कुछ भी करते हुए धार्मिक विचार अपने मन मे रख सकते है। धर्मध्यान कर सकते है, कोई समय का वन्धन धर्मध्यान के लिये नही है। अव आप स्वय निर्णय ले सकते है कि क्रिया सरल है अथवा ध्यान सरल है। सव एकस्वर से यही कहेगे कि धर्मध्यान सरल है और क्रिया कठिन है।

आज के व्याख्यान मे धर्मध्यान का ही विश्लेपण मुझे करना है और इसकी सरलता पर प्रकाश डालना है। वर्षो से धर्म की क्रिया करते आये है, इसलिये सामायिक कैसे करना? यह सव आपको ज्ञात है। सवप्रथम घर से चलकर स्थानक मे आते है, मार्ग मे जाने-अनजाने मे हुई जीव-विराधना का ईर्यापथिक करना, इच्छा कारण की पाटी वोलना, पापो की विशेष शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना, उन महापुरुपो का जिन्होने समता मे धर्म वताया है और समता का क्रियात्मक रूप जिन्होने अपने जीवन मे उतारा है—उनकी स्तुति करना 'लोगस्स' के शब्दो मे, सामायिक की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के लिए, अमुक समय अठारह ही पापो से विलग रहने के लिये 'करेमि भते' की पाटी वोलना (इसमे मन, वचन, काया से स्वय पाप करने के एव दूसरो से पाप करवाने के प्रत्याख्यान रहते है) अन्त मे ली हुई प्रतिज्ञा पर मुहरछाप लगाने के लिये 'नमोत्थुण' की पाटी से नमस्कार करना आदि-आदि धर्म की क्रियाओ से आपका भलीभाँति परिचय है।

सामायिक का चरम लक्ष्य सिद्ध-पद की प्राप्ति है। इस परम लक्ष्य की पूर्ति के लिये सामायिक मे की जाने वाली धर्मक्रियाओ का जितना महत्त्व है, उससे कही अधिक धर्मध्यान व धर्मचिन्तन का महत्त्व है। लेकिन आपको तो ज्ञान ही नही कि धर्मध्यान कैसे किया जाता है। अपने विचारो मे धर्मचिन्तन की रति कैसे रखी जाये? शास्त्रो मे चारो ही प्रकार के ध्यानो का विस्तृत विवेचन मिलता है। निर्जरातत्त्व के वारह भेद है (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसलीनता, (७) प्रायश्चित, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान और (१२) व्युत्सर्ग। ध्यान निर्जरा तत्त्व का एक भेद है। वारह प्रकार के तपो का वर्णन निर्जरा तत्त्व मे किया गया है जिसमे ध्यान का ग्यारवा स्थान या

भेद है। निर्जरा तत्व मे केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ही वर्णन नही आया है किन्तु आर्तध्यान और रौद्र ध्यान का भी वहाँ वणन है। इसका कारण है कि आर्त और रौद्र ध्यान के द्वारा भी कर्मो की निर्जरा होती है। विना चाहते हुए भी जो आपत्ति आ जाती हे एव उस आपत्ति को सहन करते समय जो आर्तरौद्र ध्यान आता है, उस अवस्था मे पूर्व के बँधे कर्म क्षय हो जाते ह परन्तु नये कर्म भी वँध जाते हे। इसके विपरीत धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे पूर्व-आवद्धकर्मो का मात्र क्षय ही क्षय होता हे, नये कर्मो का वध नही होता। इस प्रकार चारो ही ध्यान निर्जरा के कारण ह। दो ध्यानो मे पुराने कर्मो का क्षय और नये कर्मो का वध साथ-साथ होता हे, एव शेप दो ध्यानो मे कर्मो का केवल क्षय होता है, वध नही होता। धर्मध्यान के विवेचन मे शास्त्रकार फरमाते है कि चार प्रकार से धर्मध्यान होता है जिसमे पहला भेद है 'आज्ञाविचय'। जिनेन्द्र भगवान् ने हमे क्या आज्ञाएँ दे रखी है और अन्य सर्वज्ञो ने भी हमारे आत्मकल्याण के लिए कौन-कौन-सी आज्ञाएँ प्रदान की हे, किन-किन वातो का विधान और किन-किन वातो का निपेध किया है—इस वात का वारवार चिन्तन-मनन करना चाहिये। मनुष्य सदा यह सोचे, "मैं जो भी कार्य कर रहा हूँ वह भगवान की आज्ञा के अनुसार है या विरुद्ध है? जिस कार्य को करने मे उद्यत हूँ उसका भगवान् ने विधान किया है या निपेध कर रखा है?" किसी भी कार्य को करते समय मन मे इस प्रकार का विचार रहना चाहिये। यह तो आपके हाथ की वात है, आप वडी सरलता से इसे कर सकते है। शास्त्र मे प्रधान रूप से यह वात कही गई है कि प्रत्येक कार्य करते समय केवल मन मे यह विचार करते रहना चाहिये कि "मै जो कुछ भी कर रहा हूँ वह वीतराग की आज्ञानुसार है या नही?" आपको यदि वीतराग भगवान् की आज्ञा का ज्ञान न भी हो कि उनकी आज्ञा क्या है तो भी उक्त प्रकार का चिन्तन करने से अपने-आप आपको अन्दर से उत्तर मिल जायेगा। आत्मा स्वय साक्षी दे देगा कि अमुक काम करना अच्छा है अथवा बुरा। आत्मा आपको स्वय वता देगा जिस काम का परिणाम भविष्य मे अच्छा नही हे वह नही करना चाहिये। आपके आत्मा की आवाज ही भगवान् की आज्ञा का प्रतीक वन जायेगी। इसी प्रकार जिस काम का परिणाम भविष्य मे अच्छा होगा उसको करने के लिए आपकी आत्मा प्रेरणा देगी, ऐसी आत्मा की आवाज को वीतराग भगवान् की आज्ञा का पालन समझ लेना चाहिये। मनुष्य अपने आत्मा की आवाज को सुने चाहे न सुने परन्तु आत्मा शुभ और अशुभ परिणाम की सूचना देता रहता है। यह तो आन्तरिक ससार है, ये सारी की सारी वाते आत्मचिन्तन से सम्वन्ध रखती है। जिस व्यक्ति का चिन्तन जितना ही निर्विकार एव पवित्र होगा उतनी ही पवित्र आवाज़ का उसके आत्मा से आविर्भाव होगा। यदि किसी भी कार्य को करते समय

मन मे प्रसन्नता है, तो समझ लेना चाहिये कि यह भगवान् की आज्ञा के अनुकूल है और यदि इसके विपरीत किसी काय को करते समय मन मे ग्लानि है, दुःख है, सन्देह है, भय है तो समझ लेना चाहिये कि यहाँ भगवान् की आज्ञा नही है। ये विचार है धर्मध्यान से सम्बन्ध रखने वाले। ऐसे लोग जिनको शास्त्र-श्रवण का सुयोग नही मिल पाता और जो शास्त्र-ज्ञान से सवथा अनभिज्ञ है उनको आत्मा के अन्दर से ही शुभाशुभ अनुभूति हो जाये—इसके लिए धमध्यान की परमावश्यकता है।

भगवान तो सब के हे। भगवान् के ऊपर जो दावा करता है, उन पर जो अपना अधिकार जमाता है, उनकी अधिक भक्ति करने के कारण अथवा उनकी अधिक आज्ञा पालन करने के कारण—एक ओर तो ऐसा व्यक्ति है या भक्त है और दूसरी ओर वह व्यक्ति है जो न तो कभी भगवान् का भजन करता है, न उनकी आज्ञाओ का पालन करता है, न कभी उनकी प्रार्थना करता है और न ही उन पर अपना किसी प्रकार का अधिकार जमाता है—इन दोनो मे से भगवान् को कौन-सा प्रिय होगा, पहला या दूसरा ? यदि पहला मानेगे तब तो भक्तो की सख्या बहुत कम रह जायेगी क्योकि अधिक सख्या वाले तो वे है जो भगवान् की अपेक्षा करते हे। इससे तो भगवान् घाटे मे रहेगे। इसके अतिरिक्त यदि भक्ति, स्तुति अथवा आज्ञा-पालन को ही आधार मानकर यह निर्णय लिया जाये कि भगवान् तो भक्तो के ही हैं जैसा कि लोक मे भगवान् के मुख से ये शब्द कहलाये गये है, 'हम भक्तन के भक्त हमारे' तब तो भगवान् के उपासक बहुत थोडे मिलेगे। भगवान् का कार्यक्षेत्र, उनका साम्राज्य और आधिपत्य बहुत कम लोगो पर रह जायेगा। इन सब बातो को और विरोधी तर्को को देखते हुए हम तो यही कहेगे कि भगवान् तो सबके हे—भक्तो के भी और उनके भी जो उनके भक्त नही है। इस प्रकार सब उनके हे, वे भी जो उनको भला-बुरा कहते है। भगवान् के घर कोई भेदभाव नही है। भगवान् तो अत्यन्त निर्मल आत्मा हे। उनका ध्येय तो यही रहता हे कि ससार के सभी प्राणियो का हित हो, सभी प्राणी सुखी रहे और सभी प्राणियो को आनन्द की प्राप्ति हो। वे तो किसी का भी अमगल नही चाहते। ऐसे भगवान् की जो आज्ञा है उनका पालन हमे जीवन के प्रत्येक क्षण मे करना चाहिये। यदि इस प्रकार के विचारो से हम सदा अनुप्राणित रहेगे तो हमारी आत्मा मे एक दिन स्वत ज्ञान का प्रकाश हो जायेगा और हमको यह बोध हो जायेगा कि अमुक कार्य हमारे लिये और प्राणीमात्र के लिए लाभदायक है और परिणाम मे सुखावह हे। इसी तरह अमुक कार्य हमारे लिये भी बुरा है, अन्य प्राणियो के लिये भी अहितकर है और भविष्य मे इसका परिणाम भी दुःखावह है। कई बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य भविष्य की उपेक्षा कर देता हे और वर्तमान को ही महत्त्व देकर चलता है। वह

भेद है। निजरा तत्व मे केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ही वणन नही आया है किन्तु आर्तध्यान और रौद्र ध्यान का भी वहाँ वर्णन है। इसका कारण है कि आर्त और रौद्र ध्यान के द्वारा भी कर्मों की निर्जरा होती है। विना चाहते हुए भी जो आपत्ति आ जाती है एव उस आपत्ति को सहन करते समय जो आर्तरौद्र ध्यान आता हे, उस अवस्था मे पूर्व के वँधे कर्म क्षय हो जाते ह परन्तु नये कर्म भी वँध जाते हे। इसके विपरीत धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे पूर्व-आवद्धकर्मो का मात्र क्षय ही क्षय होता है, नये कर्मो का वध नही होता। इस प्रकार चारो ही ध्यान निर्जरा के कारण है। दो ध्यानो मे पुराने कर्मो का क्षय और नये कर्मो का वध साथ-साथ होता है, एव शेप दो ध्यानो मे कर्मो का केवल क्षय होता हे, वध नही होता। धर्मध्यान के विवेचन मे शास्त्रकार फरमाते है कि चार प्रकार से धर्मध्यान होता है जिसमे पहला भेद है 'आज्ञाविचय'। जिनेन्द्र भगवान् ने हमे क्या आज्ञाएँ दे रखी है और अन्य सर्वज्ञो ने भी हमारे आत्मकल्याण के लिए कौन-कौन-सी आज्ञाएँ प्रदान की हे, किन-किन वातो का विधान और किन-किन वातो का निषेध किया हे—इस वात का वारवार चिन्तन-मनन करना चाहिये। मनुष्य सदा यह सोचे, "मैं जो भी कार्य कर रहा हूँ वह भगवान की आज्ञा के अनुसार है या विरुद्ध हे? जिस कार्य को करने मे उद्यत हूँ उसका भगवान् ने विधान किया है या निषेध कर रखा है?" किसी भी कार्य को करते समय मन मे इस प्रकार का विचार रहना चाहिये। यह तो आपके हाथ की वात है, आप वडी सरलता से इसे कर सकते हे। शास्त्र मे प्रधान रूप से यह वात कही गई है कि प्रत्येक कार्य करते समय केवल मन मे यह विचार करते रहना चाहिये कि "मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह वीतराग की आज्ञानुसार है या नही?" आपको यदि वीतराग भगवान् की आज्ञा का ज्ञान न भी हो कि उनकी आज्ञा क्या है तो भी उक्त प्रकार का चिन्तन करने से अपने-आप आपको अन्दर से उत्तर मिल जायेगा। आत्मा स्वय साक्षी दे देगा कि अमुक काम करना अच्छा है अथवा वुरा। आत्मा आपको स्वय वता देगा जिस काम का परिणाम भविष्य मे अच्छा नहीं है वह नही करना चाहिये। आपके आत्मा की आवाज ही भगवान् की आज्ञा का प्रतीक वन जायेगी। इसी प्रकार जिस काम का परिणाम भविष्य मे अच्छा होगा उसको करने के लिए आपकी आत्मा प्रेरणा देगी, ऐसी आत्मा की आवाज को वीतराग भगवान् की आज्ञा का पालन समझ लेना चाहिये। मनुष्य अपने आत्मा की आवाज को सुने चाहे न सुने परन्तु आत्मा शुभ और अशुभ परिणाम की सूचना देता रहता है। यह तो आन्तरिक ससार है, ये सारी की सारी वातें आत्मचिन्तन से सम्वन्ध रखती है। जिस व्यक्ति का चिन्तन जितना ही निर्विकार एव पवित्र होगा उतनी ही पवित्र आवाज़ का उसके आत्मा से आविर्भाव होगा। यदि किसी भी कार्य को करते समय

मन मे प्रसन्नता है, तो समझ लेना चाहिये कि यह भगवान् की आज्ञा के अनुकूल है और यदि इसके विपरीत किसी कार्य को करते समय मन मे ग्लानि है, दु ख है, सन्देह है, भय है तो समझ लेना चाहिये कि यहाँ भगवान् की आज्ञा नही है। ये विचार है धर्मध्यान से सम्बन्ध रखने वाले। ऐसे लोग जिनको शास्त्र-श्रवण का सुयोग नही मिल पाता और जो शास्त्र-ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ है उनका आत्मा के अन्दर से ही शुभाशुभ अनुभूति हो जाये—इसके लिए धर्मध्यान की परमावश्यकता है।

भगवान तो सब के हे। भगवान् के ऊपर जो दावा करता है, उन पर जो अपना अधिकार जमाता हे, उनकी अधिक भक्ति करने के कारण अथवा उनकी अधिक आज्ञा पालन करने के कारण—एक ओर तो ऐसा व्यक्ति है या भक्त है और दूसरी ओर वह व्यक्ति है जो न तो कभी भगवान् का भजन करता है, न उनकी आज्ञाओ का पालन करता है, न कभी उनकी प्रार्थना करता है और न ही उन पर अपना किसी प्रकार का अधिकार जमाता है—इन दोनो मे से भगवान् को कौन-सा प्रिय होगा, पहला या दूसरा ? यदि पहला मानेंगे तब तो भक्तो की सख्या बहुत कम रह जायेगी क्योकि अधिक सख्या वाले तो वे ह जो भगवान् की अपेक्षा करते है। इससे तो भगवान् घाटे मे रहेगे। इसके अतिरिक्त यदि भक्ति, स्तुति अथवा आज्ञा-पालन को ही आधार मानकर यह निणय लिया जाये कि भगवान् तो भक्तो के ही है जैसा कि लोक मे भगवान् के मुख से ये शब्द कहलाये गये ह, 'हम भक्तन के भक्त हमारे' तब तो भगवान् के उपासक बहुत थोडे मिलेगे। भगवान् का कार्यक्षेत्र, उनका साम्राज्य और आधिपत्य बहुत कम लोगो पर रह जायेगा। इन सब बातो को और विरोधी तर्कों को देखते हुए हम तो यही कहेगे कि भगवान् तो सबके है—भक्तो के भी और उनके भी जो उनके भक्त नही हैं। इस प्रकार सब उनके है, वे भी जो उनको भला-बुरा कहते है। भगवान् के घर कोई भेदभाव नही ह। भगवान् तो अत्यन्त निर्मल आत्मा है। उनका ध्येय तो यही रहता है कि ससार के सभी प्राणियो का हित हो, सभी प्राणी सुखी रहे और सभी प्राणियो को आनन्द की प्राप्ति हो। वे तो किसी का भी अमगल नही चाहते। ऐसे भगवान् की जो आज्ञा है उनका पालन हमे जीवन के प्रत्येक क्षण मे करना चाहिये। यदि इस प्रकार के विचारो से हम सदा अनुप्राणित रहेगे तो हमारी आत्मा मे एक दिन स्वत ज्ञान का प्रकाश हो जायेगा और हमको यह बोध हो जायेगा कि अमुक कार्य हमारे लिये और प्राणीमात्र के लिए लाभदायक है और परिणाम मे सुखावह है। इसी तरह अमुक काय हमारे लिये भी बुरा है, अन्य प्राणियो के लिये भी अहितकर है और भविष्य मे इसका परिणाम भी दु खावह है। कई बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य भविष्य की उपेक्षा कर देता है और वर्तमान को ही महत्त्व देकर चलता है। वह

सोचता है कि 'भविष्य मे जो होना होगा होता रहेगा, वर्तमान का लाभ उठाना चाहिए।' कुछ लोग ऐसे भी है जो भूत और भविष्यत दोनो की उपेक्षा करते है, वे महत्त्व, मात्र वर्तमान को देते है। किसी कवि ने कहा भी है

**"गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वाछा नाँय।**
**वर्तमान वर्ते खरो, सो ज्ञानी जग माँय ॥"**

इस पद्य के अनुसार तो भूत और भविष्यत् की तनिक भी परावाह न करके मनुष्य को वतमान की ही चिन्ता करनी चाहिये। यह ठीक नही हे। लोगो ने उक्त पद्य का भावार्थ सही नही समझा हे, उसका अर्थ अपने मतलब का कर डाला है। वास्तव मे तो उसका अर्थ है कि बीती बात का ध्यान करके आर्तध्यान नही करना चाहिए, चिन्ता मे नही डूबना चाहिए क्योकि जो जैसा होना था वह तो हो चुका है, उसमे अब परिवतन सम्भव नही है। जब व्यर्थ का चिन्तन किया जाता है तो उसका बुरा प्रभाव आवश्यक चिन्तन पर पडता है, इसीलिये बीती बात की चिन्ता न करने का ज्ञानी पुरुषो ने उपदेश दिया है।

'आगम वाछा नाँय' का अर्थ है कि बहुत-से व्यक्ति शेखचिल्ली के दिमाग के होते हे। बैठे-बैठे बेसिर-पैर के मनसूबे बाँधा करते है। 'आज हमने यह किया है, इसका फल भविष्य मे यह निकलेगा, भविष्य मे जो होने वाला है उसका परिणाम यह होगा, वह होगा।' इत्यादि-इत्यादि। ऐसे लोग वर्तमान के सरक्षण का तथा वर्तमान से लाभान्वित होने का प्रयत्न नही करते। केवल भविष्य के मनसूबो का महल खडा करने मे डूबे रहते है। मारवाडी भाषा मे एक उक्ति भी है

**"मारवाड मनसूबा डूबी पूर्व डूबी गानासूँ।**
**खानदेश खाना सूँ डूबी, दक्षिण डूबी दाना सू ॥**

इस प्रकार की भविष्य के लिए निरर्थक कल्पनाएँ करते रहने से और मनसूबो के पुल बाँधते रहने से मनुष्य वर्तमान मे क्रियाशील नही बन सकता, वर्तमान मे प्राप्त साधनों का सदुपयोग नही कर सकता। इसी आशय को ध्यान मे रखकर ज्ञानी पुरुषो ने 'गई बात सोचे नही' की उक्ति प्रसारित की है। इस शिक्षा की गति सासारिक कार्यों तक ही सीमित है। बाकी आत्मार्थी जो पुरुष होते है, धर्मध्यान करने वाले जो श्रावक होते हे, वे तो जीवन के कदम-कदम पर यही सोचा करते हे, "भूतकाल मे हमने अनेक प्रकार के पापकर्म किये है, दुष्कर्म किये है, उन सबका हमको प्रायश्चित्त लेना हे, आलोचना करना है। ऐसा करने से हमारी आत्मा निष्पाप, निष्कलक एव निर्मल बनेगी। भविष्य मे वर्तमान के अन्दर किए जाने वाले किसी कार्य का हमे बुरा फल न भोगना पड़े, इसके लिये सँभल-सँभल कर चलना है।" धर्मध्यान का पहला ही भेद है

'आज्ञा विचय'। 'हर समय भगवत्-आज्ञा का विचार करते रहना' धर्मध्यान का लक्षण है।

आज के व्याख्यान मे आपको यही बताया गया है कि धर्मक्रिया अलग है और धर्मध्यान अलग है। धर्मध्यान मे हर व्यक्ति को जितनी स्वतन्त्रता है उतनी धर्म-क्रिया मे नही है। धर्मध्यान के चार भेदो मे से पहला भेद है 'आज्ञा विचय'। विस्तार से देखना हो तो 'ओववाइय' मे देखा जा सकता है। सम्यक्त्व सहित बारह व्रत, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, पाच महाव्रत, भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ, शुद्ध योग, शुद्ध ध्यान, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और छह काय की रक्षा आदि सब क्रियाएँ वही कर सकता है जो जीव वीतराग की आज्ञा का आराधक होगा। इसमे सम्यक्त्वी, श्रावक व साधु—तीनो की ऊँची से ऊँची क्रियाओ का समावेश हो जाता है। साधु की उत्कृष्ट क्रिया के रूप मे बारह भिक्षु प्रतिमाएँ, श्रावक की उत्कृष्ट क्रिया मे ग्यारह प्रतिमाएँ तथा सम्यक्त्वी की उत्कृष्ट क्रिया मे क्षायिक सम्यक्त्व की आराधना—ये सारी की सारी क्रियाएँ भगवान् की आज्ञा ही समझनी चाहिये।

धर्मध्यान का दूसरा भेद है 'अपाय विचय'। इसका अभिप्राय है जीवन मे होने वाले दु ख, कष्ट एव विघ्नो पर विचार करना। वर्तमान मे हमारे द्वारा ऐसी कौन-सी क्रियाएँ हो रही है जिनके परिणामस्वरूप भविष्य मे हमे अनेक कष्टो का सामना करना पड सकता है। वर्तमान मे अच्छे प्रतीत होने वाले कार्य की सामर्थ्य न भी हो तो भविष्य मे होने वाली सामर्थ्य पर पूरा भरोसा रखना चाहिये। इस श्रद्धान से जब भी आत्मा विकसित होगा और आत्मबल जागृत होगा तो आत्मा को कृतकर्मो पर आक्रमण करने का अवसर मिलेगा। धर्मध्यान का यह दूसरा लक्षण है। 'भविष्य मे मेरे कौन-कौन-से कार्य बुरे परिणाम के रूप मे प्रकट होगे एव किन-किन कार्यो के फलस्वरूप मुझे दु ख झेलने पडेगे' इस प्रकार का चिन्तन तो प्रत्येक व्यक्ति को सदा करते रहना चाहिये। बुरे काम करने बडे आसान होते है किन्तु फल भोगते समय नानी याद आती है। इस भाव को किसी ने लोकोक्ति के रूप मे व्यक्त भी किया है

> **"पाप करता सोहिलो,**
> **भोगवता दोहिलो।"**

पाप करते हुए तो अच्छा लगता है किन्तु भोगते समय बडा दु खी होना पडता है।

धर्मध्यान का तीसरा भेद है 'विपाक विचय'। किस कर्म का किस प्रकार का विपाक आयेगा इसको कहते है 'विपाक विचय'। जीव को दो प्रकार के विपाक आते है सुख और दु ख। वि—अर्थात् विशेष रूप से पाक—पक जाने को ही विपाक कहते है। वि+पाक—अर्थात् विशेषरूप से पका फल। फल भी दो प्रकार के होते है—मीठे और कडवे। कुछ फल तो जब पकते है, बडे सुन्दर

और मीठे होते है। जो फल पकने के वाद मीठे लगते हैं, वे जव तक पकते नही, अधपके रहते है तब तक मीठे नही होते। उनका पकने के वाद ही मीठे लगना विशिष्ट पाक होता हे। कुछ फल ऐसे होते हे कि पकने के वाद एकदम कडवे लगते है। पकने की पूर्व अवस्था मे वे कडवे नही होते। यहाँ जो विपाक शब्द आया है वह सुख-दु ख का परिचायक है। ग्यारहवे अगसूत्र मे इसका विवेचन देखा जा सकता है। सूत्र के दो विभागो के क्रमश नाम हे सुख विपाक और दु ख विपाक। हम जो पुण्य करते ह, शुभ-कम कमाते है, उसका विपाक सुख के रूप मे हमे प्राप्त होता हे। जो पाप करते है, मन को अच्छा या सुहावना लगने वाला काय करते हे—उसका विपाक दु ख के रूप मे हमे मिलता हे। यह धमध्यान का 'विपाक विचय' नाम का तीसरा लक्षण है। 'विपाक विचय' के अनुसार 'कर्मो का भविष्य मे क्या विपाक आयेगा' इसका बार-बार चिन्तन करते रहना चाहिये।

यह धमध्यान के तीन भेदो का सक्षेप मे विश्लेषण है। चौथे का प्रसग फिर समय आने पर चलेगा। उक्त विवेचन का थोडे शब्दो मे यही सार है कि धर्म-क्रिया करते समय तो आपके सामने समय का बन्धन रहता है किन्तु धमध्यान के लिये वैसा कोई बन्धन नही है। बन्धनरहित होने के कारण से धर्मध्यान अत्यन्त सरल भी है। आप धर्मध्यान की कभी उपेक्षा नहीं करेंगे—ऐसी हम आपसे आशा रखते है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १६ अगस्त, १६७६

३७

# त्याग ही वास्तविक जीवन है

आत्मा के लिये शाश्वत सुखो की प्राप्ति बिना पुरुपार्थ के सभव नही है। नि सन्देह पौरुप तो सासारिक अशाश्वत सुखो के लिए और क्षणभगुर आनन्द के लिये भी करना पडता है किन्तु सासारिक पुरुपार्थ मे और आध्यात्मिक पुरुपार्थ मे अन्तर होता है। जो लोग यह समझते है कि शरीर के द्वारा श्रम करने का नाम ही पुरुपार्थ है वे भूल करते है। मन को नियत्रण मे करने के लिये भी पुरुपार्थ करना पडता है। शारीरिक शक्ति के द्वारा तो आप बडे-बडे सग्राम भी जीत सकते है परन्तु मन को जीतना तो उन सबसे कठिन है। तभी तो किसी ने कहा है कि "मन जीते जग जीत" अर्थात् - जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसने तो मानो सारे ससार को ही जीत लिया है। मन को जीतना ससार के जीतने से भी अधिक महत्त्व का है। इसका कारण है कि मन की भ्रान्त प्रवृत्ति के कारण अनेक बार आत्मा को असह्य यातनाओ का सामना करना पडता है। जो परम्परा से चले आ रहे दकियानूसी और अन्धविश्वासपूर्ण सस्कार है उनको भी मन से मिटा देना सरल काम नही, इस प्रकार मन की शुद्धि भी पुरुपार्थ की अपेक्षा रखती है। शरीर की सुरक्षानिमित्त कई बार मन ऐसी प्रवृत्तियाँ करने लगता है जिनके परिणामस्वरूप आत्मा अनेक प्रकार के पापबन्धनो मे बन्ध जाता है। 'अमुक (मासादि) वस्तु के सेवन न करने से शरीर दुर्बल हो जायेगा, अस्वस्थ रहने लगेगा' ऐसी-ऐसी भ्रान्त धारणाए कई बार मन को परेशान कर दिया करती है।

जीव दो प्रकार के होते ह कुछ तो ऐसे हे जिनको रहने के लिये एक शरीर मिला है, स्वतत्र शरीर जिसमे अकेला जीव निवास करता है। कुछ ऐसे भी जीव है जो एक-एक शरीर मे बहुत सारे रहते ह। शरीर तो एक ही है किन्तु उसमे दो से लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त जीव तक रहते है। उनको अनन्तकायिक जीव भी कहा जाता है। अनन्तकाय का अभिप्राय उस काय से है जिस काय मे सूई की नोक की जगह मे अनन्त जीव रहते हो। शास्त्रकार इसको साधारण वनस्पतिकाय कहते है। वनस्पतिकाय मे ही ऐसा सभव है बाकी वनस्पति के

अतिरिक्त जितनी भी काय है पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और त्रस—उनके तो एक शरीर मे एक जीव ही हुआ करता है। हमारे इतने बडे शरीर मे एक जीव है। यो किसी प्रकार की शारीरिक विकृति के कारण और जीवो की उत्पत्ति भी हो सकती है, किन्तु उस दशा मे उन सब जीवो के शरीर अलग-अलग होगे। वनस्पतिकाय की यह अपनी विशेपता होती है कि जिसमे एक शरीर के अन्दर ही अनत जीव भी रह सकते ह। पचेन्द्रिय शरीर मे निवास करने वाला जीव अपने इन्द्रिय-वर्ग की ऋद्धि-समृद्धि के साथ रहता है। अपने इस शरीर के पोपण के लिये ही कितने जीवो की हत्या का पाप वान्धते ह लोग, क्या इतने पाप के बिना हमारे शरीर का पोपण नही हो सकता ? यदि थोडे-से पाप से ही हमारा शरीर स्वस्थ एव प्रसन्न रह सकता है तो फिर उसके लिये वहुत-से जीवो का सहार करना कोई बुद्धिमत्ता नही हे। जो लोग जैन धम के तत्त्व को समझते नही हे, वे तो अज्ञान-दशा मे अन्धकार मे भटकते हुए अनेक प्रकार के पाप करके अपनी आत्मा को मलिन करते ही हे। मनुष्य जन्म पाकर भी दुर्भाग्य से उनका जन्म ऐसे घरो मे नही हुआ जहॉ आत्मचिन्तन की चर्चा होती है। मनुष्य भव, जिसकी प्राप्ति कर्मबन्धनो को तोडने के लिये हुई हे, पाकर भी वे असम्यक् वातावरण के कारण दुष्कर्मो मे प्रवृत्त रहते है। किन्तु जिनको मनुष्य भव भी प्राप्त हो गया हे, उत्तम कुल भी मिल गया है, वे भी यदि इसी तरह से कर्म बाँधते रहेगे, तो फिर तोडने का अवसर कव आयेगा ? किसी कवि ने इसीलिये तो कहा है

**'अन्यस्थाने कृत पाप धर्मस्थाने विमुच्यते'**

दूसरे-दूसरे स्थान मे किया हुआ पाप धमस्थान मे आकर धोया जा सकता है। वँधे हुए कर्मो से मुक्ति पाने के लिये ही तो आप धर्मस्थानक मे आते हे। धमस्थानक मे आने का आपका उद्देश्य यही है कि आपने अन्यान्य स्थानो पर जो कम बाँधे है, पापकम किये है उनका छुटकारा यहाँ धार्मिक क्रिया से हो जाये। जो पापो का भार आपके सिर पर लदा है, वह हल्का हो जाये। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि धर्मस्थानक मे आकर कोई पाप आप न वाध ले। यहाँ आकर भी यदि पापकम बाँध लिया तो फिर उसका छुटकारा वडी कठिनाई से होगा। तभी तो कहा है किसी कवि ने

**"धर्मस्थाने कृत पाप वज्रलेपो भविष्यति"**

धमस्थान तो पाप के त्याग के लिये होता हे। यहाँ आकर भी यदि पापकम किये जाते ह तो वे निश्चित ही वज्रलेप के समान पक्के हो जाते है। जिस प्रकार सीसे के गारे से बँधे मकान को टूटने का कोई खतरा नही होता, क्योकि वह पक्का होता हे, इसी प्रकार के पक्के और दृढ धर्मस्थान मे किये गये पाप भी होते हे।

मनुष्य भव को इसी कारण सब भवो से उत्तम माना गया है कि इसमें पूर्वकृत पापो से मुक्ति पाई जा सकती है या कर्मो के बन्धन तोडे जा सकते हैं, यदि इस भव मे भी चूक गये तो फिर कोई ठिकाना नही। भैंस जिस प्रकार खेत मे जाकर सब प्रकार का हरा चारा—जमीकंद आदि अबाधुध चरती जाती है और फिर तृप्त होकर जहाँ भी जैसा पोखरे आदि का साफ या गदा जल मिल जाये तो उसमे लेट कर स्वर्ग के आनन्द का अनुभव करती है। भैंस के समान ही अनन्त जीवो से भरी हरी सब्जियो का जो भक्षण करेगा तो वह ऐसा पापकर्म बाँधेगा जिसको अनेक जन्मो तक भोगने के लिए उसे विवश होना पडेगा। जल के भी अत्यधिक प्रयोग से पापकर्म का बँध होता है। हजारो मन पानी से स्नान करके भी क्या कभी अन्दर की मैल धोई जा सकती है ? अल्प जल से जो काम हो सके उसके लिये अधिक का प्रयोग क्यो किया जाये ?

हमारा प्रसग यह चल रहा था कि शाश्वत सुखो की प्राप्ति के लिये पौरुष परमावश्यक है। शारीरिक पुरुषार्थ के अतिरिक्त, मानसिक पुरुषार्थ भी कम महत्त्व का नही है क्योकि मन के ऊपर नियत्रण के लिये पुरुषार्थ अपेक्षित है। बडे साहस की आवश्यकता होती है पुरुषार्थ के लिये।

श्रेणिक राजा का नाम तो आपने सुन ही रखा है। बाल्यावस्था से ही वह बडा बुद्धिमान था। श्रेणिक राजा के सौ भाई थे। पिता ने जानबूझकर श्रेणिक को घर से निकाल दिया। उसके शेष ९९ भाई निरे मूर्ख थे। कल्पना से नही, पिता ने कई बार उनका बौद्धिक परीक्षण किया था, हर बार वे वज्रमूढ ही निकले थे। राजा ने सोचा कि कही सारे के सारे एकमति हो गये तो श्रेणिक की हत्या कर देंगे। बुद्धिमान से मूर्ख को जलन होना स्वाभाविक बात है। पिता ने ऊपर से अप्रसन्न होकर श्रेणिक से कहा "तुम मेरे राज्य से निकल जाओ, यहाँ रहने की आवश्यकता नही है।"

पिता के इस आदेश से शेष निनानवे भाई बडे प्रसन्न हुए। श्रेणिक राज्य छोडकर चला गया। मार्ग मे इन्द्र नाम का व्यापारी उसे मिला। वह गावो मे व्यवसाय करके वापिस अपने नगर को आ रहा था। श्रेणिक से व्यापारी की जो बातें हुई उनमे श्रेणिक व्यापारी पर कोई अच्छा प्रभाव नही डाल सका। बातो के अतिरिक्त व्यवहार मे भी व्यापारी ने श्रेणिक को निरा मूर्ख समझा। मार्ग मे जहाँ धूप आती थी वहाँ तो श्रेणिक छाता समेटकर चलता था और वृक्ष की छाया मे वह छाता तानकर बैठता था। मार्ग मे कण्टकाकीर्ण पथ पर तो वह जूते हाथ मे लेकर चलता था और जहाँ नदी आ जाती या पानी मे होकर चलना पडता तो जूते पहन लेता था। इन सब बातो से व्यापारी ने श्रेणिक को मूर्ख समझा और अपने नगर का द्वार आते ही उससे पूछा, "क्यो भाई, तुम और कही जाने वाले हो, या मेरे साथ चलोगे ?" बडे उपेक्षा भाव से कहा इन्द्र ने श्रेणिक

को । श्रेणिक उसकी उपेक्षा को जानकर बोला "मुझे आपके साथ जाकर क्या करना है, आप जाइये ।"

इन्द्र व्यापारी अपने घर आ गया । उसकी लडकी नन्दा बडी बुद्धिमती थी। उसने पूछा, "पिता जी ! सदा तो आप समय पर आ जाया करते थे, आज विलम्ब से क्यो आये ह ?" "क्या बताऊँ बेटी, आज तो एक महामूर्ख से पाला पड गया था, बस इसी कारण देर हो गई।" पिता ने पुत्री को उत्तर दिया। "क्या मूर्खता दिखाई उसने ?" पुत्री ने पुन पिता से कौतूहलवश पूछा। "क्या बताऊँ, उसमे सारी बाते ही मूखता की थी। धूप मे छाता समेटता था और छाया मे तान लेता था, माग मे जूती हाथ मे रखता था और पानी मे पहन लेता था। ये सारी मूर्खता की ही तो बाते थी।" पिता ने पुत्री के कौतूहल को शान्त करने का प्रयत्न करते हुए कहा, "पिता जी ! ये तो सारी बाते उसकी बुद्धिमत्ता की प्रतीक ह। वह जो वस्त्र पहने हुए था वे बहुत बढिया किस्म के होगे, धूप मे उनका कुछ भी नही बिगडता होगा किन्तु छाया मे वृक्ष पर से पक्षियो के बिष्ठा से खराब होने के डर के कारण वह छाता तान लेता होगा। मार्ग के काटे और ककरो को तो वह आँखो से देखकर चलता होगा किन्तु पैरो की कोमलता के कारण वह पानी मे जूते इसलिये पहन लेता होगा कि कोई ककर न चुभ जाये, कोई काँटा न लग जाये। पानी मे पडे ककर-काटो को तो आँखे नही देख सकती इस कारण वह जूती का प्रयोग पानी मे करता था। आपने बडी भारी भूल की कि ऐसे बुद्धिमान को साथ नही लाये।"

नन्दा ने बडे निराशापूर्ण शब्दो मे पिता से कहा। नन्दा की इच्छा थी कि ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति को तो घर बुलाना चाहिये। उसने अपनी दासी को इस काम के लिये कहा। दासी तो उस लडके को जानती नही थी, फिर वह कैसे ला सकेगी उसको ? नन्दा को बात सूझ गई। उसने दासी को सम्बोधन करते हुए कहा "जाओ, तुम बाजार मे जाओ, और दो चीजे लाओ, एक तो पिउ की प्यारी और दूसरी प्यारी की प्यारी।"

"जो कुछ आपने कहा, मै कुछ भी नही समझी।" दासी ने नन्दा को कहा।

"समझने की कोई आवश्यकता नही है, जो व्यक्ति तुमको ये दो वस्तुएँ दिलवा दे उसको साथ ले आना। यहाँ आने के लिये भी स्पष्ट रूप से कुछ नही कहना हे किन्तु सकेत से कहना है।" दासी ने स्वीकृति दी और चली गई।

दासी कुछ भी तो नही समझती थी, हर एक दुकानदार से कहने लगी, "पिउ की प्यारी दो, प्यारी की प्यारी दो।"

"अरे क्या बक रही है यह ? पिउ की प्यारी अपने-अपने घरो मे होगी, यहा दुकान पर किस लिए आएँगी ? प्यारी की प्यारी तो कुछ भी नही होती, हाँ प्यारी का प्यारा अवश्य होता है।" सब दुकानदार उसकी हसी उडाने लगे।

एक दुकान पर श्रेणिक बैठा था। उसने दुकानदारों से कहा, "अरे तुम बेचारी की हसी क्यो उडाते हो ? जो यह मागती है इसे दो।" "दे क्या ? यह तो पिउ की प्यारी और प्यारी की प्यारी दो चीजे मागती है, ये दो चीजे कुछ हो तो इसको दे।" दुकानदारो ने श्रेणिक को उत्तर दिया।

"होती क्यो नही, पिउ की प्यारी होती है 'मांग' और प्यारी की प्यारी होती है 'मेहदी'। तुम्हारी दुकानो मे हो तो दे दो।" श्रेणिक ने कहा।

"अरे हां, यह बात तो ठीक लगती है," दुकानदारो ने कहा।

दासी ने उस लडके को देख लिया और समझ गई कि हमारी बाईजी ने इसी लडके को बुलाया है। दासी ने माल ले लिया और लडके से कहा, "आपको हमारी बाईजी ने बुलाया है। हमारा घर का तो मैं आपको क्या बताऊँ।" दासी ने एक हाथ तो अपने दाहिने कान पर लगाया और दात दिखाकर चली गई। लोगो ने दासी के दात दिखाने को पागलपन समझा किन्तु श्रेणिक उसके इशारे को समझ गया। वह दासी के इशारे से तुरन्त इस निर्णय पर पहुंच गया कि उसके घर के दाहिनी ओर दाडिम का पेड है और यही उस घर की पहचान है। बुद्धिमानो के काम तो इशारो से ही चलते है। लाखो मनुष्यो के बीच मे वे इशारो से चोट कर दिया करते है। लोगो को पता भी नही चल पाता।

"बाई जी, बाई जी ! ये दोनो वस्तुएँ आ गई है।" दासी ने दोनो वस्तुओ को बाई जी को देते हुए कहा।

"कैसा है लडका ?" बाईजी ने पूछा।

"बहुत अच्छा है लडका, भाग्यवान दीखता है।" दासी ने विश्वास दिलाते हुए उत्तर दिया।

"हा, घर पर आने का निमन्त्रण दिया कि नही तुमने ? क्या उसको इशारे से समझाया ?"

बाई जी ने उत्कठा से पूछा।

दासी ने स्वीकृति मे उत्तर दिया। नन्दा को विश्वास हो गया वह अवश्यमेव आयेगा। उसने अपने द्वार से छह कदम पर दो तरह के मार्ग तैयार किये—एक पर तो पानी डाल दिया और कीचड ही कीचड हो गया। पानी भी इतना डाल दिया कि चलने वाला घुटनो तक धँस जाये। दूसरे मार्ग पर बालू-रेत मखमल की तरह बिछा दी। नन्दा स्वय झरोखे मे बैठ गई यह देखने के लिये कि वह किस प्रकार आता है ?

सकेत के अनुसार श्रेणिक आया और दो रास्ते देखकर सोचने लगा, "यह जो बालू-रेत का रास्ता है इसमे तो पता नही चल सकता कि नीचे क्या है ? हो सकता है नीचे गड्डा हो और उसको घॉस-फूस आदि बिछाकर ऊपर रेत से ढक दिया हो। इस पर से चलने से गिर कर हँसी का पात्र बनने की सम्भावना

है। इसलिये इस रास्ते पर से चलने के स्थान पर कीचड के मार्ग से चलना अच्छा रहेगा।" यह सोचकर वह कीचड के रास्ते से आया। अपने कपडो को ऊपर टाँक लिया वह कीचड मे से अन्दर आया। नन्दा ऊपर से सब दृश्य देख रही थी, सोच रही थी,"यह युवक वास्तव मे बुद्धिमान है,यह ऊपर के आकर्षण को देखकर ठगाने वाला नही है।" वह आया। चतुर तो वह था ही, आकर चबूतरे पर बैठ गया और इस आसन से बैठा कि सारा कीचड नीचे झड जाये और दूसरे स्थान पर कीचड का अश न लगने पाये। इतने ही मे दासी के हाथ से नन्दा ने छोटा-सा पानी का कलशिया भरकर भेज दिया और कहला दिया, पैर साफ धो लेना और पानी बचाना क्योकि हमारे यहाँ पानी की कमी है।"यह तो चतुराई और बुद्धिमानी की परीक्षा थी, यहाँ रग-रूप देखकर नम्बर नहीं दिये जा सकते थे। श्रेणिक ने पानी का कलशिया देखा और सोचा, "स्थिति बडी सारगर्भित है।" उसने इधर-उधर देखा तो एक बाँस की खापटिया, जो गड्ढे को ढकने वाली खापटियो से बच गयी थी, उठाया और उससे पैरो से लगा कीचड उतारने लगा। सारा कीचड ही उससे साफ कर दिया और जो शरीर पर सूख गया था उसको हाथो से मसल-मसल-कर उतार दिया। इसके पश्चात् चुल्लू मे पानी लेकर दोनो पैरो को क्रमश धो डाला। चुल्लू-भर पानी से ही हाथ भी धो डाले। इस प्रकार तीन-चार चुल्लू-भर पानी मे ही सारा काम कर डाला। लोटे मे पर्याप्त पानी बच गया। बिल्कुल अपटुडेट हो गया। इतने मे दासी आ गई और उसे लोटा सम्भला दिया। कथानक लम्बा-चौडा है किसी अन्य प्रसग पर आपको सुनाया जायेगा।

हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि चातुर्य बडा ही उच्चकोटि का गुण है। बाहर के मैल को धो-धाकर हम अपने जीव को तसल्ली दे देते है कि हम निर्मल बन गये, स्वच्छ बन गये। और फिर ऐसे स्थान पर बैठना पसन्द करते है जहाँ पर हमारे ऊपर धूल न पड सके और हमारा शरीर पुन गन्दा न हो सके। इस प्रकार की धारणा मिथ्या है। मैल बाहर से नही आता किन्तु अन्दर से आता है। शरीर के अन्दर क्या है, इस बात को बताने की जरूरत नहीं है। शरीर के अन्दर जो गन्दगी है उसी गन्दगी के कारण ही तो बाहर के ससार मे गन्द फैला हुआ है। इस शरीर रूपी नगरी के नौ दरवाजे है, कुछ लोग दस दरवाजे भी मानते है। नौ दरवाजे मानने वाले सम्भवत दसवे द्वार को बन्द मानते है।

यह दसवा द्वार है—मस्तिष्क, जिसे शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द मे गगन-मडल भी कहा गया है। सारे शरीर मे सबसे ऊँचा और महत्त्वपूर्ण स्थान यही है। आखे, नाक, कान आदि तो खुले दरवाजे है किन्तु गगनमडल तो बन्द है। कुछ विद्वान् सूडी (नाभि) को भी दसवा द्वार मानते है। सूडी को ब्रह्मरन्ध्र भी कहा जाता है। सबके शरीर मे दस ही दरवाजे होते है, ऐसी भी बात नही है। किन्ही के शरीरो मे अधिक भी होते है। यह तो खुले दरवाजो की बात हुई। बाकी

शरीर से बाहर मैल निकालने वाले भी अनेक द्वार है जिनकी गणना नही की जा सकती।

हमारे शरीर से निकलने वाले मैल को बहुत-से लोग तो मैल के रूप मे जानते ही नही है। ये शरीर पर के केश, रोम, नाखून आदि शरीर के अन्दर के मैल ही तो है। मैल होते हुए भी केशो को शरीर की शोभा माना जाता है। प्राचीन काल मे लोग नाखूनो और केशो को साफ करवा लिया करते थे। आजकल की तो बात ही निराली है, केश तो बहुत बढाते ही है किन्तु नाखूनो को भी बढाना आरम्भ कर दिया है। नाखूनो का बढाना भी शृगार मे गिना जाता है। हमारे शरीर मे साढे तीन करोड रोम कूप है, खड्डे है जिनमे एक-एक मे से एक, किसी मे दो और किसी मे तीन-तीन तक केश निकल आते है। इन केशो के आधार पर भी शुभ-अशुभ भविष्य का कथन किया जाता है। जिसके रोमकूप मे से तीन केश निकले वह पुण्यशाली नही माना जाता। एक खड्डे मे से दो केश निकले तो वह व्यक्ति मध्यम कोटि का होता है और एक मे एक ही निकले तो उस व्यक्ति को उत्तम कोटि का और पुण्यवान् माना जाता है। मेरे कथन का सकेत तो यह था कि हमारे शरीर से निकलने वाला मल भी हमारी शोभा का कारण बन जाता है। आपने देखा ही होगा कि केशो को किस प्रकार अनेक रूपो मे सिगारा जाता है। वास्तव मे तो केशो का शृगार मनुष्यो के लिये नही है, वह तो स्त्रियो के हिस्से मे आता है। यही कारण है कि बाइयो के केशो पर कतरनी नही चला करती। परन्तु आजकल तो सब कुछ होने लग गया है, स्त्रियाँ भी बाल कटाने लगी है और नवयुवक स्त्रियो के समान बाल बढाने लगे है। दोनो की वेशभूषा ऐसी होती जा रही है कि कई बार तो यह पहचानना भी कठिन हो जाता है कि दृष्टिगोचर व्यक्ति स्त्री है या पुरुष है। अस्तु, यह जमाने की हवा है, सिनेमाओ का ससार है जो कुछ लोग वहाँ देखकर आते है वही समाज मे फैशन बन जाता है।

हमारे कहने का अभिप्राय तो यही था कि मनुष्य के शरीर के चर्म से मैल बाहर निकलने के अनेक स्थान है। चर्म मे अनेक छिद्र है। यह शरीर की चमडी जाली के समान है। जिस प्रकार जाली मे छेद ही छेद होते है, उसी प्रकार चमडी मे भी छेद ही छेद है। उन्ही छेदो मे से तो हमे पसीना आया करता है। हथेली तक मे पसीना आया करता है। हथेली के पसीने की बात भी सुना दे आपको। एक अत्यन्त लोभी सेठ थे। खर्च करने मे वे कम ही विश्वास रखते थे। एक बार वे कलदार रुपया लेकर मालिन के यहाँ साग-पात खरीदने के लिये गये। मालिन कुछ दूरी पर बैठी थी। माल ले लिया, जब रुपया देने का समय आया तो मुट्ठी खोलकर देखा, रुपया रो रहा है। सेठ बोले "ओ-हो-हो! मालिन! तुम अपना साग-पात अपने पास ही रखो, मुझे इसकी आवश्यकता नही है, मेरा तो रुपया रो रहा है।"

मालिन ने कहा, "अरे सेठ जी ! रुपया भी रोया है कभी आज तक ?"

"तू स्वय देख सकती है, आँसू बहा-बहाकर यह कितना गीला हो गया है, मेरा हाथ भी इसके आँसुओ से भीग गया है। यह रो-रोकर मुझसे कह रहा है कि 'आप तो मुझे इतने प्यार से सुरक्षित स्थान पर रखते थे, आज बाहर निकाल दिया है आपने, अब पता नही मेरी क्या दुर्दशा होगी?' जिस प्रकार ससुराल जाते समय लडकिया रोया करती है, उसी तरह रो रहा हे बेचारा यह। यह तो मेरे से दूर जाना ही नही चाहता। इसने तो मुझे भी रुला दिया हे। मेरे मन मे भी बडी ममता उमड पडी है, इस रुपये पर, "मैं तो इस रुपये को अपने से दूर नही जाने देता।" मालिन को समझाते हुए सेठ ने अपना रुपया अपने पाकेट मे रख लिया।

कहने का आशय है कि जो पसीने के रूप मे शरीर से मैल निकला करता है, वह वही रोमकूप मे ही जम जाता हे। उस जमे पसीने को साफ करने के लिये थोडा पानी काम मे लेने से भी हो जाता है किन्तु उसके लिए बहुत अधिक परिमाण मे पानी का उपयोग करने से हम अधिक निमल बन जायेगे, इस प्रकार की धारणा या नियम सारहीन होते ह। सवथा रहने वाली सफाई तब तक सम्भव नही जब तक शरीर के अदर का मैल निकलना बन्द न हो जाये। जब तक शरीर मे कोई न कोई पदाथ पडता रहेगा तब तक उसका निकलना बन्द नही हो सकता। कहने का आशय है कि कच्चा पानी अधिक गिराना पाप का काम है, पापकम से शरीर-शुद्धि का प्रयत्न विडम्बना मात्र हे। प्राचीन समय मे जब पानी को अत्यन्त गहरे कुओ से निकाला जाता था तो पानी की बडी कदर होती थी। बडी समझ-बूझ से ही पानी का उपयोग किया जाता था। आजकल तो नल ही नल लग गये हे। मनुष्य को जितनी अधिकाधिक सुविधाएँ मिलती जाती ह उतना ही वह विवेकहीन बनता जा रहा है। उसके मन से पाप का भय भी निकलता जा रहा है।

तो हम आपसे यही कह रहे थे जिस घर मे, जिस समाज मे और जिस धर्म मे ज्ञान की चर्चा नही होती, ज्ञान और समझदारी का अभाव होता है वहाँ लोग तरह-तरह के पाप करते ह, तरह-तरह के खोटे विचार मन मे लाते है। उनके लिये तो यही कहा जा सकता हे कि उन बेचारो को ज्ञान नही हे। किन्तु जिन घरो मे छह काय के जीवो का ज्ञान होते हुए भी जमीकद और वनस्पति का अत्यधिक प्रयोग होता है, तो यह निश्चित ही जल मे लाय लगने के समान आश्चर्यजनक बात हे। बिना जमीकद के और वनस्पतियो के परिमित मात्रा मे प्रयोग से भी जीवन का निर्वाह हो सकता है। ज्ञान के सद्भाव मे भी जब अन्धा-धुन्ध वनस्पति और पानी का प्रयोग किया जाता है तो बहुत बडी विवेकहीनता है। वनस्पतिकाय मे अनन्तानन्त जीवो का विवरण हम पहले प्रस्तुत कर चुके है।

शास्त्रो का कथन है कि एक शरीर मे एक जीव वाली वनस्पति को अपनी

खुराक बनाने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से अनन्त भाग न्यून हिंसा का भागी बनता है जो एक शरीर मे अनन्त जीवो वाली वनस्पति को खाता है। दूसरे शब्दो मे अनन्तकाय वनस्पति को खाने वाले व्यक्ति को अनन्त जीवो की हिंसा लगती है। इसके अतिरिक्त, एक शरीर मे एक जीव वाले, बेइन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक जितने भी जीव है, उनकी जीवन-शक्ति उत्तरोत्तर अधिक विकसित होती है इसलिये उनको अपना भोज्य पदार्थ बनाने वाले व्यक्ति को उत्तरोत्तर महान् से महान् हिंसा का भागी बनना पड़ता है। कोई व्यक्ति यदि यह तर्क पेश करे कि "अनन्तजीवो वाली वनस्पति को न खाकर एक ही जीव वाले पचेन्द्रिय को भोजन के रूप मे काम मे लाया जाये तो कैसे रहेगा ?" इसका उत्तर यह है कि एक जीव वाला विशाल शरीर बहुत पुण्यवान् होता है और उसकी पुण्यवानी उन अनन्त सूक्ष्म जीवो से अनन्त गुणा अधिक होती है। इस कारण उस एक की हिंसा अधिकतम लगती है। आप लौकिक जीवन मे ही देख लीजिये, एक ओर तो किसी साधारण व्यक्ति की हत्या हो जाये और दूसरी ओर कोई राजा की हत्या कर दे। राजा मे तो सारे देश की शक्ति निहित होती है, इसलिये उसके मरने से सारा देश अनाथ हो जाता है किन्तु सामान्य व्यक्ति का अभाव किसी को नही खलता जबकि राजा का सबको खलता है। यही कारण है कि पचेन्द्रिय जीव की हत्या मे महान् से महान् पाप शास्त्र ने बताया है। इसी प्रकार अनन्तकायिक वनस्पति को भी अपनी खुराक बनाने से प्रत्येक वनस्पति की अपेक्षा अधिक पाप लगता है। आचार्यो ने इसीलिये मध्यम मार्ग निकाला है। मध्यम मार्ग यही है कि प्रत्येक वनस्पति के प्रयोग मे अधिक से अधिक मर्यादा रखनी चाहिये। मन पर नियन्त्रण रखने से परिमाण के नियम को सरलता से निभाया जा सकता है। किसी भी वस्तु का अधिकतम मात्रा मे उपयोग तो वैसे भी व्यसन माना जाता है। बुद्धिमत्ता यही है कि जीवन मे प्रत्येक पदार्थ का कम से कम उपयोग किया जाये एव पापास्रव से अधिकाधिक बचने का प्रयत्न किया जाये। त्याग ही वास्तविक जीवन है।

जैन-भवन, हेड (नागौर) १८ अगस्त, १९७३

# धर्मध्यान और शाश्वत सुख

बहुत दिनो से हम शाश्वत सुखो को प्राप्त करने के उपाय बताते आ रहे हे। अभी यहाँ धर्म-सम्बन्धी प्रसग चल रहा है। इसके पूर्व आपको ध्यान के चार भेद बताये जा चुके ह। वे थे आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के वास्तविक अर्थो की ओर भी सकेत किया जा चुका है। स्वय पीडित होना, स्वय दु खित अवस्था का अनुभव करना आर्तध्यान होता है। दूसरो को दु खी बनाना, दूसरो को पीडित करने के उपाय करना या पीडा पहुँचाने की भावना मन मे लाना रौद्रध्यान है। इन दोनो—आर्तध्यान और रौद्रध्यान से जीव अनादिकाल से परिचित है। जन्म-जन्मान्तर से जीव इन दोनो प्रकार के विकारो से आक्रान्त है। जिस वस्तु का हमारे पास अभाव है उसकी प्राप्ति का हम चिन्तन करते है और उसके बिना दु ख का अनुभव करते हे परन्तु जो वस्तु हमारे पास मे तो है परन्तु अनिष्टकर है या हमारी इच्छा के प्रतिकूल है उसको हम अलग करना चाहते है। हमारे हितो को, हमारे स्वार्थ को जो हानि पहुँचाता है, उसका हम बुरा सोचते है। बुरा सोचते-सोचते बुराई की इस सीमा तक पहुच जाते हे कि हम ससार से उसका उन्मूलन करने पर ही तुल जाते है। इस प्रकार का विकृत चिन्तन रौद्रध्यान के अन्तर्गत आता है। ये आर्त और रौद्रध्यान अनेक बार हमने किये किन्तु इनसे हमारे साध्य की साधना नही हो पाई। शास्त्रकारो का कथन है कि जिन आर्त और रौद्र ध्यानो के करने से हमारा एक भी उद्देश्य पूरा नही हुआ और किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नही हुई उनके करने से क्या लाभ? स्वय के दु ख के विनाश के लिए हमने आर्तध्यान किया परन्तु हमारा दु ख मिट नही पाया। दूसरो को दु ख पहुँचाने के लिए हमने रौद्रध्यान किया किन्तु हमारे रौद्रध्यानमात्र से उद्दिष्ट व्यक्ति दु खी नही हुआ। बुद्धिमान व्यक्ति को सोचना चाहिये कि जिस क्रिया को करने से कोई लाभ नही, किसी भी प्रकार की इष्ट-सिद्धि नही, उसको करने के लिए व्यर्थ मे मानसिक और शारीरिक शक्ति को क्यो खराब किया जाये। विवेकशील व्यक्ति ऐसा सोचकर आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनो को छोडने का प्रयत्न करते है। यह सोचना कि जो आर्तध्यान

और रौद्रध्यान मनुष्य की प्रकृति बन चुके हैं उनका त्याग कैसे सभव हो सकता है, ठीक नही है। केवल मार्ग-परिवर्तन की आवश्यकता है, मन को दूसरी दिशा की ओर मोडने की आवश्यकता है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान का परिणाम देखने के पश्चात् अब जरा धर्मध्यान का भी प्रयोग करके देखो। पहले से ही यह कल्पना कर लेना कि 'पता नही धर्मध्यान मे सफलता मिलेगी या नही', मन की शिथिलता का सूचक है। किसी कार्य के आरम्भ करने से पूर्व ही मन मे उसकी सफलता के विषय मे सशय, सन्देह और शकाएँ कदापि अच्छी नही होती। इसका कारण है कि सन्देहशील व्यक्ति कभी भी किसी कार्य को मन खोलकर और उत्साह से नही कर सकता। सशय के वातावरण मे मनुष्य का मन किसी काम को करने मे साथ ही नही देता और बिना मन के सफलता कभी किसी के कदमो मे आकर नही झुका करती। आप धर्मध्यान करके तो देखो। प्रयोग से और अनुभूति से आपको स्वय ज्ञात हो जायेगा कि धर्मध्यान मे और धर्मक्रिया मे कितना अन्तर है और धर्मध्यान का क्या महत्त्व है। यह आपको पहले बता ही दिया गया है कि सामायिक, पौषध आदि धर्मक्रियाएँ हैं और धर्मसम्बन्धी चिन्तन करते रहना जिससे मन धर्म मे रमा रहे 'धर्मध्यान' है। यह भी आपको बता दिया गया है कि धर्मक्रिया से धर्मध्यान की पद्धति सरल भी है।

अब आपको बताना यह शेष है कि धर्मध्यान कहना किसे चाहिये। किस प्रकार के विचार हमारे मस्तिष्क मे आने चाहिये जिनसे धर्मध्यान की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहे। इसके लिये धर्मध्यान के चार भेदो का जिक्र हम आपसे कर चुके है। पहला भेद तो धर्मप्रवर्तको की विधि और निषेधात्मक आज्ञा से सम्बन्ध रखता है। धर्म किसलिये किया जाता है इसका समाधान भी उसमे निहित है। धर्म का आचरण सुखी बनने के लिये किया जाता है। अच्छी क्रिया से व्यक्ति सुखी बनता है। हमारी सुख प्राप्ति की अच्छी क्रिया से केवल हम को ही सुख प्राप्त हो, यह धारणा स्वार्थपूर्ण है। हमारे सुख की परिधि केवल हम ही न हो किन्तु उस सुख का प्रसार हमारे पडौसियो मे तथा सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो मे हो तो अच्छी बात है। दूसरो को दुखी बनाकर स्वय सुखी बनना चाहिये या स्वय सुखी बनकर दूसरो को भी सुखी बनाना चाहिये ? इसका उत्तर यदि आपकी आत्मा पवित्र है तो अन्दर से ही मिल जायेगा। यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि दूसरो को दुखी रखने की भावना वाला व्यक्ति स्वय कभी सुखी नही रह सकता। आग दूसरो को जलाती है तो क्या स्वय जहा पैदा होती है, वह स्थान सुरक्षित रह जाता है ? अपने स्थान को पहले जलाकर तब दूसरो को जलाती है। इसीलिये शास्त्र-कार ने आग का नाम रखा है 'आश्रयाश' अर्थात् अपने आश्रय का ही भक्षण

करने वाली। इस अग्नि के उदाहरण से शास्त्रकारो ने यही सिद्ध किया है कि दूसरो को दुखी बनाने वाला व्यक्ति स्वय भी कभी सुखी नही रह सकता।

दूसरा धर्म का भेद हमने बताया था 'अपाय विचय'। अपाय का अर्थ है—दुख। "इस ससार मे जीव को जिन कार्यों से दुख प्राप्त होता है वे कार्य मुझे नही करने चाहिये। जिन कार्यों से मुझे दुख प्राप्त होता है उनसे दूसरो को भी तो दुख प्राप्त होगा। मुझे दुख कब होगा ? जब मेरी अशुभ काम मे प्रवृत्ति होगी। मुझे मन, वचन और काया से अशुभ काम मे प्रवृत्त नही होना है। प्रवृत्त होऊँगा, तो मुझे पाप-कर्मो के बन्धन मे बँधना पडेगा।"

इस प्रकार का चिन्तन मनुष्य को करना चाहिए। जीवन की धुरा चिन्तन पर ही आश्रित है। चिन्तन के द्वारा कर्म बाँधे भी जा सकते हैं और काटे भी जा सकते है। शुभ से पुण्य और अशुभ से पाप। बडा ही सरल मार्ग है कर्मबन्ध और कर्ममुक्ति को समझने का। आवश्यकता है केवल अनादिकाल से सुषुप्त आत्मा को जाग्रत करने की। जब नीद खुल जायेगी, आत्मा जाग जायेगी तो उसे स्वय ससार की और अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो जायेगा। यदि आँखें मुदी रही, नीद से न जग सकी तो जिस चक्कर मे घूम रही थी उसी मे घूमघुमा कर पुन पड जायेगी। काता-पीना सब कपास हो जायेगा।

हाँ, तो मैं आपको बता रहा था कि पुण्य बाँधने का, आत्मा को पवित्र करने का और सुखी बनने का ऐसा सरलतम तरीका भी है जिसके द्वारा जीवन सुखी बन सकता है, वह तरीका है मन मे शुभ विचार रखने का। पुण्य के नौ भेद बताये गये है जिनमे पाँच भेद तो ऐसे है जिनमें अपने घर से कुछ न कुछ निकालना पडता है—दान के रूप मे, जैसे अन्नदान, जलदान, स्थान-दान, बिस्तर-दान, वस्त्र दान—आदि-आदि। इन पाँच भेदो के आगे के जो चार पुण्य बताये गये है, 'मन पुण्णे' अर्थात्—मन से अच्छे विचार करना और सब का भला चाहना। सब के भले मे ही अपना भला होता है। 'सब जीव ससार में सुखी रहे', ऐसी विचारधारा से मनुष्य स्वय भी सुखी रहता है। थोडी देर के लिए मान लो कि ससार के सारे जीव तो सुखी हो गये और हम अपने ही कर्मो के उदय से दुखी बने रहे, उस अवस्था मे भी हमको सबके कल्याण की ही कामना करनी चाहिये। सब प्राणी सुखी होगे तो हमको सतायेगे तो नहीं। यह भी हमारे लिये बहुत बडा लाभ है। सब जीवो की मगलकामना को अभिव्यक्ति देते हुए इसीलिये शास्त्र मे कहा गया है

"सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग् भवेत्।"

ज्ञानी पुरुषो का कथन है, कि 'ससार मे दुख क्यो आता है ? मनुष्य दुखी

क्यो बन जाता है, अचानक ही किसी पर आपत्तियो के पहाड क्यो टूट पडते है ?' इस प्रकार के विचार मनुष्य के मन मे निरन्तर आते रहने चाहिये। ऐसे विचारो के आने से किसी दिन स्वत स्फुरणा होती है कि

"धन बिना निर्धन दु खी, तृष्णावश धनवान"

सुख-दु ख का कारण वस्तु नही हुआ करती। निर्धन व्यक्ति के पास यदि धन के अभाव को दु ख का कारण माना जाये तो धनवान् के पास तो धन का सद्भाव है, वह क्यो दुखी रहता है। इससे स्पष्ट है कि धन नाम की वस्तु दु ख का कारण नही है। इसी प्रकार पुत्र का अभाव यदि दु ख का कारण हो तो जो लोग पुत्रवान ह, वे दु खी क्यो देखे जाते ? प्राय देखा ऐसा ही जाता है कि पुत्रहीन लोगो की अपेक्षा पुत्रो वाले अधिक दु खी हैं। सुपात्र पुत्र होता है तो उसके शारीरिक स्वास्थ्य की चिन्ता सताती रहती ह और कुपात्र पुत्र तो दु ख का कारण होता ही है। मारवाडी कहावत के अनुसार वह तो 'छाती का छोडा उतारता' ही है। साराश यह है कि सुख-दु ख का कारण वस्तु न होकर वास्तव मे हमारा मन ही है। मन यदि प्रत्येक परिस्थिति मे सन्तुष्ट रहने वाला है तो व्यक्ति सुखी रहता है। मन यदि भ्रान्त है, असन्तुष्ट है, तो उसका अवश्यभावी परिणाम दु ख ही होता है। विवेकहीन मन ही वस्तु के अभाव की चिन्ता भी करता है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी करता है और न करने योग्य जो काम है उनको भी वह वस्तु को पाने के लिए कर बैठता है। आज तक आपने अनेक कहानियाँ भी सुनी होगी, अनेक जीवन चरित्र भी पढे होगे और स्वय भी दुनियाँ मे बहुत कुछ देखा होगा। विश्व की सारी वस्तुएँ क्या कभी किसी को मिल पाई है ? मनुष्य को मनुष्य के पद के अनुसार वस्तुएँ मिलती है, देवताओ को उनकी योग्यता के अनुसार वस्तुओ की प्राप्ति होती है। योग्यता के अनुसार ही वस्तु की प्राप्ति अच्छी होती है। योग्यता का अतिक्रमण करके यदि वस्तुओ की प्राप्ति हो जाये तो सभव है कि मनुष्य से न तो उनकी व्यवस्था ही हो पाये और न ही उनकी सुरक्षा ही। मन को तृष्णा से रोककर प्रत्येक परिस्थिति मे सतुलित रखना चाहिये। सतुलित और समझाया हुआ जो मन है, सब के लिये मगलकामना करने वाला जो मन है, उस मन का धनी व्यक्ति अपने घर से बिना कुछ लिये-दिये ही पुण्य का उपाजन कर लेता है। यह भी एक प्रकार का प्रयोग है भविष्य मे सुख-प्राप्ति का।

दूसरा है 'वचन पुण्णे'। वाणी द्वारा भले शब्द बोलना भी पुण्य का उपाजन है। भले शब्दो मे पुण्य के भले शब्द अलग है और धर्मध्यान के भले शब्द अलग हैं। धर्मध्यान के भले शब्द उँचे दर्जे के होते है। इन शब्दो

मे पाप का लवलेश तक नही होता। उदाहरण के लिये किसी को कहना, "अरे! तुमको पानी पीना है न! तो छानकर पीना।" इन शब्दो से सामने वाले व्यक्ति को पानी पीने की सहूलियत हो गई, उसकी प्यास मिट गई, इससे पानी पिलाने का पुण्य उसको मिल गया। परन्तु धर्म-सम्बन्धी भले शब्द इनसे भिन्न होते हैं। धर्म से सम्बन्ध रखने वाले शब्द तो होगे, 'अनछाना पानी मत पीना' इसमें तो निषेधमात्र है। दूसरे शब्दो मे, यहाँ निषेध की आज्ञा है। आखिरकार छानकर भी यदि पानी पीया जायेगा तब भी वह कच्चा तो है ही, वह तो सचित्त है। असख्य जीवो का अस्तित्व उसमे है। तो हम आपसे कह रहे थे कि वचन से भले शब्द बोलना भी पुण्यार्जन का कारण है। पाप को सर्वथा टालते हुए निरवद्य भाषा बोलना धर्मध्यान के अन्तर्गत ही आता है।

इसी प्रकार 'कायपुण्णे' अर्थात् शरीर से यदि हम अच्छी चेष्टाएँ करें और कुचेष्टाओ से बचे रहे तब भी पुण्यार्जन होता है। इसके अतिरिक्त यदि काय-गुप्ति से शरीर को प्रवृत्त कराया जाये तो धर्म भी हो जाता है। जो व्यक्ति ठीक ढग से चेष्टा करता है तो उसके आसपास का वातावरण भी ठीक रहता है। इसके विपरीत यदि बुरी चेष्टाएँ की जायें तो सामने वाला व्यक्ति रुष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये आप 'अगूठा दिखाने' को ही ले लीजिये। अगूठा दिखाने के रूप में यदि अगूठा दिखाया जाये तो देखने वाला चिढ जायेगा कि उसे अगूठा दिखाया जा रहा है। तिलक करने के लिये यदि अगूठा दिखाया जाये तो देखने वाला बडा प्रसन्न हो जाता है। ये दोनो काया की ही तो क्रियाएँ है किन्तु एक क्रिया तो पाप, कलह और क्लेश को जन्म देने वाली है और दूसरी क्रिया शान्ति और पुण्य को पैदा करने वाली है। कायगुप्तिपूर्वक शरीर से व्यवहार इसलिये करना चाहिये कि किसी भी जीव को कष्ट न होने पाये। निरवद्य काया की प्रवृत्ति धर्म मे आ जाती है। ससार मे प्राणी दु खी क्यो होते हें—इस प्रकार के विचार सदा करना चाहिये। यह धमध्यान का दूसरा भेद है।

'विपाक विचय' यह तीसरा भेद है। यह हमारी क्रियाओ के परिणाम का सूचक है। क्रियाएँ दो प्रकार की होती है पाप की क्रिया और पुण्य की क्रिया। पाप की क्रिया का परिणाम दु ख होता है और पुण्य की क्रिया का परिणाम सुख। यह विपाक का साधारण नियम है। विशेष नियम तो साधारण नियम के ऊपर होते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमने पाप क्रिया की जिसका कि फल हमको दु ख के रूप मे मिलना चाहिये था किन्तु कुछ ऐसे भी उपाय हैं जिनके सम्पादन से वह पाप क्रिया भी सुख के परिणाम मे परिवर्तित हो जाया करती है। इसी प्रकार सामान्यरूप से पुण्यक्रिया का परिणाम तो सुख के रूप मे ही मिलना चाहिए किन्तु कतिपय ऐसी पद्धतियाँ भी हैं जिनके कारण

सुख, दु ख के रूप मे बदल जाता है । यह साधारण बात नही है, साधारण बात तो यह है कि पाप क्रिया का परिणाम दु ख होगा और पुण्यक्रिया का परिणाम सुख होगा । परन्तु 'पाप के बदले सुख मिलना और पुण्य के बदले दु ख मिलना' यह विशेष बात है । इस विशेष बात को समझने के लिये मस्तिष्क की स्थिरता की आवश्यकता है । उदाहरण से आपको यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जायेगी । आकडे के पत्ते हैं नीम के पत्ते है—ये कडवे होते है । यह कोई रहस्य की बात नही है, इसे सभी जानते हैं । परन्तु इन कडवे पत्तो को भी विशेष प्रक्रिया से मीठा बनाया जा सकता है । विशेष प्रकार की औषधियो का पुट देने से ये कडवे पत्ते भी मीठे बन जाते हैं । इसी प्रकार करेले और करवीर (कैर) के फल कितने कडवे होते हैं किन्तु उनके मुरब्बे और आचार मीठे भी होते है और खट्टे भी । पुट चीज ही ऐसी है जो न केवल वनस्पतियो मे किन्तु मनुष्यो मे भी परिवर्तन ला देता है । कोई विवेकशील व्यक्ति यदि बेतुका बोल जाये तो लोग उसे कहने लगते है, इसको दूसरो का पुट लग गया है । 'पुट लगने' का यहाँ अर्थ होता है किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी विचार-धारा को बदल दिया है । जब पुट से मनुष्य की विचारधारा बदल सकती है तो पुट के प्रयोग से वनस्पतियो मे परिवर्तन आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । यह विषय तो बहुत विस्तृत है किन्तु सक्षेप मे जो पुण्य पाप मे और पाप पुण्य मे परिवर्तित होते है उनको जैन-शास्त्र मे 'सक्रमणकरण' कहा जाता है । सक्रमण शब्द से ही मिलता-जुलता शब्द है 'सक्रान्ति' । सक्रान्तियाँ बारह होती है । आपने मोटे तौर पर दो ही सक्रान्तियो के नाम सुन रखे है मकर सक्रान्ति और कर्क सक्रान्ति । इन दो सक्रान्तियो मे सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन के रूप मे परिवर्तन होता है । दूसरे शब्दो मे सूर्य एक राशि से बदलकर जब दूसरी राशि मे आता है तो उसको सक्रान्ति कहा जाता है । इसी से मिलता-जुलता अर्थ सक्रमण का है, वह भी एक दशा से बदलकर दूसरी मे आना है । कर्मबन्ध के आठ करण होते है जिनमे से यह (सक्रमण) दूसरा करण है । सक्रमण मे यह विशेषता होती है कि पहले सत्ता मे जो प्रकृति बन्धी हुई है, मान लो वह अशुभ रूप मे बन्धी हुई है और वर्तमान मे जो प्रकृति बँध रही है वह शुभ रूप मे है, उस समय कुछ ऐसे परिणामो की धारा चल जाती है कि वह शुभरूप मे बँधने वाली प्रकृति भी उस अशुभरूप मे बँधी प्रकृति के साथ जाकर अशुभरूप मे बँध जाती है । शुभ का अशुभ मे सक्रमण हो जाता है । इसी प्रकार वर्तमान मे अशुभ-रूप मे बँध रही प्रकृति मे भी विशिष्ट परिणामो की धाराएँ पहले बन्धी हुई शुभ प्रकृति मे जाकर शुभरूप मे परिणत हो जाती है । यह अशुभ का शुभ मे सक्रमण है । हम जानते है कि इतने गूढ विषय को समझ पाना आपके वश

की बात नही है। हम और सरल शैली मे आपको समझाने का प्रयत्न करेंगे। आपने पापकम करके अशुभ कर्म बांध लिया किन्तु पाप करने के पश्चात् आपने पश्चात्ताप भी कर लिया, उस समय पाप का पश्चात्ताप के द्वारा सक्रमण हो गया, ऐसा समझना चाहिये। उस पाप करने वाले व्यक्ति ने पश्चात्ताप द्वारा कर्मों की इस ढग मे निर्जरा कर ली कि उसकी आत्मा तुरन्त शुद्ध हो गई। पाप के परिणामस्वरूप जितना दुख भविष्य मे भोगा जाता, वह पश्चात्ताप के जरिये सब कम हो गया। अशुभ का शुभ में रूपान्तरण हो गया। नीम और आक के कडवे पत्तो का भी आचार लोग कितना स्वादिष्ट बना देते है, इसकी हमे भी अनुभूति है। मुरब्बा तक बनता है उन कडवे पत्तो का। इसी प्रकार आपने धम का काम किया जो वास्तव मे अच्छा प्रशसनीय था और बाद में यदि यह पश्चात्ताप करने लग गये कि 'व्यर्थ मे ही सामायिक लेकर बैठ गये, महाराज साहब ने भी व्याख्यान में बडा लम्बा समय लगा दिया, इससे तो अच्छा था अपने घर पर ही बठते या कुछ काम काज करते' तो समझ लेना चाहिये कि सारे किये-कराये धम के काय पर पानी फिर गया। किसी अतिथि को मालताल खिलाकर अन्त मे यदि यह कह दिया जाये कि, "साहब! आपने कभी ऐसे पदार्थ अपने बाप-दादो के समय में भी नही खाये होगे।" तो खिलाया-पिलाया सभी जहर बन जायेगा। कहने का आशय यह है कि जो व्यक्ति मन मे यह चिन्तन किया करता है कि 'मनुष्य दुखी क्यो हो जाता है' उसके मन मे किसी अवस्था मे यह स्फुरणा स्वय हो जाती है कि अमुक कार्यों का परिणाम दुख होता ह और अमुक कार्यो का परिणाम सुख होता है। यह सारी विचारधारा 'विपाक विचय' के अन्तगत आती है।

धमध्यान का चौथा भेद है 'सस्थान विचय'। सस्थान कहते हैं आकार को। आकार भी किन-किन का? हमारी आत्मा का आकार, इस ससार मे हमारी आत्मा जिस जगह पर परिभ्रमण कर रही है उस जगह का आकार, हमारे शरीर का आकार, यह सब सस्थान विचय के अन्तगत आता है। इसके अतिरिक्त, इस ससार मे परिभ्रमण करने वाले जितने भी प्राणी है उन सब का आकार भिन्न भिन्न क्यो है? सबके आकर एक सरीखे क्यो नही है? एक ही जाति के प्राणियो मे आकृति की पारस्परिक भिन्नता क्यो है? इस प्रकार का विचार 'सस्थान विचय' कहलाता है। ये सब धमध्यान के अन्तगत है।

शाश्वत सुखो की नीव ही समझना चाहिये धमध्यान को। शुद्ध विचारो की भूमि मे बोया गया आचाररूपी बीज, तपश्चरण रूपी जलवायु का ससग प्राप्त करके अकुरित, पल्लवित, पुष्पित एव फलित होता हुआ, आत्मा को शाश्वत सुखो के भण्डार अनन्त एव अक्षय मोक्ष मे ले जाता है।

जैन-भवन, डेह (नागौर) १९ अगस्त, १९७९

# "जयध्वज प्रकाशन समिति के सदस्यो की नामावली"

| वशपरम्परागत सदस्य | निवास | वतन |
|---|---|---|
| १ मत्रश्री सुगन चन्दजी प्रेमचन्दजी श्रीमाल | रायपुर (म० प्र०) | सियाट |
| २ सवश्री लालचन्दजी मरलेचा | मद्रास | सोजत रोड |
| ३ स्वश्री मार्गालालजी चम्पालालजी गोटावत | बेगलौर | सोजत सिटी |
| ४ सवश्री जवरचन्दजी रतनचन्दजी बोहरा | मद्रास | कुचेरा |
| ५ सवश्री मिश्रीमल जी लूणकरण जी नाहर | लखनऊ | कुचेरा |
| ६ सवश्री जवरीमल जी सज्जनराज जी बोहरा | वैगलौर | ब्यावर |
| ७ सर्वश्री नेमीचन्दजी | वैगलौर | ब्यावर |
| प्रेमचन्दजी खीचा | वैगलोर | ब्यावर |
| ८ सवश्री सुगाल चन्द जी सिघवी | मद्रास | सियाट |

आजीवन सदस्य

| | | |
|---|---|---|
| १ श्रीमान् फूलचन्दजी लूणिया | बेगलौर | पीपलिया |
| श्रीमान् भवरलाल जी विनायकिया | मद्रास | करमावास (पट्टा) |
| ३ श्रीमान् रणजीतमल जी मरलेचा | मद्रास | सोजत रोड |
| ४ श्रीमान् पन्नालाल जी सुराणा | मद्रास | कालाउना |
| ५ श्रीमान् लालचन्द जी डागा | मद्रास | रायपुर |
| ६ श्रीमान् भवरलाल जी गोठी | मद्रास | ब्यावर |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७ | श्रीमान् ऋद्धकरणजी वेताला | मद्रास | कुचेरा |
| ८ | श्रीमान् मोहनलालजी चोरडिया | मद्रास | नागोर |
| ९ | श्रीमान अमोलकचन्दजी सिंघवी | मद्रास | सियाट |
| १० | श्रीमान् राजमलजी मरलेचा | मद्रास | सोजत रोड |
| ११ | श्रीमान् कपूरचन्द भाई | मद्रास | सौराष्ट्र |
| १२ | श्रीमान् सम्पतराज जी सिंघवी | रायपुर (म० प्र०) | सियाट |
| १३ | श्रीमान् फतेचन्द जी कटारिया | बेंगलोर | देवली कला |
| १४ | श्रीमान् भंवरलाल जी डूंगरवाल | मद्रास | करमावास (मालिया) |
| १५ | श्रीमान् पारसमल जी साखला | बेंगलोर | साडिया |
| १६ | श्रीमान् मोतीलाल जी मूथा | बेंगलोर | राम |
| १७ | श्रीमान् जुगराज जी बरमेचा | मद्रास | अटवडा |
| १८ | श्रीमान् नथमल जी सिंघवी | मद्रास | सियाट |
| १९ | श्रीमान् केवलचन्द जी बाफणा | मद्रास | आगेवा |
| २० | श्रीमान् रिखबचन्द जी सिंघवी | तिरुवेलोर | सियाट |
| २१ | श्रीमान् मोहनलाल जी कोठारी | विरञ्चिपुरम् | विराटिया |
| २२ | श्रीमान् भानीराम जी सिंघवी | तिरुवेलोर | सियाट |
| २३ | श्रीमान् चान्दमल जी कोठारी | बेंगलोर | रायपुर |
| २४ | श्रीमान् धनराज जी बोहरा | बेंगलोर | ब्यावर |
| २५ | श्रीमान् जगलीमल जी भलगट | भडारा | रीयाँ |
| २६ | श्रीमान् झूमरमल जी भलगट | भडारा | रीयाँ |
| २७ | श्रीमान् हस्तीमल जी वणिगगोता | बेंगलोर | दासपा |
| २८ | श्रीमान् रंगलाल जी राका | पट्टाभिराम | कुशालपुरा |
| २९ | श्रीमान् प्राणजीवन भाई | बम्बई | सौराष्ट्र |
| ३० | श्रीमान् रमिकलाल भाई | बम्बई | सौराष्ट्र |
| ३१ | श्रीमान् शान्तिलाल भाई | बम्बई | सौराष्ट्र |
| ३२ | श्रीमान् रजनीकान्त भाई | बम्बई | सौराष्ट |
| ३३ | श्रीमान् जवाहर लाल जी बोहरा | रत्नागिरि | रीयाँ |
| ३४ | श्रीमान् हीरालाल जी बोहरा | रावर्टसनपेट | ब्यावर |
| ३५ | श्रीमान् जयवन्तराज जी लूणिया | मद्रास | चण्डावल |
| ३६ | श्रीमान् जबरचन्द जी बोकडिया | मद्रास | खांगटा |
| ३७ | श्रीमान् पुखराज जी बोहरा | मद्रास | सत्यपुर |
| ३८ | श्रीमान् गजराज जी मेहता | मद्रास | सत्यपुर |
| ३९ | श्रीमान् मिट्ठालाल जी बोहरा | मद्रास | सत्यपुर |
| ४० | श्रीमान् भीखमचन्द जी गादिया | तिरुवेलोर | सत्यपुर |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४१ | श्रीमान् पारसमलजी बोहरा | तिरुवेलोर | सत्यपुर |
| ४२ | श्रीमान् चम्पालालजी बोहरा | मद्रास | सत्यपुर |
| ४३ | श्रीमान् भैरूलालजी बोहरा | ऊत्कोटा | सत्यपुर |
| ४४ | श्रीमान् जुगराजजी चोपडा | मद्रास | सत्यपुर |
| ४५ | श्रीमान् मोतीलालजी चोपडा | उत्कोटा | सत्यपुर |
| ४६ | श्रीमान् मागीलालजी बोहरा | मद्रास | सत्यपुर |
| ४७ | श्रीमान् घमचन्दजी बोहरा | मद्रास | सत्यपुर |
| ४८ | श्रीमान् माणकचन्दजी मूथा | मद्रास | सत्यपुर |
| ४९ | श्रीमान् भीखमचन्दजी बोहरा | पट्टाभिराम | सत्यपुर |
| ५० | श्रीमान् जबरचन्दजी बोहरा | पट्टाभिराम | सत्यपुर |
| ५१ | श्रीमान् जयवन्तराजजी गादिया | मद्रास | सत्यपुर |
| ५२ | श्रीमान् सैसमलजी सेठिया | बेंगलोर | कटालिया |
| ५३ | श्रीमान् किशनलालजी मकाणा | दौडबालापुर | हाजीवास |
| ५४ | श्रीमान् लूणकरणजी सोनी | भिलाई | |
| ५५ | श्रीमान् भवरलालजी कोठारी | ब्यावर | खागटा |
| ५६ | श्रीमान् लालचन्द्रजी श्रीश्रीमाल | ब्यावर | गिरि |
| ५७ | श्रीमान् मिश्रीमलजी छाजेड | बेंगलोर | बलाडा |
| ५८ | श्रीमान सम्पतराजजी सिघवी | तिरुवेलोर | सियाट |
| ५९ | श्रीमान् शान्तिलालजी साखला | तिरुवेलोर | साडिया |
| ६० | श्रीमान् हस्तीमलजी गादिया | मद्रास | साडिया |
| ६१ | श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरडिया | मद्रास | नोखा |
| ६२ | श्रीमान् इन्द्रचन्दजी सिघवी | मद्रास | सियाट |
| ६३ | श्रीमान् पारसमलजी बागचार | मद्रास | कुचेरा |
| ६४ | श्रीमान् जवाहरलालजी चोपडा | अमरावती | पीपाड |
| ६५ | श्रीमान् शान्तिलाजी गाधी | बम्बई | पीपाड |
| ६६ | श्रीमान् देवीचन्दजी सिघवी | मद्रास | सियाट |
| ६७ | श्रीमान् रतनलालजी बोहरा | केलशी | पीपाड |
| ६८ | श्रीमान् पारसमलजी बोकडिया | मद्रास | खागटा |
| ६९ | श्रीमान् पूसालालजी कोठारी | बीकानेर | खागटा |
| ७० | श्रीमान् अमरचन्दजी बोकडिया | मद्रास | खागटा |
| ७१ | श्रीमान् दीपचन्दजी बोकडिया | मद्रास | खागटा |
| ७२ | श्रीमान् केवलचन्दजी कोठारी | मद्रास | खागटा |
| ७३ | श्रीमान् चैनमलजी सुराणा | मद्रास | कुचेरा |
| ७४ | श्रीमान् जुगराजजी कोठारी | मद्रास | खजवाणा |

□□□